TEXT CROSS WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182355

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. H 80.9 S53A Accession No. H 7043

Author शर्मा, रामविलास

Title आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना.

This book should be returned on or before the date last marked below.

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
और
हिन्दी-आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
और
हिन्दी आलोचना

रामविलास शर्मा

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

मूल्य रु 225.00

© डॉ रामविलास शर्मा

पहला संस्करण : 1955
आवृत्ति 2000

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली-110 002

मुद्रक . त्रिवेणी ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

आवरण : इमरोज

ACHARYA RAMCHANDRA SHUKLA
AUR HINDI ALOCHANA
by Dr Ram Bilas Sharma

ISBN : 81-7178-959-5

शुक्लजी के योग्य (?) शिष्य

डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन'

को

विषय-सूची

चौथे संस्करण की भूमिका	९
तीसरे संस्करण की भूमिका	१२
दूसरे संस्करण की भूमिका	१६
पहले संस्करण की भूमिका	२७
साहित्य और लोक-जीवन	३०
सन्त-साहित्य में योगियों की भूमिका	४८
जायसी का प्रेममार्ग	६३
भक्ति का विकास और सूरदास	७८
गोस्वामी तुलसीदास	९५
दरबारी काव्य-परम्परा	११३
हिन्दी-गद्य का विकास और भारतेन्दुकाल	१३३
नयी हिन्दी कविता और छायावाद	१५२
इतिहास, जातीयता और साहित्य के रूप	१६९
निबन्ध-रचना, शैली और व्यक्तित्व	१९१
शुक्लजी का पुनर्मूल्याकन और वामपन्थी अवसरवाद	२१०
परिशिष्ट	३०६

चौथे संस्करण की भूमिका

इस संस्करण में एक नया अध्याय है—'शुक्लजी का पुनर्मूल्यांकन और वामपंथी अवसरवाद'। वामपंथी अवसरवाद की भूमि से शुक्लजी की नुक्ताचीनी कोई नयी चीज़ नहीं है। इस नुक्ताचीनी की मिसालें पुस्तक के पहले अध्याय में हैं। शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को ब्राह्मणवादी दृष्टि से देखा है, यह पुरानी बात अनेक बार दोहरायी गयी है। नयी बात अब यह कही गयी है कि शुक्लजी राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के विरोधी थे, सामन्तवाद के समर्थक थे, कबीर से लेकर बोल्शेविक क्रान्ति तक हर प्रगतिशील सामाजिक सांस्कृतिक आन्दोलन के विरोधी थे। अपनी गलत राजनीतिक समझ के अनुरूप उन्होंने साहित्य का विश्लेषण भी गलत किया। इस पुनर्मूल्याकन में शुक्लजी के द्विज समर्थक, शूद्र विरोधी होने की बात समेट ली गयी है पर आनुषंगिक रूप से; मुख्य रूप में आलोचना उनके राजनीतिक दृष्टिकोण को लेकर की गयी है।

समकालीन राजनीति में वामपंथी अवसरवाद की कुछ विशेषताएँ शुक्लजी के पुनर्मूल्यांकन में दिखायी देती हैं। पहली विशेषता है अंग्रेजी राज की भूमिका को लेकर। इस राज से पहले भारत सामंती अन्धकार में डूबा हुआ था, उस अन्धकार से भारत को उबारा अंग्रेजी शिक्षा ने। अंग्रेजी राज के बिना अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हो नहीं सकता था; इसलिए अपने उद्धार के लिए भारत का पराधीन होना आवश्यक था। दूसरी विशेषता है सामाजिक क्रान्ति को लेकर। साम्राज्यवाद से भारतीय जनता का अन्तर्विरोध गौण है, उसका मुख्य अन्तर्विरोध है अपने पूँजीवाद और सामंतवाद से। यह अन्तर्विरोध सर्वहारा क्रान्ति के बिना दूर नहीं हो सकता। ये दोनों विशेषताएँ त्रोत्स्की और एम. एन. राय के अवसरवाद में मौजूद थी। फ़र्क यह है कि उनकी सर्वहारा क्रान्ति शहर के मज़दूर करते हैं, अब यह क्रान्ति देहात के खेतमज़दूर और निर्धन किसान करते हैं। वर्ग विश्लेषण में नवीनता यह है कि नीची जातियाँ शोषित हैं, ऊँची जातियाँ शोषक हैं। वर्गसंघर्ष का अर्थ हुआ ऊँची जातिवालों से नीची जातिवालों का संघर्ष। मुसलमान इस वर्गसंघर्ष के

आसपास कहीं दिखायी नही देते। इस दृष्टिकोण मे स्वाधीनता आन्दोलन का जो मूल्यांकन किया जायेगा, वह भ्रामक होगा, उसके अनुरूप साहित्य का जो मूल्यांकन किया जायेगा, वह भी भ्रामक होगा। स्वभावत: शुक्लजी के इस पुनर्मूल्यांकन का विवेचन करते हुए यहाँ स्वाधीनता आन्दोलन से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का विवेचन भी किया गया है।

भारत मे साम्राज्यवाद का सामाजिक आधार था सामंतवाद, किन्तु इस आधार का ऊपरवाला हिस्सा जहाँ अंग्रेजों का सहायक था, वहाँ नीचेवाला हिस्सा तबाह हो रहा था। वामपंथी अवसरवाद के लिए तबाह होते हुए सामंतवाद और फलने-फूलनेवाले सामतवाद मे कोई अन्तर नही है। चीन की जनवादी क्रान्ति मे माओ जे दुग ने जापान-विरोधी जमींदारों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की सही नीति पर अमल किया था। वामपंथी अवसरवाद भारत के पुराने सामंतवाद को उतना ही उत्पीड़क मानता है जितना अंग्रेजी राज को और उसके अन्तर्गत नये सामंतवाद को। इस तरह वह अंग्रेजी राज के नरसंहारक रूप पर पर्दा डालता है। अंग्रेजी राज में नये महाजनी शोषण के बारे मे वह चुपचाप रहता है। हिन्दी के अनेक लेखको की गहरी सहानुभूति चन्द्रशेखर आजाद जैसे क्रान्तिकारियो के प्रति थी। इन लेखकों मे शुक्लजी भी थे। वामपंथी अवसरवाद इस सहानुभूति के महत्त्व और परिणामों को नज़रंदाज करता है। स्वाधीनता आन्दोलन मे वह लोकमान्य तिलक की भूमिका खास तौर से विकृत रूप में पेश करता है। लेनिन की राय मे महात्मा गांधी क्रान्तिकारी थे, यह सिद्ध करने के लिए वह ऐम. ऐन. राय का हवाला देता है पर लेनिन ने तिलक का नाम लेकर जो कुछ लिखा, उसके बारे मे चुप रहता है।

ऊपर से वामपंथी अवसरवाद बार-बार सामंत-विरोध की बात करता है, भीतर से वह सामंतवाद से इतना प्रभावित है कि उसे स्वाधीनता आन्दोलन का नेता मान लेता है। उसकी राय मे मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे लोग सामंत वर्ग का ही एक हिस्सा थे। मध्यवर्ग के बारे में उसकी धारणाएँ काफी जल्दी-जल्दी बदलती है; यह वर्ग एक जगह सामत वर्ग का प्रतिनिधि है तो दूसरी जगह पूंजीपति वर्ग का। वामपंथी अवसरवाद देशी पूंजीवाद की सीमित प्रगतिशील भूमिका की बात कहता है, पर नयी शिक्षा के प्रसार के लिए सारा श्रेय अंग्रेजी राज को देता है। वह घोषित भी कर देता है कि देशी पूंजीवाद उतना ही रूढिवादी है जितना शेष भारतीय समाज। वह शुक्लजी के मुकाबले प्रेमचन्द को खड़ा करता है, शुक्लजी के अन्तर्विरोधों को अतिरंजित ढंग से पेश करता है, उनसे मिलते-जुलते प्रेमचन्द के अन्तर्विरोधों के बारे में चुप रहता है। वह समकालीन किसान-आन्दोलनों से प्रेमचन्द के उपन्यासों का सम्बन्ध गलत ढंग से जोड़ता है; यही नही, वह उन आन्दोलनों का विवरण भी गलत ढंग से पेश करता है। वामपंथी अवसरवाद ने जब शुक्लजी को अपने आक्रमण का विशेष लक्ष्य न बनाया था, तब उस आक्रमण की लपेट में सारा भारतीय साहित्य आ गया था। पचास साल पहले का वह

इतिहास शिक्षाप्रद है। अपरिवर्तित ग्राम समाजों के देश भारत मे अंग्रेजों ने आकर पहली बार सामाजिक क्रान्ति की—इस धारणा के आधार पर नये-पुराने भारतीय साहित्य का जो मूल्यांकन होगा, वह उसे अस्वीकारने के अलावा और कुछ कर नही सकता। शुक्लजी का अवसरवादी पुनर्मूल्यांकन उसी पुरातन निषेधमूलक दृष्टिकोण की उपज है।

'शुक्लजी का पुनर्मूल्यांकन और वामपन्थी अवसरवाद'— यह अध्याय ग्यारह अनुभागों मे विभाजित है। 'साम्राज्यवाद और सामंतवाद' से आरम्भ करके 'शुक्लजी और चन्द्रशेखर आज़ाद', 'प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल' की मंज़िलें पार करते हुए 'स्वाधीनता आन्दोलन और सर्वहारा क्रान्तिवाद' के विवेचन मे समाप्त होता है। हिन्दी के किसी अन्य आलोचक को लेकर इतना वाद-विवाद नही हुआ जितना शुक्लजी को लेकर हुआ है। उनके निधन को पैंतालीस वर्ष हुए पर उनके विरोध और समर्थन में हम बातें इस तरह करते हैं, मानो वह हमारे समकालीन हों। यह उनके साहित्य के ऐतिहासिक महत्त्व का प्रमाण है। शुक्लजी से संबंधित वाद-विवाद में विद्वान् इस पुस्तक की चर्चा करते रहे है, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। 'आचार्य शुक्ल और ब्रजभाषा की परम्परा' निबंध मेरे परंपरा का मूल्यांकन संकलन में आ गया है; अतः इस संस्करण मे वह नही दिया गया।

दिल्ली,
२५ जनवरी, १९८७

रामविलास शर्मा

तीसरे संस्करण की भूमिका

मेरी अधिकांश आलोचना-पुस्तकों की तरह 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' का सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य के अन्तर्विरोधों से सामान्यतः और प्रगतिशील साहित्य के अन्तर्विरोधों से विशेषतः है। शुक्लजी का आलोचना कार्य उन लोगों के रास्ते में बहुत बड़ी रुकावट था जो पूंजीवादी विकास की नवीन परिस्थितियों में अपने सिद्धान्तों को ऐसा जामा पहनाते थे जिससे उन परिस्थितियों से टकराने की नौबत न आये, उनके अनुकूल बने रहने में सुविधा हो। इन सिद्धान्तों के प्रकाश में वे समकालीन साहित्य की ही ऐसी व्याख्या न करते थे जो उच्च वर्गों के राजनीतिक-सांस्कृतिक हितों के अनुकूल थी, वरन् पुराने साहित्य का विवेचन भी इस ढंग से करते थे कि समकालीन प्रगति-विरोधी प्रवृत्तियाँ ही अधिक शक्तिशाली बनें।

इनके पास एक रस-सिद्धान्त था जिसके आधार पर ये साहित्य को सामाजिक विकास से अलग करके देखते थे। शुक्लजी ने इस सिद्धान्त की जो नई व्याख्या की थी, उसे देखते हुए साहित्य को सामाजिक विकास से अलग कर लेना सम्भव नहीं था। इस सिद्धान्त की व्याख्या के साथ दर्शन और मनोविज्ञान की विशेष पद्धतियाँ जुड़ी हुई हैं। शुक्लजी की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना को एक ठोस दार्शनिक आधार दिया। यदि वर्तमान हिन्दी आलोचना पर नजर डालें तो ज्ञात होगा कि अध्यात्मवाद या परोक्षवादी दार्शनिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष प्रायः ठण्डा पड़ गया है। शुक्लजी के समय में ही पूंजीवादी-सामंती राजनीतिज्ञों और उनके सांस्कृतिक प्रतिनिधियों ने अध्यात्मवाद का धुआँधार प्रचार किया था। उस प्रचार के विरोध में शुक्लजी प्रायः अकेले थे। आज का बुद्धिजीवी सीधे अध्यात्मवाद की वकालत नहीं करता, वह आत्मानुभूति की चर्चा के माध्यम से परोक्ष सत्तावाद को साहित्य में प्रतिष्ठित करता है। स्वभावतः उसे यह नितान्त असह्य है कि कोई आलोचना-सिद्धान्तों को भौतिकवादी दर्शन से सम्बद्ध करे; फिर आचार्य रामचन्द्र के आगे पण्डित, पीछे शुक्ल, वह तुलसीदास

के प्रशंसक, भौतिकवादी विचारधारा से उनका क्या सम्बन्ध हो सकता है?

मनोविज्ञान के क्षेत्र में भाववादी (आइडियलिस्ट) और भौतिकवादी विचारधाराएँ कैसे टकराती हैं, संघर्ष की उस प्रक्रिया से शुक्लजी पर राय देनेवाले ज्यादातर अपरिचित हैं। उन्होंने फ्रायड का नाम सुना है। शुक्लजी ने कहीं कामचेतना को जीवन की मूल प्रेरक शक्ति माना नहीं है, इसलिए उनके समीक्षा-सिद्धान्तों का मनोवैज्ञानिक आधार वैज्ञानिक हो कैसे सकता है?

इस समय विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में आचार्यों का समर्थ दल है जो शुक्लजी के चिन्तन की मौलिक विशेषताओं से छात्रों को अपरिचित रखता है, 'विश्व प्रपंच' की भूमिका की हवा भी उन्हें लगने नहीं देता। इस समय समाजवादी लेखकों में एक दल उनका है जो संकीर्णता-विरोध के नाम पर उक्त आचार्यों की हाँ-में-हाँ मिलाते हैं, जो विचारधारा के संघर्ष में तटस्थ हैं या वस्तुवाद के विरुद्ध भाववाद का समर्थन करते हैं। दूसरा दल उनका है जो संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष के नाम पर हिन्दी-साहित्य की समस्त प्रगतिशील परम्परा का तिरस्कार करते है, जो मार्क्सवाद के मौलिक मानवतावादी रूप को पहचानने में असमर्थ हैं। तीसरा दल उनका है जो मार्क्सवाद की जडता के विरोध के नाम पर फ्रांस, ब्रिटेन या अमरीका की उन साहित्यिक प्रवृत्तियों का अनुकरण करते हैं जो उन देशो के लिए भी ह्रास और पतन की सूचक है; इनके विरोध में वहाँ जो साहित्यिक रुझान है, उनसे ये अपना दामन बचाए हुए चलते हैं। इन सबसे भिन्न वे थोड़े से लेखक है जो देश की वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट होकर पूंजीवाद के समर्थक नहीं बन बैठते, जो पूंजीवाद का विरोध करने के लिए साम्राज्यवाद की दलाली करनेवाले सामती प्रतिक्रियावादी गुटो से गठबन्धन नहीं करते, जिनके लिए हिन्दी-साहित्य की प्रगतिशील परम्परा महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि वे स्वयं इस परम्परा की एक कडी है और इस परम्परा से कुछ सीखकर साहित्य रचने का विचार करते है। यह पुस्तक ऐसे ही लेखको और उनके पाठकों के लिए है। मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि शुक्लजी की विरासत के लिए संघर्ष करनेवाले अनेक लेखक और साधारण हिन्दी-प्रेमी पाठक है। ये लोग हिन्दी की जीवन्त शक्ति है; पूंजीवाद के अर्धमृत ससार का जो कोलाहल सुनाई देता है, वह श्मशान का कोलाहल है। हमारे सामाजिक-सास्कृतिक जीवन मे जहा ऊर्जा की नई तरंगें उठ रही हैं, वहाँ से वह कोलाहल-भूमि काफी फासले पर है।

इस पुस्तक मे जो अनेक विद्वानो की आलोचना की गई है, उसका कारण उपर्युक्त वैचारिक संघर्ष है। यह आलोचना सन् '५५ मे आवश्यक थी, सन् '७३ में भी आवश्यक है। सन् '५५ के बाद सन् '७३ तक रोमांटिक कविता का विरोध बहुत बढ़ गया है। यह विरोध छायावाद की प्रगतिशील देन को अमान्य ठहराता है किन्तु आत्मानुभूति का झंडा उठाने में छायावादियो से पाँच सौ कदम आगे है। अधिकांश नई कविता के रचयिता लाक्षणिक शैली अपनाने मे छायावादियों को मात करते हैं; तुर्रा यह कि ये सब मोहमुक्त, रूमानी भावुकता का विरोध करने-

वाले कवि है। यथार्थवाद-विरोधी प्रवृत्तियाँ स्वभावतः छायावाद की उन ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का नवीनीकरण है जिन्हे स्वयं छायावादी कवियो ने किसी समय त्याग दिया था।

मजे की बात है कि छायावाद का विरोध करनेवाले होनहार कवि शुक्लजी की मिसाल देगे—कहेंगे, वह अपनी रूढ़िवादी दृष्टि के कारण छायावादी कवियों के साथ न्याय नही कर पाये! यानी शुक्लजी छायावाद का विरोध करें तो अपराध है, ये उसका विरोध करें तो वह साहित्य की उपलब्धि है! कभी-कभी इस प्रसंग में मुझ पर कृपा करते हुए कहते हैं: "जैसे शुक्लजी ने छायावाद का विरोध किया पर छायावाद विजयी हुआ, वैसे ही तुम नई कविता का विरोध करते हो, पर नई कविता विजयी होगी।

विरोध विरोध मे फर्क होता है। शुक्लजी ने छायावादी काव्य की परोक्षवादी प्रकृति और अतिलाक्षणिक शैली का विरोध किया; नई कविता के मोहमुक्त कवि छायावादी काव्य के प्रगतिशील पक्ष का विरोध करते है, उसकी परोक्षवादी प्रवृत्ति और अतिलाक्षणिक शैली को अपनाते हैं। छायावाद का विरोध दोनों ने किया, दोनों मे अन्तर है।

रूढ अर्थ में जिसे नई कविता कहते हैं, उसके लेखक उस तमाम नई कविता का विरोध करते हैं जो छायावादी आत्मानुभूतिवाद और अतिलाक्षणिकता से मुक्त है, जो छायावादी युग के बाद हिन्दी-काव्य का नया प्रगतिशील विकास है। रूढ़ अर्थवाली 'नयी कविता' के समर्थको की विशेषता यह है कि प्रगतिशील कविता, प्रयोगवादी कविता, अस्तित्ववादी कविता, अराजकतावादी, जीवनमूल्य-विरोधी कविता—ये सभी उनके लिए नई कविता है। वे आधुनिक हिन्दी कविता के अन्तर्विरोधो पर पर्दा डालते हैं, विशेष रूप से मुक्तिबोध के मन में मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद को लेकर जो सघर्ष था, उस पर पर्दा डालते है। यह कार्य आवश्यक इसलिए होता है कि नई कविता की आड़ में वे प्रगतिशील और प्रगतिविरोधी प्रवृत्तियो को उलझा दें और नयी कविता के प्रतिमान यो स्थिर करें कि उनमे मूलतः प्रगतिविरोधी प्रवृत्तियो का समर्थन हो, प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ एक तरफ पडी रह जाये या प्रच्छन्न रूप से उनका विरोध हो। ऐसे लोग छायावाद की प्रगतिशील परम्परा को अस्वीकारते हैं, शुक्लजी की महत्त्वपूर्ण देन को भी। आधुनिक हिन्दी कविता के विवेचन में मार्क्सवाद के मुकाबले अस्तित्ववाद का झडा लेकर चलनेवाले आलोचक मुझे शुक्लजी का रूढ़िवादी अनुवर्ती कहते है तो इसमे आश्चर्य की बात नही।

विचारधारा के क्षेत्र मे विरोधी विचारों की टक्कर हो तो इससे समाज और साहित्य को लाभ होगा। इस समय स्थिति यह है कि वैचारिक संघर्ष या तो ठण्डा है या विचार यों उलझाये जाते है कि संघर्ष धीमा पड़ जाये, लोग इधर-उधर की बातो मे उलझ जायें, मूल सघर्ष उनकी आँखो से ओझल हो जाये। इस उलझाव को दूर करने मे, सम्भव है, इस पुस्तक से थोड़ी-बहुत सहायता मिले।

शुक्लजी को रूढ़िवादी कहनेवालों में अब कुछ ऐसे लोग भी सामने आ रहे है जो रीतिवादी काव्य और रीतिवादी शास्त्र के खुले समर्थक है। दरबारी काव्य की रूढ़ियों के समर्थक शुक्लजी को रूढ़िवादी न कहेंगे तो और कौन कहेगा ?

हिन्दी-साहित्य मे विचारधारात्मक सघर्ष समाप्त नही हो गया। आज मन्द है, कल और तीव्र होगा। यह संघर्ष और तीव्र हो—इस दिशा मे प्रयासरूप यह पुस्तक है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास-सन्दर्भ मे शुक्लजी के आलोचना-कार्य का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है, यह विश्वास मुझे सन् '५५ मे भी था; सन् '७३ में वह विश्वास और भी दृढ़ हो गया है।

मेरे विचारों से सहमत और असहमत अनेक लेखकों ने अनेक प्रसगो मे मुझे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द, निराला और रामचन्द्र शुक्ल की प्रगतिशील परम्परा के व्याख्याकार के रूप में याद किया है। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हू। अपने आलोचना-कार्य की इस स्वीकृति स मुझे सन्तोष है। किन्तु यह गौण बात है। मुख्य बात यह है कि इन बन्धुओं की रचनाओं में वह परम्परा कितनी विकसित और परिवर्धित हुई है। यहा स्थिति बहुत सन्तोषजनक नही है। पर लेखको की संख्या न देखें, उनके कृतित्व पर ध्यान दें तो विश्वास होगा कि पिछले बीस वर्षों में जो कुछ महत्त्वपूर्ण लिखा गया है, वह इसी प्रगतिशील परम्परा से सम्बद्ध है, उसका विकास है। परम्परा के विकास का अर्थ शुक्लजी की तरह आलोचना लिखना या प्रेमचन्द की तरह कहानिया लिखना नही है (दरअसल उनकी तरह तो कोई लिख नही सकता, उनकी नकल करना परम्परा का विकास करना नही है)। व्यापारीकरण के पतझर में बहुत-से पीले पत्ते हरी दूब को ढक लेते है; फिर हवा उन्हें उड़ा ले जाती है और दूब, उसमे खिले हुए फूल, बाहर निकल आते है। हर चीज की आलोचना करना आवश्यक नही होता। बहुत-से काम इतिहास की हवा कर देती है। फिर भी इतिहास के भरोसे बैठे रहना ठीक नही; हवा के रुख बदलने की राह देखना मनुष्य के लिए उचित नही। इसलिए 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' का यह नया सस्करण आपके सामने है। यह पुस्तक डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन' को समर्पित है। पहले दो सस्करणो मे 'योग्य शिष्य' के बीच में प्रश्नवाचक चिह्न छूट गया था। उसे मैने स्थापित कर दिया है। दूसरे संस्करण में छापे की अशुद्धियाँ बहुत थी; उन्हें भरसक ठीक कर दिया है। दो-चार जगह छोटे-मोटे परिवर्तन अरो किये हैं। पुस्तक के अन्त मे दो परिशिष्ट जोड़ दिये हैं जिनसे शुक्लजी के दृष्टिकोण और उनकी विचारधारा के विकास को समझने मे सहायता मिलेगी।

आगरा,
१२-३-७३

—रामविलास शर्मा

दूसरे संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक की एकाध आलोचना में, जो मेरे देखने में आयी है, इस बात पर आपत्ति की गयी है कि मैंने शुक्लजी को भौतिकवादी कहा है। शुक्लजी और भौतिकवाद के सम्बन्ध में जो कुछ इस पुस्तक में लिखा है, उसे आप पढ़ ही सकते है; ऊपर जिस तरह की आलोचनाओं का जिक्र है उनके पढ़नेवाले भी उसे देख सकते है। यहाँ मैं 'विश्वप्रपंच' की भूमिका की चर्चा करना चाहता हूँ जिससे शुक्लजी के दार्शनिक दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलेगी। 'विश्वप्रपंच' जर्मन वैज्ञानिक हैकल की Riddle of the Universe का अनुवाद है। इसके आरम्भ में उन्होंने १५५ पृष्ठों की लम्बी भूमिका दी है जिसके बारे में उन्होंने लिखा है : "अब तक जो कुछ लिखा गया उससे शिक्षित जगत् के ज्ञान की वर्तमान स्थिति का कुछ आभास मिला होगा।" यह लम्बी भूमिका मानवज्ञान की वर्तमान स्थिति का आभास देने के लिए ही लिखी गयी है। अनुवादित अंश १५२ पृष्ठों का है जिसमें शुक्लजी की लिखी गयी अनेक महत्त्वपूर्ण पाद-टिप्पणियाँ हैं। इसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने संवत् १९७७ में प्रकाशित किया था। अन्य बातों के अलावा इस भूमिका में शुक्लजी की विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली भी अध्ययन करने योग्य है।

शुक्लजी ने इस पुस्तक का अनुवाद क्यों किया? उसकी इतनी लम्बी भूमिका लिखने की क्या आवश्यकता थी? शुक्लजी हैकल की पुस्तक का परिचय इन शब्दों में देते है : "यह अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धान्त ग्रन्थ है। इसमें नाना विज्ञानों से प्राप्त उन सब तथ्यों का संग्रह है जिन्हें भूतवादी अपने पक्ष के प्रमाण में उपस्थित करते है। जिस समय यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, योरप में इसकी धूम-सी मच गयी।... इस पुस्तक ने सबसे अधिक खलबली पादरियों के बीच डाली, जिनकी गालियों से भरी हुई सैकड़ों पुस्तकें इसके प्रतिवाद में निकली।"

जिस पुस्तक को पादरियों ने गालियाँ दी, उसे शुक्लजी ने हिन्दी में अनुवाद-योग्य समझा। गाली देने का कारण यह था कि हैकल भौतिकवादी था। उसने

विकासवाद का प्रतिपादन और समर्थन किया था। इससे धार्मिक अन्धविश्वासों को धक्का लगा था। शुक्लजी ने पादरियों के धर्म का खण्डन करनेवाले हैकल को 'जगद्विख्यात प्राणितत्त्ववेत्ता' कहा है। उन्होंने यह आवश्यक समझा कि 'अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धान्त ग्रन्थ' हिन्दी पाठकों के सामने रखें। उन्होने यह कार्य सन् १९२० में किया था जब भौतिकवाद और आधुनिक विज्ञान पर लिखने और विचार करनेवाले लोग हिन्दी ही नही, अन्य भारतीय भाषाओं में भी बहुत कम थे। और उन्होंने अनुवाद ही नहीं किया, भूमिका में स्वयं ज्ञान की वर्तमान स्थिति का विवेचन भी किया। भूमिका लिखने का कारण बतलाते हुए उन्होंने विनम्रता से लिखा है : "पुस्तक में आधुनिक दर्शन और विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली जिन-जिन बातों का उल्लेख है उन सबकी थोड़ी-बहुत चर्चा भूमिका में इसलिए कर दी गई है जिससे अभिप्राय समझने मे सुभीता हो।"

उनकी भूमिका पुस्तक का अभिप्राय समझने ही में सहायक नहीं होती। उन्होंने हैकल के बाद की वैज्ञानिक प्रगति का उल्लेख करके मूल विवेचन को अपने युग के पाठक के लिए पूर्ण बनाया है। भूमिका के प्रथम भाग में आधुनिक भौतिकशास्त्र (Physics) के कतिपय तत्त्वों का परिचय है। उसके बाद जीवशास्त्र (Biology) और डारविन के विकासवाद का विस्तृत विवेचन है। अन्तिम अंश में भौतिकवाद और भाववाद (या अध्यात्मवाद) के पक्षों के विभिन्न तर्कों का उल्लेख है। इसके साथ रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि अन्य विज्ञानों का प्रसंगानुसार जिक्र आया है। संसार के प्रति हमारा दार्शनिक दृष्टिकोण क्या हो—इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हिन्दी में पहली बार इतने विस्तार से विज्ञान का अध्ययन किया गया है। यहाँ पहली बार (सम्भवतः अब तक के लिए अन्तिम बार भी !) प्राचीन दर्शनों और शास्त्रों के विज्ञान-सम्मत तत्त्वों का उल्लेख करते हुए उनकी सीमाएँ बतलाई गयी हैं। भारतीय समाज के विकास का अध्ययन करने के लिए महाभारत के महत्त्व की ओर संकेत किया गया है और उससे अध्ययन-पद्धति के लिए कुछ बहुत ही वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाले गये हैं।

शुक्लजी ने उन्नीसवी सदी मे विज्ञान की प्रगति के साथ जगत् के सम्बन्ध मे लोगों की पुरानी भावनाएँ बदलने की बात कही है। "जहाँ पहले लोग छोटी-से-छोटी बात के कारण को न पाकर ईश्वर की कृति मान सन्तोष कर लेते थे वहाँ चारों ओर नाना विज्ञानों के द्वारा कार्य-कारण की ऐसी विस्तृत शृंखला उपस्थित कर दी गई कि किसी को बीच ही में ठिठकने की आवश्यकता न रह गई। ज्ञान-दृष्टि को बहुत दूर तक बढ़ाने के लिए मार्ग खुल गया।"

धार्मिक विश्वासों के अनुसार लोग समझते थे कि जीवयोनियाँ ईश्वर की रची हुई है और सदा से ऐसी ही हैं। डारविन के "विकासवाद से बड़ी खलबली मची। इसकी बात जन-साधारण के विश्वास और धर्म पुस्तकों की पौराणिक सृष्टि के विरुद्ध थी। हमारे यहाँ भी पुराणों मे योनियाँ स्थिर कही गई हैं और उनकी संख्या भी चौरासी लाख बता दी गई है। गरुड़पुराण मे तो प्रत्येक वर्ग की योनियों की

गिनती तक है। डारविन ने यह अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया कि एक जाति के जीवों से ही क्रमशः दूसरी जाति के जीवों की उत्पत्ति हुई है।"

पौराणिक अन्धविश्वास वहाँ भी थे, यहाँ भी थे और हैं। डारविन ने सिद्ध कर दिया कि जीवयोनियाँ एक लम्बे विकास-क्रम का परिणाम हैं, ईश्वर की रचना नहीं हैं। अन्यत्र शुक्लजी ने लिखा है: "विकास सिद्धान्त के पहले लोगों का विश्वास था कि इस समय पृथ्वी पर जितने प्रकार के जीव हैं सब-के-सब सृष्टि के आदि में एक साथ ही उत्पन्न किये गये। डारविन ने यह दिखाकर कि एक ही प्रकार के आदिम क्षुद्र जीवों से क्रमशः नाना प्रकार के जीवों का विधान होता आया है, स्थिर-योनि सिद्धान्त का पूर्ण रूप से खण्डन कर दिया।"

शुक्लजी ने तटस्थ होकर डारविन का मत उद्धृत नहीं कर दिया। वे उस पर अपनी सम्मति भी देते जाते हैं। डारविन ने "अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया" कि प्राणियों की जातियाँ विकास का परिणाम हैं, उसने स्थिर-योनि सिद्धान्त का 'पूर्णरूप से खण्डन' कर दिया। पौराणिक सृष्टि-कथाओं के बारे में उन्होंने फिर लिखा है: "नाना मतों और सम्प्रदायों की पौराणिक सृष्टि-कथाओं का इस सिद्धान्त से सर्वथा विरोध है। वे इस विकासवाद के अनुसार असंगत ठहरती है; क्योंकि वे सम्पूर्ण चराचर सृष्टि को एक ही समय में ईश्वर द्वारा उसी प्रकार रचित बतलाती हैं जिस प्रकार कोई कारीगर नाना प्रकार की वस्तुएँ बनाकर सजाता है।"

ईश्वर को लेकर जो बहस चलती रही है, उसके बारे में शुक्लजी ने लिखा है: "ईश्वर साकार है कि निराकार, लम्बी दाढ़ीवाला है कि चार हाथवाला, अरबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजनेवालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठानेवालों से, इन बातों पर विवाद करनेवाले अब केवल उपहास के पात्र होंगे।" साकार-निराकार ईश्वर से सम्बन्धित विवाद अभी समाप्त नहीं हुआ। किन्तु शुक्लजी ने इस तरह के विवाद पर अपना मत प्रकट कर दिया है। सृष्टि रचयिता के बारे मे उनका विश्वास है: "इसी प्रकार सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है उनके सम्बन्ध में जो प्राचीन पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ (६ दिन मे सृष्टि की उत्पत्ति, आदम-हौवा का जोड़ा, चौरासी लाख योनि इत्यादि) हैं वे अब ढाल-तलवार का काम नहीं दे सकती।" विकासवाद और सृष्टि-रचना की पौराणिक कथाओ के द्वन्द्व में शुक्लजी पौराणिक कथाओं के विरोधी हैं और विकासवाद के समर्थक।

संसार नित्य है या अनित्य? शुक्लजी कहते हैं, प्रकृति के मूल तत्त्व नित्य हैं। "विश्व में जितना द्रव्य (Matter) है उतना ही सदा से है और सदा रहेगा—उतने से न घट सकता है, न बढ़ सकता है।"

द्रव्य, भूत या पदार्थ निश्चल होता है या गतिशील? "द्रव्य और शक्ति (गति) का नित्य सम्बन्ध है। एक की भावना दूसरे के बिना हो नहीं सकती। न शक्ति के बिना द्रव्य रह सकता है और न द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति कार्य कर सकती है। अपने चारों ओर जो कुछ हम देखते हैं वह सब द्रव्य और शक्ति का ही

कार्य है।"

विश्व की एकता का आधार क्या है? द्रव्य (पदार्थ) या शक्ति? या दोनों एक ही सत्ता के दो रूप हैं। शुक्लजी बीसवी सदी के नवीन भौतिकशास्त्रीय अनुसन्धानों से परिचित हैं। लिखते हैं: "बहुत से भौतिकविज्ञानियों ने परमाणु के भी अवयवों या विद्युदणुओं तक पहुँचकर यह कहना आरम्भ कर दिया है कि द्रव्य वास्तव में विद्युत् का ही संघात विशेष है, विद्युत्शक्ति का ही एक रूप है। इस बात को मान ले तो द्रव्य और शक्ति का द्वंद्व तो मिट गया।" उन दिनों वैज्ञानिकों में ईथर को लेकर बहुत चर्चा थी। शुक्लजी के अनुसार उसके विषय में "हम अभी तक बहुत कम जान सके हैं।"

भूत और शक्ति परस्पर संबद्ध है। शक्ति या गति के बिना भूत की सत्ता नहीं है। शक्ति की गतिशीलता का कारण उसके दो विरोधी रूपों—आकर्षण और अपसरण—की एकता है। शक्ति स्पन्दनहीन अनन्त समुद्र के समान नही है। वह द्वंद्वमय और सतत गतिशील है। "शक्ति की इस दोमुँही चाल से जगत् की स्थिति है। यदि शक्ति अपने एक ही रूप में कार्य करती तो जगत् की यह अनेकरूपता न रहती, या यों कहिए कि जगत् ही न होता।"

क्या बाह्य जगत् उतना ही है जितना हमे दिखायी देता है या जो हमारे लिए गोचर है? "परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता।" यह परमाणु क्या है? पहले लोग समझते थे कि "द्रव्य के सूक्ष्मत्व की चरम सीमा" परमाणु है। उसे वे अखड और नित्य समझते थे। उन्हें उसके खंड-खंड होने के प्रमाण न मिले थे। नये अनुसन्धानों से क्या पता चला? "पर इधर युरेनियम, रेडियम आदि कई नये मूल द्रव्यों के मिलने से ऐसे प्रमाण भी मिल गये।"

अध्यात्मवादी विचारक पदार्थ या भूत को जड़, गतिहीन, स्थूल मानते हैं। वे बाह्य प्रकृति को सहज बोधगम्य समझकर संसार का रहस्य भेद करने के लिए अगोचर आत्मसत्ता की कल्पना करते है। किन्तु प्रकृति इतनी सूक्ष्म है कि उसकी सूक्ष्मता की कल्पना करना भी कठिन है! लोग आत्मा-परमात्मा को ज्योतिस्वरूप, अगोचर शक्ति आदि के रूप मे कल्पित करते हैं। किन्तु प्रकृति की सूक्ष्मता के आगे ज्योति और शक्ति की ये कल्पनाएँ भी स्थूल जान पड़ती हैं। "परमाणु का प्रत्यक्ष नही होता। परमाणु की बात छोड़ दीजिए, अणुओं की सूक्ष्मता भी कल्पनातीत है। तीव्र-से-तीव्र सूक्ष्मदर्शक यन्त्र उनका दर्शन नहीं करा सकते। उनका निरूपण उनके कार्यो द्वारा गणित आदि के सहारे से ही किया जाता है। जल का ही अणु लीजिए जो इंच के १/५०००००००० वें भाग के बराबर होता है। अब इस अणु की योजना करनेवाले परमाणुओं की सूक्ष्मता का इसी से अन्दाजा कर लीजिए। विद्युदणु तो उनसे भी सूक्ष्म हैं। हिसाब लगाया गया है कि हाइड्रोजन के एक परमाणु में १६००० और रेडियम के एक परमाणु में १६०००० विद्युदणु होते हैं। इन विद्युदणुओं के बीच का अन्तर उनकी सूक्ष्मता के हिसाब सें बहुत अधिक होता है—उतना ही होता है जितना सौर जगत् के ग्रहों के बीच होता है। अपने पर-

माणु जगत् के अन्तरिक्ष में ये परस्पर शक्ति-सम्बद्ध होकर निरन्तर उसी प्रकार वेग से भ्रमण करते रहते हैं जिस प्रकार सौर जगत् में ग्रह-उपग्रह भ्रमण करते हैं। इसी का नाम है भवचक्र। परमाणु के भीतर भी वही व्यापार हो रहा है जो ब्रह्माण्ड के भीतर। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' वाली बात समझिए।"

शुक्लजी ने प्रकृति की सूक्ष्मता का कलात्मक वर्णन किया है। इस वास्तविक सूक्ष्मता के आगे—परमाणु-जगत् के अन्तरिक्षों की तुलना मे—मनुष्य की कल्पना अत्यन्त स्थूल और जड़ सिद्ध होती है। परमाणु-सम्बन्धी आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों के कुछ निकट प्राचीन भारत और यूनान के दार्शनिकों की परमाणु-सम्बन्धी कल्पनाएँ पहुँचती है। "मूलभूत और परमाणु की कल्पना इसी रीति पर हमारे यहाँ के वैशेषिक दर्शन में भी हुई है।" वैशेषिक के अनुसार जितने प्रकार के भूत होते हैं, उतने ही प्रकार के परमाणु होते है, जैसे पृथ्वी-परमाणु, जल-परमाणु आदि। अब परमाणु चार से अधिक प्रकार के माने जाते है। वैशेषिक के लिए ये परमाणु एक-दूसरे से गुणों में भिन्न थे। जल एक मूल द्रव्य माना गया था "पर आधुनिक रसायनशास्त्र ने जल को किस प्रकार यौगिक सिद्ध किया है यह ऊपर कहा जा चुका है।" तब वैशेषिक के प्रति हमारा क्या दृष्टिकोण हो? उसकी उपेक्षा करें या उसे आधुनिक विज्ञान का पूर्वरूप मान लें। "मूल भूतों और परमाणुओं का सम्बन्ध वैशेषिक ने उसी रीति से निर्धारित किया है जिस रीति से आधुनिक रसायनशास्त्र ने—यह हमारे लिए कम गौरव की बात नही है। ब्यौरा ठीक न मिलने के कारण इस पर परदा डालने की जरूरत नही।" शुक्लजी प्राचीन दर्शन मे विज्ञान-सम्मत तत्त्वों का उद्‌घाटन करते है और आधुनिक विज्ञान से उसका अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। प्राचीन दर्शन के प्रति उनका यह दृष्टिकोण पुनरुत्थानवादियों और अन्ध श्रद्धालु जनों की उपासना-पद्धति से बिलकुल भिन्न है।

शुक्लजी के लिए प्रकृति गतिशील है। शक्ति और पदार्थ अन्योन्याश्रित हैं; पदार्थ भी शक्ति मे परिवर्तित हो जाता है। प्रकृति जितना ही विराट् है, उतना ही सूक्ष्म भी। उसमे आकर्षण और अपसरण जैसे परस्पर विरोधी शक्ति-रूपों की एकता है। भौतिक जगत् के प्रति यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण शुक्लजी के दार्शनिक चिन्तन का महत्त्वपूर्ण अंग है।

इस भौतिक जगत् का एक महत्त्वपूर्ण नियम गुणात्मक परिवर्तन से सम्बन्धित है। संसार के दृश्यमान पदार्थ स्थिर और अपरिवर्तनशील नहीं है; उनके परिमाण और गुणों में बराबर तबदीली हुआ करती है। "जिस प्रकार द्रव्य एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे—ठोस से द्रव, द्रव से वायव्य, वाव्यय से द्रव, द्रव से ठोस अवस्था में—लाया जा सकता है उसी प्रकार गतिशक्ति भी एक रूप से दूसरे रूप मे लाई जा सकती है। गति ताप के रूप मे परिवर्तित हो सकती है, ताप विद्युत् के रूप में, विद्युत् ताप और प्रकाश के रूप मे।"

इसी नियम के बारे मे आगे लिखा है: "पदार्थो मे जो नाना भेद दिखायी पड़ते है वे सन्निवेश भेद मे होते हैं। तेज के सम्बन्ध से वस्तुओं के गुण मे बहुत कुछ फेर-

फार हो जाता है—जैसे कच्चा घड़ा पकने पर लाल हो जाता है।"

यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रमुख सिद्धान्त है जो अजीव से जीव और अचेतन से चेतन का विकास समझने में सहायता करता है। विज्ञान की एक मौलिक समस्या, जिसे हल करना बाकी है, यह है कि जीवन-तत्त्व अजीव भूत से कैसे उत्पन्न हुआ। "जल ही में जीवन-तत्त्व की उत्पत्ति हुई।···यद्यपि अपने विश्लेषण द्वारा रासायनिक इस अद्‌भुत द्रव्य के मूल उपादानों को जान गये हैं पर वे उनके द्वारा संघटित अणुओं की विलक्षण योजना को कुछ भी नही समझ सके हैं।"

वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्ता अपनी प्रयोगशाला में जीवन-तत्त्व नहीं बना सके, इससे विज्ञान की असफलता नही सिद्ध होती। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि विज्ञान के लिए जानने और अनुसन्धान करने के लिए बहुत कुछ बाकी है। वैज्ञानिकों का ज्ञान अध्यात्मवादियों के ज्ञान के समान पूर्ण नही है वरन् सतत विकासमान है। शुक्लजी के शब्दो मे : "इसमें सन्देह नही कि विकास सिद्धान्त के नियमों की चरितार्थता के लिए वैज्ञानिक निरन्तर प्रयत्न करते जा रहे हैं जिससे मार्ग की कठिनाइयाँ बहुत कुछ दूर होती जा रही हैं। निर्जीव से सजीव द्रव्य की उत्पत्ति को ही लीजिए। अब लोग यह देखने लगे हैं कि रासायनिकों को सजीव द्रव्य की योजना में अब तक जो असफलता होती आयी है वह इस कारण कि सजीव द्रव्य के मूल आदिम रूप की उन्हें ठीक धारणा ही नही रही है।" तात्पर्य यह कि विज्ञान के लिए यह दुर्लंघ्य कठिनाई नहीं है।

आधुनिक विज्ञान की उन्नति से पहले संसार को सत्य माननेवालों के सामने भी यह कठिनाई रहती थी कि प्रकृति मे गति कैसे उत्पन्न हुई। वस्तु को जड़ और गतिहीन मानकर वे उस पर बाहर से संचालक पुरुष का आरोप करते थे। पदार्थों की गतिशीलता का सिद्धान्त समझ में आने पर इस प्रकार के पुरुष की कल्पना आवश्यक नहीं होती। शुक्लजी ने लिखा है : "पहले के वैज्ञानिकों का परमाणुओं के भीतर की गतिशक्ति की ओर ध्यान नही था, इससे द्रव्य की मूल व्यष्टियों को समझने के लिए उन्हें शक्ति का बाहर से आरोप करना पड़ता था। पर अब, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रेडियम के मिलने से परमाणु के भीतर विद्युच्छक्ति के केन्द्रों का पता मिल गया है जिससे सजीव और निर्जीव द्रव्य का अन्तर बहुत कुछ कम हो गया है।"

क्या इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि शुक्लजी को आशा है कि कुछ समय बाद विज्ञान यह समस्या हल कर लेगा ?

आगे उन्होंने इस सन्दर्भ मे लिखा है : "किण्व सम्बन्धी रसायन बराबर उन्नति करता जा रहा है। कई प्रकार के किण्व या खमीर, पौधों या जन्तुओं से प्राप्त शरीरद्रव्य के आश्रय के बिना, कुछ मूल द्रव्यों के परमाणुओं के योग से बना लिये गये हैं। सजीव द्रव्य की उत्पत्ति के पास तक यही विधान पहुँच सका है, और इसी से बहुत कुछ आशा है। सजीवता वा जीवन वास्तव मे किण्व-परम्परा ही है।" इसके बाद शुक्लजी ने पाद-टिप्पणी में चार्वाक का मत उद्‌धृत किया है जिसके

अनुसार किण्वादि से मदशक्ति के समान चैतन्य उत्पन्न होता है। प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन के सिद्धान्त का पता चार्वाक को भी था। शुक्लजी ने उससे उद्धरण देकर वैशेषिक की तरह भारत के प्राचीन भौतिकवाद के महत्त्व की ओर संकेत किया है। किण्व सम्बन्धी रसायन से जीवन-तत्त्व का विश्लेषण सम्भव हो, चाहे न हो, "इसी से बहुत कुछ आशा है"—शुक्लजी के इन शब्दों से उनके विज्ञान-प्रेमी दृष्टिकोण का पता अवश्य चल जाता है।

प्राणिजगत् में विकास-प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए शुक्लजी ने द्वंद्व-सिद्धांत के उन संक्रमण-बिन्दुओं का वर्णन किया है जहाँ पहुँचकर 'क' पदार्थ 'ख' बनता है, जहाँ उसमें गुणात्मक परिवर्तन होता है और जहाँ वह न 'क' रहता है, न 'ख', अथवा दोनों के ही गुण उसमें विद्यमान रहते हैं। "एक प्रकार के जन्तु एकबारगी तो उत्पन्न नहीं हो गये। दोनो के बीच की वंश-परम्परा में ऐसे जन्तु रहे होंगे जिनमे थोड़े बहुत दोनों के लक्षण रहे होंगे। इस प्रकार के मध्यवर्ती जन्तु कुछ तो अब भी मिलते हैं और कुछ की ठठरियाँ भूगर्भ में मिलती हैं।"

पानी के अलावा जमीन पर भी कुछ समय तक जीनेवाली मछलियों का जिक्र करने के बाद शुक्लजी कहते है: "इस प्रकार जलचारी और स्थलचारी जन्तुओं के मध्यवर्ती उभयचारी जन्तुओं तक हम पहुँचते हैं।"

आस्ट्रेलिया की 'बत्तख-घूंस' और 'चीटीखोर' के बारे मे कहते हैं: "ये दोनों जानवर अण्डे देते हैं। अण्डे से निकलने पर बच्चे माता का दूध पीकर पलते हैं। सरीसृपों, पक्षियों और स्तन्य जीवों के मध्यवर्ती इन जन्तुओं के वर्ग को अण्डज-स्तन्य वर्ग कहते हैं।"

संक्रमणबिन्दुओं पर पदार्थ का गुण बदलना, कुछ समय के लिए संक्रमण की दशा में रहना, पदार्थों और जीवों को स्थिर और अपरिवर्तनशील रूपोंवाला न मानना, संक्रमणशील जीवों मे भिन्न जातियों के गुणो का होना—यह द्वन्द्वात्मक पद्धति शुक्लजी के अध्ययन की विशेषता है। जीवन की एकता मे विश्वास करने के कारण वह चर-अचर का भेद नही मानते। "पहले लोग समझते थे कि जन्तु चर हैं और पौधे अचर। मनुस्मृति मे लिखा है कि 'उद्भिज्जः स्थावरास्सर्वे बीज-काण्डप्ररोहिणः।' पर वास्तव मे चर-अचर का भी भेद नहीं है। बहुत-से ऐसे जन्तु हैं जो अचर हैं। जैसे, स्पंज, मूँगा आदि और बहुत-से ऐसे सूक्ष्म समुद्री पौधे होते हैं जो बराबर चलते-फिरते रहते हैं।"

इसी प्रकार अचेतन संवेदन से चेतना का विकास होता है। "अब रहा सम्वेदन। सम्वेदन का सबसे आदिम रूप है प्रतिक्रिया अर्थात् किसी पदार्थ के साथ सम्पर्क होते ही शरीर में भी एक विशेष प्रकार का क्षोभ या क्रिया (गति) उत्पन्न होना। यह प्रतिक्रिया अचेतन व्यापार मानी जाती है अर्थात् यह ज्ञानपूर्वक नहीं होती···लजालू आदि पौधों में तो यह प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जाती है।" इस सिलसिले में जगदीशचन्द्र वसु के अनुसन्धानों का उल्लेख करते हुए उन्होने सजीव-निर्जीव के भेद की समस्या के हल होने की सम्भावना का फिर जिक्र किया है:

"अध्यापक जगदीशचन्द्र वसु ने तो पौधों के सुख-दुख आदि के सम्वेदन को अर्थात् उनके सम्वेदन-सूत्रों में उत्पन्न क्षोभ को अपने सूक्ष्म और अद्‌भुत यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष दिखा दिया है। यही तक नही, उन्होने अपनी खोज और आगे बढ़ाई है। उन्होने धातुओं में भी सम्वेदन के क्षोभ का आभास देकर निर्जीव और सजीव के बीच समझे जानेवाले भेदभाव को बहुत कुछ मिटा दिया है।" उन्होंने इसके समर्थन में शेफर का मत भी उद्‌धृत किया है कि "निर्जीव और सजीव में जितना भेद प्रतीत होता है वास्तव में उतना भेद नहीं है और इन दोनों का एक सामान्य लक्षण स्थापित होने की सम्भावना बढ़ गयी है।"

सम्वेदन ग्रहण करने का काम त्वचा करती है। "अत्यन्त आदिम कोटि के क्षुद्र जीवों मे प्रकाश, शब्द तथा स्थूल पदार्थों का ग्रहण ऊपरी त्वक् पर सर्वत्र समान रूप से होता है। ऊपरी त्वक् सर्वत्र समान रूप से सम्वेदनग्राही होता है। क्रमशः ऊपरी त्वक् पर विभिन्नताएँ उत्पन्न होने लगी।···क्रमशः इन सम्वेदन-सूत्रों का एक केन्द्र-स्थल ग्रन्थि के रूप में उत्पन्न हुआ जिसे ब्रह्म-ग्रन्थि कहते हैं। यही केन्द्र-स्थान बड़े जीवो का मस्तिष्क है।" पहले त्वचा द्वारा सम्वेदन-ग्रहण, फिर इस अचेतन अवस्था से इन्द्रियो और मस्तिष्क का विकास—मोटे रूप मे चेतना के विकास की यह प्रक्रिया शुक्लजी के सामने रही है।

भूमिका के अन्तिम भाग में भौतिकवादी और भाववादी दर्शनों की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने विकासवाद की सीमाएँ बतलाई है। उनका यह कहना सही है कि आधुनिक विज्ञान अभी चेतना के उद्‌भव की पूरी व्याख्या नहीं कर पाया। व्यवस्था का अर्थ होगा, सचेत प्राणी का निर्माण जो अभी प्रयोगशाला मे हुआ नही है। यद्यपि उनके सारे विवेचन का झुकाव भौतिकवाद की ओर है, फिर भी उन्होने अपनी स्थिति स्पष्ट नही की। स्पष्ट यह किया है कि छोटे-बड़े धार्मिक अन्ध-विश्वासों के बदले अब सीधा मोर्चा भाववाद और वस्तुवाद (या भौतिकवाद) के बीच है। पौराणिक कथाएँ ढाल-तलवार का काम नही कर सकती, इसलिए "अब जिन्हें मैदान मे जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जाये जहाँ दो पक्ष अड़े हुए है—एक ओर आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी; एक ओर जड़वादी, दूसरी ओर नित्य चैतन्यवादी। यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गयी तो फिर सब मतो की भावना का समर्थन हुआ समझिए, क्योकि चैतन्य सर्वस्वरूप है। नाना भेदों मे अभेद दृष्टि ही सच्ची तत्त्व-दृष्टि है।"

शुक्लजी ने छोटे-मोटे भेदों का जाल दूर करते हुए दर्शन की दो मूल धाराओ का परस्पर विरोध स्पष्ट करके पाठक को अपना रास्ता ढूंढने मे सहायता दी है। फिर भी उन्होंने इन दोनो पक्षों में खुलकर किसी एक को गलत या सही नही कहा। उनका 'यदि'—"यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गयी"—महत्त्व-पूर्ण है। वे अध्यात्मवादियो की तरह इसे सर्वमान्य सत्य नही मानते। उसे सर्व-मान्य कराने मे दर्शन के प्रयत्न हो चुके, रहस्यभेद का उत्तरदायित्व अब विज्ञान पर है।

इस कारण भौतिकवाद की ओर बहुत अधिक झुकाव होने पर भी शुक्लजी को सुसंगत भौतिकवादी नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यही नहीं है कि शुक्लजी ने अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं की वरन् उनके कुछ वाक्य ऐसे भी हैं जिन्हें अध्यात्मवाद की ओर खींचा जा सकता है। ज्ञान की वर्तमान स्थिति को देखते हुए मजहबी झगड़े बन्द करने चाहिए, यह कहने के बाद उन्होंने लिखा है : "सब मतों और सम्प्रदायों में धर्म और ईश्वर की जो सामान्य भावना है उसी का पक्ष अब शिक्षित पक्ष के अन्तर्गत आ सकता है।" यह सामान्य भावना नैतिक आदर्शों की हो सकती है, एक परम चेतन परोक्ष सत्ता की भी। इस वाक्य-द्वार से अध्यात्मवाद विज्ञान-शिविर में प्रवेश कर सकता है।

अन्यत्र प्रकृति के नियमों से भिन्न तर्क और गणित के नियमों को उन्होंने 'अपरिहार्य सत्य' कहा है। "उनके अन्यथा होने की भावना त्रिकाल में नहीं हो सकती। बाह्य जगत् पर वे निर्भर नहीं, उससे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। वे स्वतः प्रमाण हैं।" तर्क और गणित के अपरिहार्य सत्य भी कितने परिहार्य हैं, यह आइन्स्टाइन ने सिद्ध कर दिया है। विश्व की जानकारी बढने पर ज्यामिति के वे नियम बदल गये जो पहले की सीमित जानकारी के आधार पर रचे गये थे। इस तरह के स्वतः प्रमाण का दावा भाववादी कर सकते हैं, भौतिकवादी नही।

दार्शनिक दृष्टिकोण में इन असंगतियो के बावजूद कुल मिलाकर शुक्लजी विकासवाद के समर्थक सिद्ध होते हैं। वे डारविन की विचारधारा से प्रभावित ही नही वरन् उसे सामाजिक क्षेत्र में स्वयं भी लागू करते हैं। यह एक दिलचस्प बात है कि माल्थस के प्रभाव से डारविन ने प्राणिजगत् में संघर्ष और योग्यतम के जीने का जो सिद्धान्त अपनाया था—माल्थस के प्रभाव से पूंजीवादी समाज की हिंसा को एक प्राकृतिक नियम मान लिया था—शुक्लजी के विवेचन में उसका अभाव है। स्पेन्सर के आधार पर वे 'परस्पर साहाय्य की प्रवृत्ति' का जिक्र करते हैं जिससे विकास सम्भव हुआ है। "सब जीवों मे श्रेष्ठ मनुष्य को इसी प्रवृत्ति के उत्कर्ष-साधन में—वसुधैव कुटुम्बकम् के भाव की प्राप्ति के प्रयत्न में—लगा रहना चाहिए।" इस प्रकार डारविन की एक कमजोर स्थापना को उन्होंने छोड़ दिया है। उन्होंने अनेक पुरानी जीव-योनियों के विनाश का कारण उनकी अक्षमता—अन्य जीवों की होड में पिछड़ जाना—नही माना। इसका कारण उन्होंने पृथ्वी के धरातल-सम्बन्धी परिवर्तनों को माना है। यहाँ भी वे डारविन की कमजोर स्थापना से बचकर निकले हैं। जीव-योनियो में परिवर्तन के लिए जो वस्तु सबसे अधिक उत्तरदायी है, वह है बाह्य प्रकृति या परिवेश। यहाँ वे डारविनवाद की मूलधारा के समर्थक हैं।

विकासवाद के सिद्धान्त ने प्रकृति-विज्ञान को ही नही, सामाजिक विज्ञान को भी प्रभावित किया है। उसके प्रभाव के कारण "मनोविज्ञान की ओर से आत्मा के खण्डन-मण्डन की बात अब नही उठती।" ऐतिहासिक भौतिकवाद की मान्यताओं के अनुरूप शुक्लजी के लिए कोई शाश्वत ईश्वर-विरचित या ऋषिकृत

कर्त्तव्यशास्त्र नहीं है। मनुष्य ने असभ्यता से सभ्यता की ओर प्रगति की है, न कि सतयुग से कलियुग की ओर उसका पतन होता रहा है। "आधुनिक मत यही है कि मनुष्य जाति असभ्य दशा से उन्नति करते-करते सभ्य दशा को प्राप्त हुई है।" नैतिकता और धर्म सभ्यता के अंग हैं। इसलिए "धर्माधर्म या कर्त्तव्यशास्त्र की नींव भी लोकरक्षा और फलतः आत्मरक्षा पर डाली गई है।" शुक्लजी को इलहाम में वैसे ही विश्वास नहीं है। वे धर्म को आध्यात्मिक क्षेत्र की वस्तु न मानकर उसे सामाजिक नियमों के रूप में ग्रहण करते हैं। "लोकव्यवहार और समाज-विकास की दृष्टि से ही धर्म और आचार की व्याख्या की गयी है, परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से नहीं।" संस्कृति के अन्य तत्त्वों की तरह धर्म भी देशकाल-सापेक्ष है, सामाजिक विकास के अन्तर्गत उसका विकास भी हुआ है। "विकासवाद की व्याख्या के अनुसार धर्म कोई अलौकिक, नित्य और स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। समाज के आश्रय से ही उसका क्रमशः विकास हुआ है। धर्म का कोई ऐसा सामान्य लक्षण नहीं बताया जा सकता जो सर्वत्र और सब काल में--मनुष्य जाति की जब से उत्पत्ति हुई तब से अब तक—बराबर मान्य रहा हो। समाज की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती गयी त्यों-त्यों धर्म की भावना में भी देशकालानुसार फेरफार होता गया।"

सन् '२० तो क्या, सन् '५८-'५९ में भी बहुत कम लोग हैं, जो धर्म और समाज के प्रति यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाते हों। इससे सिद्ध होता है कि शुक्लजी अपने युग के अत्यन्त जागरूक विचारकों में थे और उनका महत्त्व समझने में हम असफल रहे हैं। श्रीपाद अमृत डाँगे ने कुछ वर्ष पूर्व महाभारत आदि ग्रन्थों के आधार पर भारतीय समाज के आदिम युग का विवेचन किया था। शुक्लजी ने काफी पहले विकासवाद के सिद्धान्तों को भारतीय इतिहास पर लागू करते हुए लिखा था: "कोई समय था जब एक कुल दूसरे कुल की स्त्रियों को चुराना या लड़कर छीनना अच्छा समझता था। देवताओं पर नर-बलि देने में किसी के रोंगटे खड़े नहीं होते थे। बाइबिल में इसके कई उल्लेख हैं, शुनःशेप की वैदिक गाथा भी एक उदाहरण है। उद्दालक और श्वेतकेतु का आख्यान इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है। ये दोनों वैदिक काल के ऋषि थे। एक दिन उद्दालक, उनकी स्त्री और उनके पुत्र श्वेतकेतु बैठे थे। एक आदमी आया और श्वेतकेतु की माता को लेकर चलता हुआ। श्वेतकेतु को बहुत बुरा लगा। पिता ने पुत्र को यह कहकर शान्त किया कि यह सनातन धर्म है—एषः धर्मः सनातनः—ऐसा सदा से होता आया है। श्वेतकेतु ने नियम किया कि जो स्त्री एक पति को छोड़कर जायेगी उसे भ्रूण-हत्या का पाप होगा और जो पुरुष पतिव्रता को छीनकर ले जायगा उसे भी पातक लगेगा।"

इसके बाद शुक्लजी ने दीर्घतमस ऋषि की कथा कही है जिन्होंने अपनी स्त्री के आचरण से क्रुद्ध होकर शाप दिया था कि कोई स्त्री दूसरे पुरुष से संसर्ग न कर सकेगी। यह शाप आगे चलकर 'एकमात्र धर्म' हुआ। "इस बात की पुष्टि महाभारत के अन्य स्थलों से भी होती है। आदिपर्व में कुन्ती के प्रति जो उपदेश है

उसमें लिखा है कि प्राचीन समय में केवल ऋतुकाल में पातिव्रत्य आवश्यक था।" इससे सम्बन्धित श्लोक उद्धृत करने के बाद शुक्लजी कहते हैं: "राक्षस विवाह, नियोग इत्यादि उसी असभ्य काल के स्मारक हैं।" इस प्रकार शुक्लजी ने भारतीय समाज को असभ्यता से सभ्यता की ओर उसी प्रकार विकसित होते हुए माना है जैसे अन्य देशों के समाज। प्राचीन ग्रन्थों को इस विकासवादी दृष्टि से देखना जहाँ सूक्ष्म विवेक का परिचायक है, वहाँ अपने निष्कर्षों को जनता के सामने प्रकाशित करना कम साहस का काम नहीं था।

संक्षेप में 'विश्व-प्रपंच' की भूमिका का यह परिचय है। शुक्लजी के अधिकांश पाठक इस निबन्ध से अपरिचित हैं, इसलिए यहाँ उद्धरण देकर उनके विचारों का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। इससे साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलेगी। इससे स्पष्ट होगा कि वह इतनी सख्ती से रहस्यवाद का विरोध क्यों कर रहे थे। हैकल ने जहाँ बाह्य निरीक्षण की पूर्णता के लिए जीव-विज्ञान आदि का अध्ययन आवश्यक बतलाया है, उस स्थल का अनुवाद करते हुए शुक्लजी ने अपनी ओर से एक टिप्पणी जोड़ी है। जिस तरह वे रहस्यवाद पर व्यंग्य करते हैं, उसी तरह इस टिप्पणी में उन्होंने लिखा है: "जो लोग समझते हैं कि आँख मूँदकर या समाधि लगाने से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों की बातें सूझने लगती हैं उन्हें इस पर ध्यान देना चाहिए।" विकासवाद के प्रति उनकी धारणाएँ समझने से भक्ति के विकास का विवेचन आसानी से समझ में आयेगा। इस विकासवादी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने साहित्य का अध्ययन करते हुए उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि की चर्चा की, दरबारों और उनसे सम्बद्ध काव्यधारा की नुक्ताचीनी की और जनता से सम्बन्धित साहित्य का समर्थन किया।

भौतिकवाद, विकासवाद, जनता से सम्बन्ध आदि कुछ शब्द सुनते ही अनेक मित्र यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि शुक्लजी को मार्क्सवादी घोषित किया जा रहा है। ऐसे मित्रों की सेवा में निवेदन है कि शुक्लजी की विचारधारा और मार्क्सवाद में काफी अन्तर है। मार्क्सवाद प्रकृति और समाज में प्रगति को शनैः-शनैः होनेवाली ही नहीं, क्रान्ति और विस्फोटों द्वारा - कार्य-कारण-शृंखला तोड़कर छलाँगें मारते हुए, बहुत-सा फासला एक साथ तय करनेवाली प्रगति के रूप में भी--देखता है। मार्क्सवाद के लिए इतिहास में वर्ग-संघर्ष की नियामक भूमिका है; वर्गों का निर्माण और उनके परस्पर-सम्बन्ध उत्पादन और वितरण की पद्धति से कायम होते हैं। मार्क्सवाद की स्थापना है कि आधुनिक समाज का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग, मजदूर वर्ग, किसानों तथा अन्य जनों के साथ मिलकर सत्ता पर अधिकार करेगा और समाजवाद का निर्माण करेगा। मार्क्सवाद में यह और ऐसा ही और बहुत कुछ है। इसलिए शुक्लजी को मार्क्सवादी घोषित करने का सवाल नहीं उठता। ईमानदारी का यह तकाजा जरूर है कि शुक्लजी अपने युग के हिन्दी-अहिन्दी विचारकों से कितना आगे थे और उनकी विचारधारा कितनी वैज्ञानिक है, इसे अब हम स्वीकार करें।

आगरा,
२-१-१९५९

रामविलास शर्मा

*

पहले संस्करण की भूमिका

हिन्दी-साहित्य में शुक्लजी का वही महत्त्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द या कवि निराला का। उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती संस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचन्द और निराला ने। शुक्लजी ने न तो भारत के रूढ़िवाद को स्वीकार किया, न पच्छिम के व्यक्तिवाद को। उन्होंने बाह्य जगत् और मानव-जीवन की वास्तविकता के आधार पर नये साहित्य-सिद्धान्तों की स्थापना की और उनके आधार पर सामन्ती साहित्य का विरोध किया और देशभक्ति और जनतन्त्र की साहित्यिक परम्परा का समर्थन किया। उनका यह कार्य हर देशप्रेमी और जनवादी लेखक तथा पाठक के लिए दिलचस्प होना चाहिए। शुक्लजी पर पुस्तक लिखने का यही कारण है।

पिछले वर्षों में शुक्लजी पर तरह-तरह के आक्षेप किये गये थे। इनसे शुक्लजी के बारे में ही नहीं, साहित्य के सहज विकास के बारे में भी भ्रम फैलते थे। इन्हीं के निराकरण के लिए नवम्बर सन् '५८ के 'नया पथ' में मैंने शुक्लजी पर एक लेख लिखा था जो इस पुस्तक में पहले अध्याय के रूप में दिया गया है। यह लेख पढ़कर कई लोगों ने शुक्लजी पर एक पुस्तक लिख डालने पर ज़ोर दिया। यह प्रयत्न उन मित्रों के आग्रह का भी फल है।

'नया पथ' का लेख पढ़कर कुछ विद्वानों को यह काम अनावश्यक-सा लगा और उसमें गलत खंडन-मंडन भी दिखा। उनकी राय पर मैंने ध्यान नहीं दिया, यह समझने का अवसर क्यों आये? भूमिका में उस राय की थोड़ी चर्चा किये देता हूँ।

'नया पथ' वाले लेख के बारे में उसी पत्र के जनवरी सन् '५५ के अंक में कथाकार यशपाल की राय छपी है। उनकी इस शिकायत से मैं सहमत हूँ कि इतना लम्बा लेख उसमें न छपना चाहिए था। इसके साथ ही उन्होंने यह भी लिखा है: "साहित्यिक आलोचना और आलोचना की आलोचना तो केवल परीक्षार्थियों के काम की चीज होगी।" परीक्षार्थियों के काम की हो तो बहुत अच्छा है लेकिन सेवा

में निवेदन है कि शुक्लजी से हमारे कथाकार और साधारण साहित्य-प्रेमी भी बहुत कुछ सीख सकते हैं। शुक्लजी ने एक विशेष प्रकार के साहित्य का विरोध किया है, एक विशेष प्रकार के साहित्य का समर्थन। इस तरह वह हिन्दी पाठकों की साहित्यिक रुचि-परिष्कार करनेवालों में हैं। उनकी यह विशेषता साधारण साहित्य-प्रेमियों के ध्यान देने योग्य है। इसके सिवा शुक्लजी ने उपन्यासों के बारे में कुछ उम्दा सुझाव दिये हैं, बहुत-से पात्र और घटनाएँ इकट्ठा करने के बदले पात्रों के भरे-पूरे चित्रण और उनके चरित्र-विकास पर जोर दिया है। उन्होंने प्रेमचन्द का आदर्श रखते हुए जन-साधारण के जीवन पर उपन्यास लिखना आवश्यक बतलाया है। शुक्लजी की इन बातों को यशपालजी एक मामूली हिन्दी-प्रेमी का सुझाव भी मानें और उस पर विचार करें तो वह अपना और हमारा बड़ा उपकार करें।

शुक्लजी ने मानव-जीवन और भौतिक जगत् की वास्तविकता पर बहुत कुछ लिखा है। यशपालजी को मार्क्सवाद पर पुस्तकें लिखने का शौक है। वह अपनी कई गलत धारणाएँ शुक्लजी के अध्ययन से दूर कर सकते हैं। मिसाल के लिए 'मार्क्सवाद' नाम की पुस्तक में यशपालजी ने लिखा है : "मनुष्य का विकास प्रकृति के रूपरहित और गतिहीन पदार्थों से हुआ है।" (यह उद्धरण पुस्तक के १९४४ वाले संशोधित संस्करण से है।) रूपरहित और गतिहीन अध्यात्मवादियों का ब्रह्म होता है, प्रकृति नहीं। इस सम्बन्ध में शुक्लजी की स्थापनाएँ यहाँ दोहराने की जरूरत नहीं, पुस्तक में पढ़ी जा सकती हैं। इतना कहना काफी है कि प्रकृति की रूपमयता और गतिमयता की बात शुक्लजी ने बीसों जगह कही है।

यशपालजी के अनुसार "मार्क्सवाद मनुष्य की बुद्धि, चेतना या मन को भौतिक पदार्थों से बना मानता है।" ऐसी बात हो तो बुद्धि गढ़ने का एक कारखाना खोल लिया जाय और भौतिक पदार्थों से मन और चेतना तैयार करके कुछ कथाकारों के पास भेज दी जाय। शुक्लजी मन को रूप-गतिमय मानते हैं लेकिन मन भौतिक पदार्थ नहीं है। भौतिक पदार्थ मस्तिष्क है जिसका गुण है चेतना (बुद्धि भी उसका गुण हो, यह आवश्यक नहीं)।

शुक्लजी ने उन पच्छिमी मनोवैज्ञानिकों का खण्डन किया है जो मनुष्य की निःस्वार्थ भावना में विश्वास नहीं करते, जो सच्चे देशभक्तों और क्रान्तिकारियों में भी छिपी हुई स्वार्थभावना ढूंढ निकालते हैं। इस घटिया मनोविज्ञान को मार्क्सवाद का नाम देते हुए यशपाल ने लिखा है : "मनुष्य चाहे अपने परिश्रम से कमाया धन दे दे या अपनी जान दे दे, सबकुछ अपने सन्तोष के लिए ही है।" इसीलिए कुछ लोग अपने सन्तोष के लिए साहित्य का व्यापार करते हैं, चीरहरण की चर्चा से बिकाऊ माल तैयार करते हैं और पैसे के अलावा जनता के सेवक होने का यश-लाभ करते हैं। यशपालजी के आत्मविश्वास से ईर्ष्या होती है। क्या दो टूक बात लिखी है : "मार्क्सवाद कहता है—न्याय और परोपकार में भी स्वार्थ की भावना रहती है।" इस सम्बन्ध में यशपालजी को नहीं तो साधारण हिन्दी-पाठकों को

शुक्लजी में बहुत-कुछ सोचने की सामग्री मिलेगी।

प्रोफेसर प्रकाशचन्द्र गुप्त को शुक्लजी के जनवादी तत्त्वों से काफी सहानुभूति है। इस विषय पर लेख छापने के लिए मुझे नहीं तो 'नया पथ' को उन्होंने आशीर्वाद दिया है। साथ ही उन्हें आपत्ति है कि 'नया पथ' के लेख में शुक्लजी की सीमाएँ नहीं बतलाई गयी। इस सम्बन्ध में उन्होंने शुक्लजी की छायावाद-सम्बन्धी आलोचना का हवाला दिया है और लिखा है : "छायावाद की ऐतिहासिक भूमि को शुक्लजी अन्तकाल में ही समझ रहे थे।" गुप्तजी ने जो आलोचना उद्धृत की है, उसे शुक्लजी ने कभी वापस नहीं लिया। वह स्वप्निल क्रान्ति और विचारों में बच्चों की साँस का बराबर विरोध करते रहे और गुप्तजी भी छायावाद के इस रूप का थोड़ा विरोध करते तो उनकी आलोचना कुछ जानदार होती। खास तौर से पंत का सौंदर्यवादी रूप पहचानना शुक्लजी से सीखना चाहिए। रही जमीदारों से सहानुभूति की बात, उसका पुस्तक में यथास्थान उत्तर मैंने दे दिया है। एक बात मेरी समझ में नहीं आयी। गुप्तजी का कहना है : "चौहान और नामवरसिंह शुक्लजी की ही परम्परा का विकास कर रहे है।" शिवदानसिंह चौहान और नामवरसिंह शुक्लजी पर एकांगी समाजशास्त्री होने का आरोप लगा चुके हैं। यदि इसी परम्परा का वे विकास कर रहे हो तो मै नहीं जानता लेकिन शुक्लजी का एकांगी समाजशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह मैंने पुस्तक में यथाप्रसंग दिखा दिया है। किसी की परम्परा के विकास का दावा करने के पहले उसे समझ लेना भी जरूरी है। आशा है, प्रोफेसर प्रकाशचन्द्र गुप्त को इस कार्य में मेरे इस क्षुद्र प्रयत्न से भी थोडी बहुत सहायता मिल सकेगी।

गोकुलपुरा, आगरा
१७-४-१९५५

—रामविलास शर्मा

साहित्य और लोक-जीवन

"मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।"
—चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ. १२२।

"सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय मे हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।"—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. २२७।

"ज्ञानेन्द्रियों मे समन्वित मनुष्य-जाति जगत् नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र में छोड दी गयी है। न जाने कब से वह इसमे बहती चली आ रही है। इसी की रूप-तरंगो से ही उसकी कल्पना का निर्माण और इसी की रूपगति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।...सुन्दर, मधुर, भीषण या क्रूर लगनेवाले रूपों या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नही। सौन्दर्य की भावना जगना सुन्दर-सुन्दर वस्तुओ या व्यापारो का मन मे आना ही है।"—रस-मीमांसा, पृ. २५६।

इधर हिन्दी-साहित्य का नया इतिहास लिखने और हिन्दी में साहित्य-शास्त्र रचने की काफी चर्चा हुई है। इस चर्चा मे दिल्ली की 'आलोचना' ने विशेष योग दिया है। हिन्दी-साहित्य के नये इतिहास की आवश्यकता है। सन् '४० के बाद हिन्दी मे जो साहित्य रचा गया है, पिछले साहित्य पर जो रिसर्च का काम हुआ है, उस सबको समेटकर हिन्दी-साहित्य का एक भरा-पूरा इतिहास जरूर लिखा जाना चाहिए। आलोचना के सिद्धान्तों के बारे मे हमारी जानकारी बढ़े, उनसे साहित्य को परखने और नया साहित्य रचने मे सहायता मिले, यह भी वाछनीय है। लेकिन ये दोनों काम शुक्लजी की विरासत के आधार पर ही हो सकते है। इन दोनों क्षेत्रों मे शुक्लजी ने उल्लेखनीय कार्य किया है, यह सभी मानते है। लेकिन 'आलोचना' के अधिकांश लेखकों को इतिहास-लेखन और शास्त्र-चर्चा

दोनों में शुक्लजी एक बहुत बड़ी बाधा के रूप में खड़े दिखायी देते हैं। वे शुक्लजी की विरासत को आधार नही बनाते, आधार बनाने की बात भी नही करते, वे अपने रास्ते से इस विरासत को हटा देना अपना परम कर्त्तव्य समझते है। इसलिए शुक्लजी के आलोचना-सिद्धान्तों का मूल्यांकन आवश्यक है. उनकी विरासत को पहचानना, उसके विरोधियों के तर्कों की परीक्षा करना एक समयोपयोगी कार्य है।

शुक्लजी पर पहला आरोप यह है कि उनका दृष्टिकोण एकांगी समाज-शास्त्रीय है। 'आलोचना' नं. ४ अक्तूबर १९५२ मे श्री शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है :

"शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से तो इतिहास नहीं लिखे गये, लेकिन न्यूनाधिक मात्रा मे एकांगी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण आचार्य शुक्लजी से लेकर आज तक अपनाये जाते रहे हैं, चाहे ये समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय विचारधारा से प्रेरित हों या मार्क्सवादी विचारधारा से।"

श्री नामवरसिंह ने इसी अंक मे ऊपर की बात यों कही है : "शुक्लजी के इतिहास मे सामाजिक परिस्थितियाँ तथा साहित्यकार साथ-साथ रखे जाने पर भी एक-दूसरे से अलग हैं।" स्वय शुक्लजी का ऐतिहासिक सम्बन्ध परिस्थितियों से जोड़ते हुए श्री नामवरसिंह ने लिखा है, "राष्ट्रीय आन्दोलन का वह गांधीयुग था जिसमे व्यक्ति और समाज में यथोचित घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो सका था।"

'आलोचना' के इसी अंक में श्री रांगेय राघव ने अपना यह मत प्रकट किया है कि "आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा है।"

'आलोचना' के एक ही अंक मे तीन ऐसे लेखो का छपना, जिनमे शुक्लजी के बारे मे एक ही मत का प्रतिपादन हो, आकस्मिक नही कहा जा सकता।

जुलाई सन् '५३ की 'आलोचना' मे डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य-मीमांसा पर अपना यह विचार प्रकट किया है : 'हिन्दी का आधुनिक साहित्यशास्त्र अथवा समालोचनाशास्त्र सम्बन्धी साहित्य अंग्रेजी के चार-छः चुने हुए ग्रन्थो का सार है, न इस विषय के संस्कृत अथवा रीतिकालीन साहित्य से ही इसका सम्बन्ध है और न वास्तविक हिन्दी ललित साहित्य से ही।"

अक्तूबर '५३ की 'आलोचना' मे श्री शिवनाथ आचार्य शुक्ल की सीमाएँ बतलाते हुए कहते है, "जिनसे उनका मत विशेष प्रकार से मिलता है वे प्रायः ईसा की १९वी सदी के अन्त और बीसवी सदी के आरम्भ के विचारक है। वे प्रायः मध्यवर्गीय और यत्र-तत्र मध्यकालीन सस्कृति के हिमायती है। आचार्य शुक्ल की रुचि भी ऐसी ही संस्कृति पर है, यथार्थ विवेचना यह कहने से न हिचकेगी।"

शुक्लजी की विरासत का मूल्यांकन और उसकी रक्षा क्यों महत्त्वपूर्ण है, यह दिखाने के लिए ऊपर के उद्धरण काफी है।

काव्य के बारे में अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि और रस—ये चार सम्प्रदाय

यहाँ प्रचलित रहे हैं। इनमें से शुक्लजी का सम्बन्ध रस सम्प्रदाय से है। भरत से उन्होंने रस-निष्पत्ति का सिद्धान्त लिया है, लेकिन संस्कृत के आचार्यों की रस-सम्बन्धी व्याख्याएँ उन्हें मान्य नहीं है।

रस को आनन्द-स्वरूप कहा गया है। शुक्लजी इस बात का विरोध नहीं करते कि रस आनन्द भी देता है। लेकिन उनका तर्क है कि रस आनन्दस्वरूप है तो काव्य का उद्देश्य क्या है? केवल आनन्द? आनन्द को काव्य का चरम लक्ष्य मानने का अर्थ है, "मार्ग को ही अन्तिम गंतव्य स्थान" मान लेना। (रस-मीमांसा, पृ. २७)

शुक्लजी का दूसरा तर्क यह है कि साहित्य में क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि भाव अपना सहज रूप छोड़ नहीं देते; इसीलिए जब हम कोई दुःखान्त कथा पढ़ते हैं तो चित्त में खिन्नता बनी रहती है। काव्य से मनुष्य के हृदय में क्रोध, शोक आदि भाव जाग्रत होते है। इसलिए लोकोत्तर आनन्द कहने से इसकी व्याख्या नहीं होती। शुक्लजी कहते हैं:

"मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर', 'अनिवर्चनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके वाचकत्व का परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित होता है। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते है, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते!...इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।" (रस-मीमांसा, पृ. १०१)

मानव-जीवन में भावों का प्रकृत रूप साहित्य में आकर बदल नहीं जाता—शुक्लजी के तर्क की यह आधारशिला है। साहित्य के सम्बन्ध में जितनी भाववादी (आइडियलिस्ट) मान्यताएँ हैं, वे साहित्य को जीवन से अलग करके देखती है। शुक्लजी की मौलिक मान्यता यह है कि साहित्य के भावों और जीवन के भावों में बुनियादी अन्तर नहीं है। क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा की अनुभूति आनन्दमय होती है, वह यह नहीं मानते। वह स्पष्ट कहते हैं कि इनकी अनुभूति दुःखात्मक होती है। जो लोग कहते है कि आनन्द में भी आँसू आते हैं यानी करुणरस से सुख के आँसू आते है, दुख के नहीं, वे बात टालते है। करुणरस प्रधान नाटक के "दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं।" (उप., पृ. २७३)

शुक्लजी ने यहाँ पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के भाववादी विचारकों को चुनौती दी है। साहित्य से आनन्द ही मिलता है, यह मानकर वे सब विचारक चले है। करुणरस या ट्रैजेडी से भी क्यों आनन्द ही मिलता है, इस पर उन्होंने अलग-अलग मत दिये है। लेकिन मूल अनुभूति आनन्द की है, इसमें उन्हें सन्देह नहीं। शुक्लजी जीवन और साहित्य के भावों में बुनियादी अन्तर नहीं मानते, इसलिए वे रस को भी अलौकिक नहीं मानते। इतना ही नहीं, वह रस की स्थिति साहित्य से अलग लौकिक जीवन में भी मानते है। यद्यपि जीवन के अनेक व्यापारों में हम नित्य ही नीरसता और सरसता का अनुभव करते रहते है, फिर भी भाववादी

विचारकों ने रस को साहित्य तक सीमित करके उस जीवन में अनुभूत रस से एकदम अलग कर दिया था। शुक्लजी की कसौटी यह है कि जब हम क्रोध या भय को "लोक से सम्बद्ध देखेंगे तब हम रसभूमि की सीमा के भीतर पहुँचे रहेगे।" (उप., पृ. २७३)। जीवन और साहित्य के परस्पर अटूट सम्बन्ध का यही परिणाम निकलेगा। रस लौकिक है; लौकिक जीवन मे भी रस है। लोक-जीवन की ठोस धरती पर पैर रोपकर आचार्य शुक्ल ने इस सिद्धान्त की घोषणा की कि लोक-हृदय मे लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी ने शब्द पुराने लिये है लेकिन उनकी स्थापनाएँ उनकी अपनी हैं, मौलिक और क्रान्तिकारी है। लोक-हृदय मे लीन होने की कसौटी रखकर उन्होंने हर तरह की संकुचित व्यक्तिवादी और भाववादी धारणाओ से साहित्य को मुक्त करके उसे सामाजिक जीवन का एक अंग बना दिया है। इसलिए लोक-हृदय, लोक-मंगल या लोक-हित को दरकिनार करके साहित्यकार आगे नहीं बढ़ सकता। वह किसी भी तरह के भाव प्रकट करके, किसी भी तरह रस-निष्पत्ति करके अपना पीछा नही छुड़ा सकता। प्राचीन रसवादियों से शुक्लजी का यह महत्त्वपूर्ण मतभेद है।

भाववादी साहित्यशास्त्रियों की एक विशेषता यह है कि वे भावों को उनके आधार से अलग करके देखते है। शुक्लजी भावो को उनके आधार से अलग करके नही देखते; वे साहित्य मे उनके आधार के चित्रण को ही सबसे महत्त्वपूर्ण समझते है। वे कहते हैं: "भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और सबसे आवश्यक काम है।" (उप., पृ. १०६)

रूढिवादी शास्त्र से यह उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण मतभेद है। मानव-जीवन से अलग भाव की शाश्वत सत्ता नही है; इसलिए मानव-जीवन का चित्रण ही मुख्य कर्त्तव्य है। यहाँ शुक्लजी पश्चिम के उन तमाम भाववादियों का खण्डन करते हैं जो मानव-जीवन से परे एक अव्यक्त सौन्दर्य की सत्ता मानते है जिसकी झलक ही कभी-कभी इस संसार मे दिखायी देती है। शुक्लजी वस्तुओं से अलग उनके गुणों की कल्पना नही करते।

इस लेख के आरम्भ में दिये हुए उद्धरणों से पता चलता है कि वह जगत् को सत्य मानते हैं, मिथ्या नही। संसार उनके लिए अपार और अगाध रूप समुद्र है। मनुष्य के भीतर भावों का विधान इसी वस्तुगत यथार्थ से हुआ है। मनुष्य के भाव उसकी निजी सृष्टि नही हैं, उनकी अपनी वस्तुगत सत्ता है। इसी तरह संसार के रूपों या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य की स्थिति नही है। यहाँ प्लेटो के पग-चिह्नों पर चलनेवाला योरप का तमाम भाववादी साहित्यशास्त्र निरुत्तर हो जाता है, क्योंकि उसकी मूल स्थापना सौन्दर्य की निरपेक्ष सत्ता, रूपमय जगत् से परोक्ष सत्ता की स्वीकृति ही है। लेकिन शुक्लजी मानव-सत्ता के ज्ञान को भी लोकबद्ध मानते हैं। उनके लिए ज्ञान इस वास्तविक जगत् ही का होता है, किसी रहस्यमय

आध्यात्मिक शक्ति का नही। बीसवी सदी मे योरप की देखा-देखी भारत में अध्यात्मवाद की बराबर चर्चा होने पर शुक्लजी ने चिढ़कर कहा था, "अध्यात्म' शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कोई जरूरत नही है।" (रस-मीमासा, पृ. ६९)

आचार्य शुक्ल रस-दशा को लोक-हृदय मे लीन होने की दशा कहते हैं। लेकिन यह कोई निष्क्रिय दशा नही है। भावों का काम है—मनुष्य को कर्मो मे प्रवृत्त करना। वह उन लोगों का खण्डन करते हैं जो कहते हैं कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उससे अकर्मण्यता पैदा होती है (उप., पृ. २२)। भाव की प्रतिष्ठा से "कर्म क्षेत्र का विस्तार बढ़ गया है।" (उप., पृ. १६४)। शुक्लजी ने भाव को कर्म से अलग करके देखा ही नहीं है। उनके अनुसार भाव उस चित्त-विकार को कहते हैं "जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मो की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध संघटित हों।" (उप., पृ. १६८)

विषय का ज्ञान, सुख-दुख की अनुभूति और कर्म की प्रेरणा—ये सब एक साथ जुड़ी होती है। इन क्रियाओ के समुच्चय का नाम ही भाव है। प्राचीन साहित्य-शास्त्री स्थायी भावो को रस रूप मे प्रकट करके साहित्यिक प्रक्रिया का अन्त निष्क्रियता मे कर देते थे। शुक्लजी ने भाव की मौलिक व्याख्या करके निष्क्रिय रस-निष्पत्ति की जड़ काट दी है।

इधर हिन्दी में कुछ कलावादियों ने ज्ञानहीन, कर्महीन आनन्द के आधार पर पूर्व और पश्चिम की पटरी बिठाने की कोशिश की है। हिन्दी में 'कला कला के लिए' इस घिसे-पिटे नारे को फिर बुलन्द करके वे इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप देने का दावा करते है। शुक्लजी ने पश्चिम के इन कलावादियों का खण्डन किया है। वह थियोडोर वाट्स डंटन की तब प्रशंसा करते है, जब वह काव्य को शक्ति मानता है। वह उसकी निन्दा करते है, जब वह काव्य को शुद्ध कला मानता है (उप., पृ. ५७)। योरप मे प्रत्यक्ष अनुभूति से काव्य की अनुभूति को अलग किया गया, कल्पना को एक स्वतन्त्र शक्ति मानकर उसे दूसरी सृष्टि रचनेवाली कहा गया। शुक्लजी इन धारणाओं का खण्डन करके कहते है कि "सारे वर्ण और सारी रूपरेखाएं जिनसे कल्पित मूर्ति-विधान होता है, बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष बोध से प्राप्त हुई हैं।" (उप., पृ. २९९)। इस तरह 'कल्पना' मनुष्य के वास्तविक जीवन को प्रतिबिम्बित करती है, वह वास्तविक जीवन से निरपेक्ष एक स्वतन्त्र संसार नहीं रचती।

पश्चिमी कलावादियो की तरह शुक्लजी साहित्य को मनुष्य की क्रीड़ा-वृत्ति (प्ले इम्पल्स) का परिणाम नही मानते (उप., पृ. २६५)। फ्रायड आदि पश्चिमी मनोविश्लेषण के आचार्यो की काम-वासना और स्वप्न-सम्बन्धी स्थापनाओं को वह नही मानते (उप., पृ. २६४)। हिन्दी में अनेक आलोचक फ्रायड को पिण्डदान करके काव्य को अतृप्त कामवासना की काल्पनिक पूर्ति बतलाते है।

उनका विरोध करने के लिए शुक्लजी के विचार आज भी अपनी प्रगतिशील भूमिका पूरी कर रहे हैं।

काव्य आत्मा है, काव्य एक अखण्ड तत्त्व या शक्ति है जिसकी गति अमर है, इस तरह की ब्रैडले, मैकेल आदि की भाववादी स्थापनाओं का उन्होंने खण्डन किया है (उप., पृ. २६६)। शुक्लजी ने योरप के अभिव्यंजनावादियों का विरोध किया जो काव्य के वास्तविक आधार को ही अस्वीकार करते थे (उप., पृ. ३३६)। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नाम के निबन्ध में उन्होंने विस्तार से इटली के भाववादी विचारक क्रोचे की मार्मिक समीक्षा की है। क्रोचे 'कल्पना मे उठे हुए रूपों की प्रतीति मात्र को' ज्ञान कहता है (चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ. १६८)। शुक्लजी कहते हैं कि इस तरह ईसाई सन्तों को भी आध्यात्मिक आभास हुआ करते थे; लेकिन ये आभास, कल्पना की प्रतीतियाँ हैं, ज्ञान नही है। वह फ्रांसीसी विचारक बर्गसाँ की ऐसी ही स्थापना का खण्डन करते हैं कि कल्पना-रूपी स्वयं-प्रकाश ज्ञान हमें पारमार्थिक ज्ञान देता है (उप., पृ. १६६)। क्रोचे की मुख्य कमजोरी यह है कि वह रूपों को संसार से अलग आत्मा की उपज मानता है। शुक्लजी कहते हैं कि ये सब बाह्य-जगत् मे ही प्राप्त किये हुए रूप है (पृ० २००)। क्रोचे के तमाम तर्कजाल का सार-तत्त्व है—कला कला के लिए। शुक्लजी ने उसका वाग्जाल छिन्न-भिन्न करके यह सारतत्व प्रकट कर दिया है। भारतीय साहित्य की तमाम प्रगतिशील परम्पराओं को अपना आधार बनाकर उन्होंने क्रोचे और उसके आगत-अनागत पूर्वी-पश्चिमी अनुयायियों को ललकारते हुए कहा था :

' काव्य को हम जीवन से अलग नही कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालनेवाली वस्तु मानते है। 'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या, कई क्रोचे उसे फिर जिला नही सकते।" (उप , पृ. २०१)

शुक्लजी ने पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के भाववादी साहित्यशास्त्रियों की इन धारणाओं को निर्मूल किया कि काव्य का उद्देश्य केवल आनन्द देना है, उसकी अनुभूति जीवन की अनुभूति से मूलत. भिन्न होती है, कल्पना ससार के रूपों से परे अपना एक नया संसार रचती है। उन्होने रस को काव्य की आत्मा माना लेकिन लोक-हृदय मे लीन होने को रस-दशा कहा, ज्ञान को वास्तविक जगत् की सत्/ पर निर्भर बताया, साहित्यशास्त्र से अवैज्ञानिक रहस्यवादी कल्पनाओं को बाहर किया, काव्य के भाव-योग की परिणति लौकिक जीवन के कर्मयोग मे की। इस तरह उन्होंने हिन्दी में एक मौलिक साहित्यशास्त्र की नीव डाली, जो प्राचीन रूढ़िवाद और पश्चिमी कलावाद से स्वतन्त्र ही नही है, उनका तीव्र विरोधी भी है। शुक्लजी की इन मान्यताओं के आधार पर ही आज की हिन्दी आलोचना प्रगति-पथ पर आगे बढ सकती है।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में पहली बार जमकर रीति-ग्रन्थों का विरोध किया, साहित्य पर उनके घातक प्रभाव का उल्लेख किया। कुछ खास तरह के नायकों,

नायिकाओं, उद्दीपनों आदि के भीतर साहित्य को बाँध रखने के प्रयास का विरोध करते हुए उन्होंने कहा : "जिस प्रकार बाह्य दृश्यों के अनन्त रूप हैं उसी प्रकार मनुष्य की मानसिक स्थिति के भी···विविध प्रवृत्तियों के मेल में संघटित जो अनेक स्वभाव के मनुष्य दिखायी पड़ते हैं उनके स्पष्टीकरण के लिए मानव-प्रकृति के अन्वीक्षण की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता उक्त चार प्रकार के ढाँचे तैयार मिलने से पिछले कवियों में न रह गयी।" (रस-मीमांसा, पृष्ठ ९५)

रीतिग्रन्थों के विरोध का मूल सूत्र यही है--मानव-प्रकृति की विविधता। शुक्लजी यथार्थवाद की भूमि से रीति ग्रन्थों की कृत्रिमता दिखाते है। उनका आग्रह साहित्य को यथार्थ जीवन के निकट लाने के लिए है, उसे सच्चा और स्वाभाविक बनाने के लिए है। जिस तरह १९वी सदी के आरम्भ मे अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों ने पुराने दरबारी साहित्यशास्त्र का ताना-बाना नष्ट करके अंग्रेजी काव्य की आत्मा को मुक्त किया था, उसी तरह आचार्य शुक्ल ने रीतिग्रन्थो के बन्धनों को तोड़कर हिन्दी-साहित्य की आत्मा को मुक्त किया। अन्तर केवल इतना है कि अंग्रेजी रीतिग्रन्थों का ताना-बाना बहुत हल्का था और यहाँ के रीतिग्रन्थों का जाल उससे कही अधिक जटिल था, उधर अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों ने अपना आक्रमण बहुधा भाववाद को आधार बनाकर किया था, शुक्लजी ने यह काम मूलत: वस्तुवाद की ठोस धरती से किया।

शुक्लजी ने दिखाया कि नायकों की तरह नायिकाओ के भेद गिनाकर साहित्य मे नारी-चरित्र के साथ खिलवाड किया गया। मौलिकता का ह्रास हुआ। लीक पीटनेवालों की संख्या बढती गयी। कविता खुशामद और दिल-बहलाव की चीज हो गयी। शुक्लजी ने अपने साहित्य-सिद्धान्त हवा मे नही बनाये, न वे सिद्धान्त केवल निषेधात्मक है। उन्होने भारतवर्ष के चार महाकवियो--वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसीदास--को अपना आदर्श और आधार बनाया। इनके प्रकृति वर्णन को, इनकी लोक-हृदय मे लीन होने की दशा को अपनी कसौटी मानकर वह हिन्दी-सस्कृत के आचार्यों के अवैज्ञानिक सिद्धान्तों और अस्वाभाविक कृतियों की आलोचना करते हैं। साहित्य में सदियों से प्रतिष्ठित शृंगार-रस को एक कोने में ठेलते हुए उन्होंने 'भावमूर्ति भवभूति' के महामन्त्र 'एको रस: करुण एव' का फिर पाठ किया। भवभूति का जन्म ऐसे समय में हुआ था जब देश में चारों ओर दरबारी साहित्य का बोलबाला था। इसलिए उस महाकवि ने क्षुब्ध होकर कहा था—"जो मेरे काव्य की उपेक्षा करते हैं, करें; वे भी कुछ जानते होंगे लेकिन उनके लिए मैंने यह नही लिखा; काल अनन्त है, पृथ्वी विशाल है, मेरा भी कोई समानधर्मा कही होगा या आगे पैदा होगा।"

आलोचना के क्षेत्र मे भवभूति के समानधर्मा आचार्य शुक्ल हैं, जैसे काव्य मे उनके समानधर्मा महाकवि निराला है। शुक्लजी ने साहित्य मे वाल्मीकि और भवभूति की परम्परा को फिर जगाया। उन्होने मंगल का विधान करने वाले दो भाव ठहराये—करुणा और प्रेम। इनमे भी भारतीय महाकाव्यों को देखते हुए

करुणा को ही उन्होंने बीजभाव माना। प्रेम की अपेक्षा उन्होंने करुणा को और व्यापक बतलाया। जिससे प्रेम हो, उसी के लिए करुणा जागे, यह आवश्यक नहीं है। करुणा प्रेम से स्वतन्त्र है। "हमारे यहाँ के कवियों ने लोक-रक्षा के विधान में करुणा को ही बीजभाव रखा है।" (रस-मीमांसा, पृ. ७६)। शुक्लजी की करुणा निष्क्रिय करुणा नहीं। करुणा के विरोधी भाव क्रोध से वह उसका समन्वय करते हैं। यह क्रोध व्यक्तिगत हो तो त्याज्य है। जो क्रोध लोक-रक्षा के लिए किया जाय, वह उचित और आवश्यक है। वह कहते हैं, "क्षमा जहाँ से श्रीहत हो जाती है वहीं से क्रोध में सौन्दर्य का आरम्भ होता है!" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. १३७)। शिशुपालवध के लिए उद्यत कृष्ण और रावण-वध के लिए उद्यत राम की मूर्तियों का स्मरण करके वह सक्रिय प्रतिरोध के लिए ललकारते हैं। वाल्मीकि, व्यास, तुलसीदास आदि महाकवियों की इस सच्ची मानवतावादी परम्परा के आधार पर उन्होंने रीतिग्रन्थों में प्रतिपादित करुणा का टाट उलट दिया। करुणा का नाम पुराना है, शुक्लजी ने उसे एक नये अर्थ में दीक्षित कर दिया है।

इसी तरह शुक्लजी ने वीर रस के स्थायी भाव उत्साह का क्षेत्र भी व्यापक कर दिया है। वैज्ञानिक अनुसन्धान, अगम स्थानों की यात्रा, कुरीतियों के विरोध आदि में उन्होंने उत्साह की व्यापकता दिखाकर उसे सामन्ती युद्धों के तथाकथित वीर-रस की परिधि से बाहर निकाल लिया है। कर्ममय जीवन में उसका सर्वत्र प्रसार दिखाकर वह कहते हैं, "कर्ममात्र के सम्पादन में जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है।" (उप. पृ. ६)। इस तरह शुक्लजी ने आनन्दमय क्रियाओं से उत्साह का सम्बन्ध जोड़कर रीतिग्रन्थों के उत्साह का रूप बदल दिया है। हास्य-रस में आलस्य और निद्रा को जो सचारी भाव कहा गया था, उसे शुक्लजी की जिन्दादिली स्वीकार न कर सकी। "आलस्य के वर्णन को किसी भाव का सचारी मानना मेरी समझ में ठीक नहीं।" (रस-मीमांसा, पृ. २२५)

शुक्लजी ने स्थायी भावों की जो नयी व्याख्या की है, उसका कारण वही मानव-जीवन और मानव-स्वभाव की विविधता है, उनकी व्याख्या का आधार वही यथार्थ जीवन का प्रेम है। इसी कारण अलंकारवादियों से उनकी नहीं पटती। अलंकार वर्णन की प्रणालियाँ है, वर्ण्य विषय नहीं (उप., पृ. ५०)। काव्य में उन्हें प्रधानता नहीं दी जा सकती। जो अलंकार वर्ण्य वस्तु का निर्देश करें, उन्हें अलंकार मानने से उन्होंने इनकार किया। उन्होंने अलंकारों की यह व्याख्या की है: "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिकाधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है।" (उप., पृ. ३५८)। अलंकारों का प्रयोग कैसे होना चाहिए, इसकी मिसालें उन्होंने कालिदास आदि कवियों से दी है। अलंकारों को प्रधानता देने पर किस तरह के चमत्कारवाद का जन्म होता है, उसकी मिसाले उन्होंने रीतिकालीन कवियों से दी है। बात कहने के लिए बात कहना, उक्ति-चमत्कार दिखाना, अलंकारों के

प्रयोग से लोगों की वाहवाही लूटना शुक्लजी को असह्य है। वह हिन्दी के साथ फारसी, उर्दू और अंग्रेजी में भी इस चमत्कारवाद का विरोध करते हैं। प्रकृति-वर्णन में रीतिकालीन कवियों ने जो प्रकृति को उद्दीपन मात्र बनाकर संकीर्णता दिखायी थी, उसकी तीव्र आलोचना शुक्लजी ने विस्तार से की है और वाल्मीकि और भवभूति के प्रकृति-वर्णन को आदर्श रूप में पेश किया है।

शुक्लजी ने अलंकारों को प्रधानता देनेवाले शास्त्र पर और चमत्कारों और उक्ति-सौन्दर्य के काव्य पर जो प्रहार किये हैं, वह नये भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। सदियों से सामन्त वर्ग ने साहित्य को अपने मनोरंजन का साधन बना रखा था, साहित्यकारों को अपना क्रीतदास कर रखा था। मध्यकाल के सन्तकवियों ने इस सामन्ती चाकरी के विरोध में लोक-साहित्य की नींव डाली थी। शुक्लजी ने नये भारत की संस्कृति के उत्थान के लिए सन्त कवियों के जनवादी तत्त्व लिये, उनसे पहले के संस्कृत कवियों से करुणा और सक्रिय प्रतिरोध के भाव लिये। उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी, तीनों ही में चमत्कारवाद, शुद्ध कलावाद का विरोध करके और साहित्य की लौकिकता का प्रतिपादन करके उन्होंने भारतीय संस्कृति के जनवादी रूप को प्रतिष्ठित करने में योग दिया। शुक्लजी का दृष्टिकोण सामंतविरोधी है, इसीलिए वह असहिष्णु हैं। उनकी आलोचना सामन्ती संस्कृति के प्रेमियों के लिए ललकार है। वह जनता का पक्ष लेकर एक नयी संस्कृति के लिए लड़नेवाली आलोचना है। साहित्य में तटस्थता, जनता के प्रति उदासीनता, शुद्ध कला और शुद्ध कल्पना के हामियों को शुक्लजी का यह लड़ाकू रूप पसन्द नहीं। लेकिन इसीलिए वह हमारे साहित्यिक विकास के लिए इतना महत्त्वपूर्ण है।

शुक्लजी ने यही न देखा था कि उनके समय का सामन्ती वर्ग निकम्मा है, उन्होंने यह भी देखा था कि कई सौ वर्ष पहले अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी करके यह वर्ग कभी का जर्जर हो चुका था। यह वर्ग देश-रक्षा और वीरत्व का ठेका लेता था लेकिन देश की रक्षा करने में असमर्थ रहा था। राजा भोज के बारे में उन्होंने लिखा है : "भोज ऐसे राजा बात बनानेवाले खुशामदियों को कवि कहकर लाखों का पुरस्कार देने लगे। उसी भोज की तारीफों के पुल बाँधनेवाले—उसके प्रताप को सूर्य से भी बढ़कर बतानेवाले—चारों ओर से आते थे जिसके सामने ही विदेशी इस देश में आकर भारतीयों की इतनी दुर्दशा करने लगे थे।" (रस-मीमांसा, पृ. ९९)। रीतिकालीन कवि सामन्तों के हाथ किस तरह बिक गये थे, उसका व्यंग्यपूर्ण चित्र खींचते हुए शुक्लजी ने लिखा है :

"हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं के यहाँ राजाओं की काम-वासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे ! एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज का रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे।" (उप., पृ. २८)। शुक्लजी का व्यंग्य तिलमिला देनेवाला है क्योंकि

उनका दृष्टिकोण राजा-रईसों के प्रति सहानुभूति पर निर्भर नहीं है। वह सामन्ती वर्ग के निठल्लेपन और उसके चाटुकार साहित्यिक वर्ग की मकरध्वजवादी वास्तविकता प्रकट कर देता है।

सामन्तों के हाथों कविता की जो दुर्दशा हुई है, उसके बारे में शुक्लजी क्रोध के साथ लिखते हैं :

"कविता पर अत्याचार भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने उसका गला दबाकर कहीं अपात्रों की आसमान पर चढ़ानेवाली स्तुति करायी है, कही द्रव्य न देनेवालों की निन्दा। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं।" (रस-मीमांसा, पृ. ५३)

इस तरह वर्ग शब्द का प्रयोग न करके भी शुक्लजी ने बहुत अच्छी तरह रीतिकालीन साहित्य का वर्ग-आधार स्पष्ट कर दिया है। वर्गों से परे उन्होंने शुद्ध कलावाद के आधार पर इस साहित्य का सौन्दर्य-निरूपण नहीं किया। यही बात शुद्ध कलावादियों के लिए एकांगी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण है।

शुक्लजी सामन्ती संस्कृति के ही विरुद्ध नहीं हैं, वे यूरोप की बर्बर साम्राज्यवादी संस्कृति का भी विरोध करते हैं। मध्यकालीन आक्रमणकारियों से यूरोप के व्यापारियों की तुलना करते हुए शुक्लजी ने लिखा है : "पुरानी चढ़ाइयों की लूट-पाट का सिलसिला आक्रमणकाल तक ही, जो बहुत दीर्घ नहीं हुआ करता था, रहता था। पर यूरोप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ़, जटिल और स्थायी प्रणालियाँ प्रतिष्ठित कीं जिनके द्वारा भूमण्डल की न जाने कितनी जनता का रक्त चुसता चला जा रहा है—न जाने कितने देश चलते-फिरते कंकालों के कारागार हो रहे हैं।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. १२६)

निःसन्देह आचार्य शुक्ल का हृदय साम्राज्यवादी उत्पीड़न से व्यथित था। इस उत्पीड़न के प्रति वह तटस्थ नहीं थे। प्रेमचन्द के साथ उन्होंने बिना किसी दुविधा के उसकी निन्दा की, उसका जघन्य राक्षसी रूप जनता के सामने प्रकट किया। कांग्रेसी नेता रूस के साम्राज्य-विरोधी साहित्य को सोद्देश्य (टेन्डेंशस) कहकर रेलवे स्टालों से उसका बहिष्कार करा रहे हैं। उन्हें चाहिए कि शुक्लजी की आलोचना से भी ऐसे तमाम सोद्देश्य स्थल निकाल दें क्योंकि उनसे लोगों को याद आयेगा कि भारत आज भी कंकालों का कारागार है और इसका कारण कांग्रेस-राज है, कांग्रेसी नेताओं को उन्हीं व्यापारियों से प्रीति है, जिनकी आचार्य शुक्ल ने रोषपूर्ण शब्दों में निन्दा की थी।

शुक्लजी ने साम्राज्यवादी उत्पीड़न का ही विरोध नहीं किया, उन्होंने पश्चिमी देशों की संस्कृति के मूल सूत्र व्यक्तिवाद को भी पकड़ा और दिखाया कि किस तरह बीसवीं सदी में वह पतन की सीमा तक पहुँच गया है। उन्होंने इसकी शुरुआत रिनैसैंस काल से ही—यानी पूंजीवाद के अभ्युदय-काल से ही—दिखलायी है। रोमांटिक आन्दोलन के बाद यानी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यह व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति कितनी विकृत हो गयी और साहित्य के साथ कैसा खिलवाड़ करने

लगी, यह उन्होंने इन्दौरवाले भाषण में विस्तार के साथ दिखलाया है। इस तरह उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की भोंड़ी और प्रगतिविरोधी प्रवृत्तियों की ओर से हिन्दी-प्रेमियों और लेखकों को सावधान किया है। उन्होंने यूरोप के अबुद्धिवादियों का मजाक बनाया है जो समझते हैं कि अच्छे काव्य न बनने का कारण बुद्धि का बढ़ जाना है।

इस तरह के अबुद्धिवादी हिन्दी साहित्य में भी हैं। पश्चिमी साहित्य के निराशावादियों से हमें सावधान करते हुए शुक्लजी कहते हैं, "वर्तमान अंग्रेजी साहित्य-क्षेत्र में उनके नैराश्य में योग देनेवाले हैं मि. हाउसमन और इलियट। ये लोग केवल समय-समय पर अपनी कुढ़न और बौखलाहट-भर प्रकट कर देते हैं।" (चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ. २२७)

शुक्लजी की चेतावनी कितनी सामयिक थी, यह इधर के नये कवियों और कुछ पुराने लेखकों पर इलियट के प्रभाव को देखकर समझा जा सकता है। अज्ञेय और नये प्रयोगवादी कवियों की विषय-वस्तु उनकी कुढ़न और बौखलाहट ही व्यक्त करती है। कविता के रूप को विकृत करने में तो ये सब इलियट के भी गुरु हैं।

शुक्लजी को अंग्रेजी से चिढ़ न थी। अंग्रेजी साहित्य की हर बात का विरोध करना प्रतिक्रियावाद की निशानी है। आलोचना में शुक्लजी को रिचार्ड्स का सिद्धान्त पसन्द था कि साहित्य की अनुभूति और प्रत्यक्ष जगत् की अनुभूतियों में मौलिक अन्तर नहीं है। लेकिन उन्होंने रिचार्ड्स के सिद्धान्तों का—जो पूंजीवादी मनोविज्ञान से प्रभावित हैं—समर्थन नहीं किया। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि शुक्लजी ने पश्चिमी आलोचकों द्वारा प्रतिपादित शेक्सपियर की तटस्थता और निरपेक्षता का खण्डन किया है। वाट्स डंटन का हवाला देते हुए उन्होंने कहा है कि हम हैमलेट के बहुत-से भाषणों को अपनाते हैं जिसका अर्थ है कि उनमें शेक्सपियर की ही भावनाएँ प्रकट हुई हैं (रस-मीमांसा, पृ. ३१८)। शेली के लिए उन्होंने लिखा है: "अंग्रेज कवि शेली संसार में फैले पाखण्ड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच सीधे सरल प्रेमभाव के सार्वभौम संसार का स्वप्न देखनेवाले कवि थे।" (उप., पृ. ६०)। इससे यह भी पता चलता है कि शुक्लजी को अंग्रेजी कविता में किस तरह के भाव विशेष प्रिय थे। वर्ड्सवर्थ की भी उन्होंने प्रशंसा की है।

शुक्लजी ने भारतीय सामन्तवाद और यूरोपीय पूंजीवाद की सांस्कृतिक धाराओं का जहाँ खण्डन किया है, वहाँ उन्होंने भारतीय पूंजीवाद की मूल सांस्कृतिक स्थापना—निष्क्रिय प्रतिरोध—का भी खण्डन किया है। पूंजीवादी नेता और लेखक गाँधीवाद की भारतीयता का डंका बहुत पीटते हैं लेकिन गाँधी-वाद की मुख्य स्थापना—निष्क्रिय प्रतिरोध—रूसी लेखक तोल्स्तोय की देन है। यह स्थापना जनता के क्रान्तिकारी विरोध को रोकने में और साम्राज्यवाद से समझौता करने के काम आती है, इसलिए पूंजीवादी नेता और लेखक उसके विदेशी

होने की बात नहीं करते। फिर भी गाँधीजी ने अपने विरोध-प्रदर्शन का ढंग तोल्स्तोय से लिया था, यह उन्हीं की कृतियों से स्पष्ट है। वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास ने अपने चरितनायकों को हमेशा अन्यायी और अत्याचारी का सक्रिय विरोध करते हुए, उसका नाश करते हुए दिखाया। उस परम्परा के उपासक शुक्लजी निष्क्रिय प्रतिरोध का समर्थन कैसे करते? भारतीयता के गाँधीवादी ठेकेदार शुक्लजी के इन शब्दों पर ध्यान दें—

"कर्म-सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करके और कर्म-सौन्दर्य के एक-दूसरे पक्ष में ही—केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही—काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टॉलस्टाय के समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते चले जानेवाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एकमात्र सौन्दर्य नही कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्यकला की पूरी रमणीयता इन दोनों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखायी पड़ती है।" (रस-मीमांसा, पृ. ६४-६५)

लोक के प्रति करुणा से प्रेरित होकर रावण पर चढाई करने वाले राम के 'कालाग्नि सदृश क्रोध' का उल्लेख करने के बाद शुक्लजी आगे कहते हैं: 'काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में नही माना जा सकता जैसा कि टॉलस्टाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचंड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण भाव अव्यक्त रूप मे स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।" (उप., पृ. ६८)

शेली के काव्य 'दि रिवोल्ट ऑफ इस्लाम' का हवाला देते हुए शुक्लजी इसी प्रसंग में कहते हैं: "स्वतन्त्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्तनवादी शेली के महाकाव्य 'दि रिवोल्ट ऑफ इस्लाम' के नायक-नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देनेवाले, गिड़गिड़ानेवाले, अपनी साधुता, सहनशीलता और शान्त वृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करनेवाले नहीं हैं। वे उत्साह की उमंग में प्रचंड वेग से युद्ध-क्षेत्र में बढ़नेवाले, पाखण्ड, लोक-पीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्त्विक तेज से तमतमानेवाले या स्वार्थवश, आततायियों की सेवा स्वीकार करने वालो के प्रति उपेक्षा प्रकट करनेवाले हैं।" (उप., पृ. ६८-६९)

शुक्लजी के इन वाक्यों से प्रकट होगा कि गाँधीवाद राजनीति ही में नहीं, साहित्य के लिए भी कितना हानिकर है! यही कारण है कि निष्क्रिय प्रतिरोध को लेकर हिन्दी में एक अच्छी कविता, एक अच्छी कहानी नहीं लिखी गयी। जहाँ के लोग राम और कृष्ण के उपासक हों, जिन्होंने १८५७ में आततायी अंग्रेजों के रण-

भूमि में छक्के छुड़ा दिये हों, उनमें निष्क्रिय प्रतिरोध की जड़ें कितनी गहरी होंगी ? सर्वश्रेष्ठ गांधीवादी साहित्यकार स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान की सबसे लोकप्रिय कविता थी—झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई पर !

प्रेम द्वारा पाप का नाश किया जाय, इस धारणा को तोल्स्तोय के उपदेशों की प्रतिध्वनि बतलाते हुए शुक्लजी ने लिखा है : "विचारने की बात है कि दूसरों की निरन्तर बढ़ती हुई पीड़ा को देख-देख अत्याचारियों की शुश्रूषा और उनके साथ प्रेम का व्यवहार करते चले जाने में अधिक सौन्दर्य का विकास है, कि करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितों और अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में। हम तो करुणा और क्रोध के इसी सामंजस्य में मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं।" (चिन्तामणि दूसरा भाग, पृ. ५३)

शुक्लजी ने ये शब्द 'काव्य में रहस्यवाद' नाम के निबन्ध में लिखे थे। बीसवी सदी के भारतीय रहस्यवाद में वही निष्क्रिय प्रतिरोध-भावना छिपी हुई थी। इसी को अध्यात्मवाद भी कहा जाता था। शुक्लजी ने इस रहस्यवाद का रहस्य प्रकट करके देश-सेवा का काम किया था। इसी 'अध्यात्म' को उन्होंने साहित्य-संसार से निकाल देने की बात कही थी। आज भी जनता के बढ़ते हुए असन्तोष से भय खाकर पूंजीवादी लेखक 'रूस' और 'भौतिकवाद' को कोसते हुए इस अध्यात्म का स्मरण करते हैं। यह अध्यात्म और निष्क्रिय प्रतिरोध साम्राज्यवाद और भारत के वर्तमान शासक-वर्ग के लिए बहुत ही लाभकारी है। वह साम्राज्यवादी हितों और उससे जुड़े देशी निहित स्वार्थों की रक्षा करने में सहायता करता है। इसीलिए शुक्लजी द्वारा रहस्यवाद और इस अध्यात्म की, तोल्स्तोय-पन्थ की आलोचना का महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ।

शुक्लजी कहते हैं : "जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नयी शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसके वेग की उच्छृंखलता के सामने बहुत-कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृंखल वेग जीवन या जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है।" (रस-मीमांसा, पृ. १६)

ध्वंस-कार्य कुछ समय के लिए ही आवश्यक होता है। उसे जीवन का नित्य नियम होना ही न चाहिए। लेकिन वह क्यों अनिवार्य हो जाता है, यह शुक्लजी ने बहुत स्पष्ट बता दिया है। ध्वंस जब नये निर्माण के लिए आवश्यक होता है, तब उसकी भीषणता भी सुन्दर होती है। शुक्लजी कहते हैं : "लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक-मंगल और लोक-रंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।" (उप., पृ. ५६)

शुक्लजी उन्हीं कवियों को पूर्ण कवि मानते हैं जो "पीड़ा, बाधा, अन्याय,

अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी—पूरी रमणीयता देखते हैं।" (उप. पृ. ५३)

निश्चय ही शुक्लजी की इस क्रान्तिकारी विरासत की ज्यादा जानकारी होनी चाहिए और तत्परता से उसकी रक्षा होनी चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन साहित्यशास्त्र का विरोध किया, साहित्य को धनीवर्ग का सेवक बनने से रोका, उन्होंने सामन्ती संस्कृति और साम्राज्यवादी उत्पीड़न का सच्चा रूप दिखाया, पश्चिमी व्यक्तिवाद और निराशावाद से बचने की चेतावनी दी, निष्क्रिय प्रतिरोध, तोल्स्तोय-पन्थ, रहस्यवाद और अध्यात्म की पुकार का रहस्य प्रकट किया और अन्याय और अत्याचार के दमन में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की। इस तरह उन्होंने साहित्यकार को जनता का पक्ष लेना सिखाया और नये साहित्य में अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी की।

शुक्लजी का दार्शनिक दृष्टिकोण मूलतः वस्तुवादी है। यह जगत् सत्य है। शुक्लजी ने संसार को कहीं भी मिथ्या नहीं कहा। वह उसे रूप-समुद्र कहते हैं। मनुष्य को अपनी सत्ता का ज्ञान भी लौकिक जीवन से होता है। इस तरह ज्ञान का आधार अलौकिक नहीं है। शुक्लजी उसकी अलौकिकता का खण्डन करते हैं, यह उनके ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त का ही परिणाम है। "आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी, पर हृदय ने कभी उसकी परवाह न की।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. २१३)। प्रसादजी की तरह शुक्लजी भी चेतना और प्रकृति में मौलिक भेद नहीं करते। प्रसादजी ने लिखा था : "एक तत्त्व ही की प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।" शुक्लजी के लिए सत्ता एक है। "सम्पूर्ण सत्ता, क्या भौतिक क्या आध्यात्मिक, एक ही परम सत्ता या परम भाव के अन्तर्गत है।" (रस-मीमांसा, पृ. ११८-११९)

फिर भी शुक्लजी का दृष्टिकोण सुसंगत रूप से भौतिकवादी नहीं है। वह यह स्पष्ट नहीं कहते कि विश्व की एकता उसकी भौतिकता में है। वह एक ओर संसार की भौतिकता पर जोर देते हैं और ज्ञान को भौतिक जीवन से ही उत्पन्न मानते हैं; दूसरी ओर वह विश्व-आत्मा और भौतिक जगत् में व्यक्त होनेवाले ब्रह्म की बात भी करते हैं। उनके विचारों में यह एक असंगति है। फिर भी यह विश्व-आत्मवाद उनके साहित्यशास्त्र की मूलधारा नहीं है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। इसीलिए उनके दार्शनिक दृष्टिकोण को मूलतः वस्तुवादी कहना उचित है।

शुक्लजी की तर्क-पद्धति द्वन्द्वात्मक है। वह वस्तुओं और विचारों की गतिशीलता पर जोर देते हैं, पदार्थों के लिए वह बहुधा 'व्यापार' (प्रोसेस) शब्द का प्रयोग इसीलिए करते हैं। सौन्दर्य और मंगल को वह गत्यात्मक कहते हैं और यह सिद्धान्त सामने रखते हैं कि "गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है।" (चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ. ५८)

शुक्लजी की द्वन्द्व-पद्धति विरोधी वस्तुओं की एकता तुरन्त पहचान लेती है। चिन्तामणि (पहला भाग) का पहला वाक्य ही यह है: "अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है।"

इस मूल अनुभूति में सुख और दुख जुड़े रहते हैं। भावों की विवेचना में करुणा और क्रोध, भीषणता और माधुर्य आदि का संयोग दिखाने में उन्हें कठिनाई नहीं होती। वह जड़वादी तर्कशास्त्रियों की तरह यह नहीं कहते कि राम ने रावण पर शस्त्र उठाया, इसीलिए हिंसा हो गयी; वह राम के सात्विक क्रोध के मूल में लोक-रंजन की कामना का उद्‌घाटन करते हैं। साहित्य में केवल असाधारणता की खोज को निंद्य ठहराते हुए वह साधारण और असाधरण की एकता दिखाते हैं। "साधारण के बीच में ही असाधारण की अभिव्यक्ति हो सकती है।" (रस-मीमांसा, पृ. १०३)

शुक्लजी सामन्ती समाज-व्यवस्था के समर्थक नहीं हैं। राजाओं के हाथों काव्य की जो दुर्दशा हुई, उसे उन्होंने उभारकर जनता के सामने रखा। वह भक्ति-आन्दोलन के प्रबल समर्थक थे लेकिन उन्होंने साहित्य में दासभाव का समर्थन नहीं किया। वर्णों के हिसाब से मानव-धर्म लिया जाय तो वह क्षात्र-धर्म के समर्थक हैं। "कर्म-सौन्दर्य की योजना क्षात्र-जीवन में जितने रूपों में सम्भव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं।...मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमें है।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. ४३)

वह काव्य के भावयोग और लौकिक जीवन के कर्मयोग की एकता मानते हैं, इसलिए निठल्ले, अवकाशभोगी, पैसा-कमाऊ वर्गों के लिए वह कविता की आवश्यकता नहीं समझते। ऐसे लोग कविता को व्यर्थ का व्यापार समझते हैं। "अर्थागम से हृष्ट, 'स्वकार्यं साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्म-काण्डी, कानपुर के बनिये और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार, ऐसों को (कवियों को) कार्य-भ्रंशकारी मूर्ख, निरे निठल्ले या खप्त-उल हवास समझ सकते हैं।" (रस-मीमांसा, पृ. २२)

इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी का सामाजिक दृष्टिकोण धनीवर्ग के हितों को देखकर नहीं बना, उसका आधार साधारण जनता का जीवन है। धनीवर्ग के देश-प्रेम का मखौल उड़ाते हुए शुक्लजी कहते हैं: "देश-प्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों पर रीझकर—या कम-से-कम न खीझकर—बिना मन मैला किये कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियो! तुम जरा-सा दुबले हो जाते—अपने अन्देशों से ही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।" (उप., पृ. १५३)। भारतीयता के ठेकेदार बननेवाले काग्रेसी नेता इन शब्दों की सच्चाई आज भी सिद्ध कर रहे हैं।

शुक्लजी हिन्दू-मुसलमानों की कट्टरता के विरोधी थे। इन दोनों की धार्मिक कट्टरता का विरोध करने के कारण ही उन्होंने लिखा था: "सौ वर्ष पहले कबीर-

दास हिन्दू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पण्डितों और मुल्लाओं की तो नही कह सकते, पर साधारण जनता 'राम और रहीम' की एकता मान चुकी थी।"

शुक्लजी देशभक्त लेखक थे, वह साहित्य में देशभक्ति के हामी थे। उन्होंने देश के मनुष्यों और उसकी प्रकृति को देखने, जानने-पहचानने और प्यार करने पर जोर दिया था। अंग्रेजी में जिसे कौस्मोपालिटनिज्म कहा जाता है, यानी हम तो विश्व-नागरिक हैं, हमें देश-प्रेम और राष्ट्रीय स्वाधीनता से क्या मतलब, उसका शुक्लजी ने विरोध किया है। यह विश्ववाद साम्राज्यवादियों के प्रभुत्व का साधन है। जनता की देशभक्ति, अपनी जातीय संस्कृति से उसका प्रेम उनके साम्राज्यवादी प्रभुत्व में बाधक होता है इसलिए वे विश्ववाद का प्रचार करते है। शुक्लजी ने लिखा था—

"इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियो के बीच अपनी जाति की स्वतन्त्र सत्ता को अनुभव नहीं कर सकता वह देशप्रेम का दावा नही कर सकता।" (रस-मीमांसा, पृ. १५१)

देशभक्ति, जातीयता और जनहित के आधार पर बना हुआ शुक्लजी का दृष्टिकोण साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य का पूरा हामी है। "सुन्दर और कुरूप— काव्य मे बस ये हो दो पक्ष हैं।" (उप., पृ. ३२)। मंगल को वह सुन्दर का ही दूसरा रूप मानते हैं। अमंगल, असुन्दर ही हो सकता है, सुन्दर नही। "कविता मे कही गयी बात चित्र-रूप मे हमारे सामने आती है", कलात्मक सौन्दर्य का आधार साहित्य की यही मूर्तिमत्ता है (उप., पृ. ४१)। इसी कारण वह उक्तिचातुरी को ही काव्य नहीं मानते। "काव्य मे अर्थग्रहण मात्र से काम नही चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है।" (उप., पृ. १६७)। इसी आधार पर अंग्रेजी के अनेक पतनशील कवियों की उन्होंने तीखी आलोचना की है जो मौलिकता की खोज मे कलात्मक सौन्दर्य के मूल नियम की अवहेलना करते थे। रहस्यवादी कविताओं में मूर्ति की अस्पष्टता के लिए उन्होंने अनेक हिन्दी-कवियो की भी आलोचना की है। प्राचीन कवियों के चित्र-सौन्दर्य के लिए उन्होंने उनकी प्रशंसा की। "काव्य मे बिम्ब-स्थापना (इमेजरी) प्रधान वस्तु है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है।" (उप., पृ. ३५८)। जो लोग शुक्लजी के दृष्टिकोण को एकांगी समाजशास्त्रीय कहते है, व वास्तव मे किसी और तरह का सौन्दर्य चाहते हैं।

शुक्लजी कलात्मक सौन्दर्य के हामी है, इसलिए वह उपदेश देने के विरुद्ध हैं। सूर और तुलसी को कवि न मानकर धर्मोपदेशक माननेवालों से वह कहते हैं: "सूर और तुलसी को हमें उपदेशक के रूप में न देखना चाहिए। उपदेशवाद या तर्क गोस्वामीजी के अनुसार 'वाक्यज्ञान' मात्र कराते हैं, जिससे जीवकल्याण का लक्ष्य पूरा नहीं होता।" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ. २०१)

शुक्लजी के निधन पर निरालाजी ने लिखा था—

अमानिशा थी समालोचना के अंबर पर
उदित हुए जब तुम हिन्दी के दिव्य कलाधर।

चन्द्रमा की चौदह कलाएँ कैसे एक के बाद एक आयीं और चन्द्र को पूर्णता देती गयी, इसका वर्णन करते हुए निरालाजी ने कहा है कि द्वितीया आयी—"किन्तु निशाचर संध्या के अंतर में दहले।" वास्तविकता भी यही है कि निशाचरों ने उन्हें न तो तब क्षमा किया और न अब। शुक्लजी सामन्ती साहित्यशास्त्र का टाट उलटकर हिन्दी का अपना मौलिक शास्त्र रच रहे थे। फिर निहित स्वार्थों के चाकर उनका यह कार्य कैसे सहन करते? आज भी एक वर्ग उनके सिद्धान्तों और साहित्य की आलोचना के बारे में जनता में भ्रम फैलाता है। शुक्लजी ने जो कुछ लिखा, वह उनके गहरे अध्ययन और चिन्तन का परिणाम था। उनके हृदय में जनता और देश के लिए अगाध प्रेम था, इसीलिए वह नये सिरे से और निर्भीक होकर साहित्य का मूल्यांकन कर सके, नये सिद्धान्त स्थिर कर सके। आज उनके वस्तुवादी दृष्टिकोण, द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति, वाल्मीकि-भवभूति-तुलसीदास के मूल्यांकन और काव्य में कलात्मक सौन्दर्य के महत्त्व के सिद्धान्त को आत्मसात् करके ही हिन्दी आलोचना और हिन्दी साहित्य आगे बढ़ सकते हैं। आजकल शाश्वत साहित्य रचने, देश की समस्याओं को भुलाकर निर्लिप्त भाव से सौन्दर्य या अध्यात्म की उपासना करने की बातें अक्सर सुनने को मिलती हैं। शुक्लजी सामाजिक प्रश्नों की ओर साहित्यकारों की उदासीनता का घोर विरोध करते हैं। "जाने दो, हमसे क्या मतलब; चलो अपना काम देखें। यह महाभयानक रोग है। इससे मनुष्य आधा मर जाता है।" (रस-मीमांसा, पृ. २४)। साहित्य में तटस्थता की बात करनेवाले ऐसे ही अर्धमृत लोग है। शुक्लजी साहित्य से राजनीति को बाहर रखने की बात नहीं करते। राजनीति बाहर न रखी जाय, साहित्य में वह आये, लेकिन साहित्य के अपने गुणों की रक्षा करते हुए।

राजनीति और साहित्य के सम्बन्ध पर शुक्लजी के ये वाक्य मनन करने योग्य हैं—

"यदि किसी जन-समुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रति वर्ष उठा ले जाता है तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्र्य और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखे जायें और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त क्रन्दन सुनाया जाय तो बहुत-से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की बात कहना राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का।" (उप., पृ. २२)

हिन्दी में अब जनता के वास्तविक जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाला उसकी

आशाओं और संघर्षों को मूर्त रूप देनेवाला साहित्य अधिकाधिक रचा जा रहा है। यही कारण है कि कुछ लोग शुक्लजी की विरासत मिटाने पर तुल गये हैं क्योंकि वह विरासत नये साहित्य के निर्माण के लिए निरन्तर प्रेरणा देती है। इन्दौर वाला भाषण समाप्त करते हुए शुक्लजी ने उन दिनों का स्मरण किया था जब 'थोड़े-से लोग किसी भव्य भविष्य की आशा बाँधे हिन्दी-सेवा कर रहे थे।" हिन्दी ने जितनी प्रगति की थी, उस पर बधाई देते हुए उन्होंने और भी उज्ज्वल भविष्य के लिए बढ़ने का आह्वान करते हुए कहा था—

"जिन आँखों से मैंने इतना देखा उन्ही से अब अपने हिन्दी साहित्य को, विश्व की नित्य और अखण्ड विभूति से शक्ति, सौन्दर्य और मंगल का प्रभूत संचय करके एक स्वतन्त्र 'नवनिधि' के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहता हूँ।"

निःसन्देह जनवादी और स्वाधीन भारत में सुखी और शिक्षित जनता के समृद्ध जीवन के आधार पर नये जन-साहित्य के निर्माण द्वारा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह पुनीत मनोकामना पूरी होगी।

सन्त-साहित्य में योगियों की भूमिका

सन्त-साहित्य हिन्दी-भाषी जनता के नवजागरण का साहित्य है। वह उसके जातीय उत्थान का साहित्य है। आचार्य शुक्ल ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म के उपासकों को समान रूप से भक्तिकाल में लिया है। यह उचित है क्योंकि निर्गुण और सगुण ब्रह्म के उपासकों में जितनी समानताएँ हैं, उतनी असमानताएँ नही। प्रेम की सामान्य भूमि पर उनकी एकता देखी जा सकती है। जो सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, वे निर्गुण के विरोधी नही हैं; जो निर्गुण के उपासक हैं, वे कभी-कभी उसे निर्गुण-सगुण दोनों से ही परे समझते हैं। इसलिए यह समझना, कि सन्त वही है जो निर्गुणवादी हैं, सही नही है; न यह समझना ठीक है कि भक्त वही हैं जो सगुणोपासक हैं। सगुण और निर्गुण उपासकों को एक ही भक्तिधारा का कवि मानकर शुक्लजी ने साहित्यिक आन्दोलनों को परखने में अपनी सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि सन्त-साहित्य पर बौद्ध-सिद्धों और नाथपन्थी योगियों का विशेष प्रभाव पड़ा है; ये सिद्ध और योगी वैष्णव मत के विरुद्ध थे; इन सिद्धों और योगियों की एक विशेष क्रान्तिकारी भूमिका रही है जो निर्गुणवादी सन्तों में अच्छी तरह पल्लवित हुई। इस विचारधारा के दो स्वाभाविक परिणाम निकलते हैं: (१) सन्त-साहित्य कोई मौलिक आन्दोलन नही है वरन् सिद्धों और योगियों के चिन्तन का ही विकास है; (२) सिद्धों और योगियों की भूमिका क्रान्तिकारी थी, इसलिए उनके अनुयायी निर्गुणवादी सन्तों का साहित्य क्रान्तिकारी है और राम और कृष्ण के उपासक कवियों का साहित्य सापेक्ष रूप में प्रतिक्रियावादी।

इस सम्बन्ध में शुक्लजी का मत विचारणीय है। शुक्लजी की स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

बौद्ध धर्म के विकृत रूप वज्रयान का प्रभाव भारत के पूर्वी भागों में बहुत दिनों तक कायम रहा। "इन बौद्ध तान्त्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा।"* ये लोग सिद्ध कहलाते थे और अलौकिक शक्ति-सम्पन्न समझे जाते

*देखिए, हिन्दी साहित्य का इतिहास

थे। "वज्रयानियों की योग-तन्त्र-साधनाओं में मद्य तथा स्त्रियों का—विशेषत: डोमिनी, रजकी आदि का—अबाध सेवन एक आवश्यक अंग था।" वज्रयानियों के अनुसार निर्वाण का सुख रमणी-प्रसंग के सुख के समान था। मद्यपान और स्त्री-प्रसंग के कारण, मुसलमानों के आक्रमण के समय, देश के पूर्वी भागों में "धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था।" रहस्यवादियों की तरह ये सिद्ध अपनी बातें बहुधा सांकेतिक ढंग से या उलटबाँसियों के रूप में कहते थे। ये शास्त्रों का विरोध करते थे लेकिन उसके बदले अन्तर्मुख साधना पर जोर देते थे।

कौल, कापालिक, गोरखपन्थी आदि मतों का वज्रयान से गहरा सम्बन्ध है। गोरख-मत या नाथपंथ सिद्धों के मत से एक हद तक भिन्न है। शुक्लजी के अनुसार नाथपन्थियों ने "वज्रयानियों के अश्लील और वीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा" यद्यपि शिव-शक्ति की भावना के कारण कुछ श्रृंगारमयी वाणी भी उनमें मिलती है। सिद्धों का प्रचारक्षेत्र पूरब था, नाथपन्थियों का पच्छिम।

नाथपन्थियों ने हठयोग का सहारा लिया। उनका उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति था। मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन, वेद-शास्त्र के अध्ययन को वे अनावश्यक समझते थे। वे जाति पाँति के विरोधी थे। वे कान में बड़े-बड़े छेद करके कुण्डल पहनते थे, इसलिए कन-फटे कहलाते थे। इनमें बहुत-से मुसलमान फकीर भी शामिल हुए।

सिद्धों और नाथपन्थी योगियों के चिन्तन का विवेचन करने के बाद शुक्लजी कहते है: "उनकी रचनाएँ तान्त्रिक विधान, योगसाधना, आत्म-निग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अन्तर्मुख साधना के महत्त्व इत्यादि की साम्प्रदायिक शिक्षा-मात्र है; जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से इनका कोई सम्बन्ध नही।" और भी—"उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियो, अनुभूतियो और दशाओं से कोई सम्बन्ध नही।"

शुक्लजी की स्थापनाओं का निष्कर्ष यह है कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ जीवन से पराङ्मुख थी; उनमें या तो वामाचार था या हठयोग, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियां नहीं। इनका प्रभाव निर्गुणवादी सन्तों पर पड़ा, यह वह मानते है लेकिन यह भी कहते हैं कि यह प्रभाव वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद, वैष्णवों के अहिंसावाद आदि से घुल-मिलकर विकसित हुआ।

इसका यह अर्थ नहीं है कि शुक्लजी धार्मिक कर्मकाण्ड के उपासक थे। उनका कहना है कि "हिन्दी साहित्य के आदिकाल में कर्म तो अर्थ-शून्य विधि-विधान, तीर्थाटन और पर्वस्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था।" इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी इस तरह के कर्मकाण्डों के विरोधी थे। वे योगियों आदि का विरोध इसलिए नही करते कि वे कर्मकाण्डों का मजाक उड़ाते थे वरन् इसलिए कि "जनता की दृष्टि को आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण-विधायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बदले उसे वे कर्मक्षेत्र से ही हटाने में लग गये थे।" शुक्लजी उनका विरोध इसलिए करते थे कि "अपनी रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिए वे बाह्य जगत् की बातें छोड़, घट के भीतर के कोठों की बात बताया करते

थे।" 'बाह्य जगत् की बातें छोड़' यह टुकड़ा ध्यान देने योग्य है। शुक्लजी साहित्य में कल्पित अनुभूतियों के पक्षपाती नहीं हैं; वह साहित्य में इस बाह्य जगत् के मनुष्य और उसकी अनुभूतियों का चित्रण चाहते हैं। शुक्लजी योगियों का विरोध इसलिए करते हैं कि उनकी बानियों का साधारण जनता पर यही प्रभाव पड़ सकता था कि "वह सच्चे शुभ कर्मों के मार्ग से तथा भगवद्गीता की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मन्त्र, तन्त्र और उपचारों में जा उलझे और उसका विश्वास अलौकिक सिद्धियों पर जा जमे।" शुक्लजी उनका विरोध इसलिए करते थे कि "सिद्ध और योगी निरन्तर अभ्यास द्वारा अपने शरीर को विलक्षण बना लेते थे। खोपड़ी पर चोट खा-खाकर उसे पक्की करना उनके लिए कोई कठिन बात न थी।"

इस तरह की 'साधना' से मानव-कल्याण असम्भव था। यह एक तरह के कर्मकाण्ड का खण्डन करके उसके बदले उससे भी घटिया कर्मकाण्ड स्थापित करना था। यह योग-साधना मनुष्य को उसके साधारण सामाजिक कार्यों से विमुख करनेवाली थी। वह जनसाधारण में आत्मविश्वास पैदा करने के बदले उन्हें सिद्धों और योगियों के अलौकिक चमत्कारों का दास बनानेवाली थी। चिन्तन की यह धारा साहित्य में मनुष्य के यथार्थ जीवन के चित्र देकर उसे सरस और सजीव न बना सकती थी; वह उसे जीवन से विमुख करके, नाद, बिन्दु और षट्चक्रों में उलझाकर पहेलियों और उलटबाँसियों की ओर ले जानेवाली थी। भारत का विराट् जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन, जिसे हम भक्ति-आन्दोलन के नाम से जानते हैं, इन कनफटे जोगियों और वामाचारी सिद्धों की प्रेरणा का मोहताज न हो सकता था।

इससे विपरीत स्थापनाएँ श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी की हैं। उनका विचार है कि ईसा की सातवीं सदी में पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव काफी प्रबल था। वह अचानक मिट नहीं गया वरन् साहित्य पर उसका प्रभाव अमिट है। शैव और बौद्ध साधनाओं के मिलने से नाथपन्थ पैदा हुआ।

"कबीरदास, सूरदास और जायसी की रचनाओं से जान पड़ता है कि यह सम्प्रदाय उन दिनों बड़ा ही प्रभावशाली रहा होगा।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका, १९५०; पृ. ६-७)। द्विवेदीजी के अनुसार अवतारवाद पर भी बौद्ध मत का विशेष प्रभाव है। अवतारवाद पहले भी रहा है लेकिन "सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों में उसका जो स्वरूप पाया जाता है वह उन प्राचीन चिन्ताओं से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने में ग्रियर्सन, केनडी आदि पण्डितों ने उसमें ईसाईपन का आभास पाया था!" बौद्ध धर्म का असर वैष्णव कवियों पर ही नहीं पड़ा, ईसाई धर्म पर भी उसका असर मौजूद है। "ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वही महायानियों की देन सिद्ध होने को चला है, क्योंकि ऐसे बौद्धों का अस्तित्व एशिया की पश्चिमी सीमा में सिद्ध हो चुका है और कुछ पण्डित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा भी करने लगे हैं कि स्वयं ईसामसीह भारत के उत्तरी प्रदेशों में आये थे और बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हुए थे।" (उप., पृ. १०)। निष्कर्ष यह है कि

"बौद्ध धर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिन्दी साहित्य में पाते हैं।" इसलिए हिन्दी साहित्य और उसके अध्ययन की सार्थकता किस बात में है? इसमें कि "इतने विशाल लोक-धर्म का थोड़ा पता भी यदि यह हिन्दी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।" (उप., पृ० १०)

जो लोग शुक्लजी पर यह आरोप लगाते हैं कि उन्होंने इतिहास को ब्राह्मण-वादी दृष्टि से देखा है, वे कृपया ऊपर का वाक्य पढ़ें। शुक्लजी ने जहाँ तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि कर्मकाण्डों को संकुचित कहा था और हिन्दू-मुसलमानों, ऊँच-नीच सभी जातियों के लिए लोक-कल्याण का मार्ग निकालनेवाले भक्त-कवियों का स्वागत किया था, वहाँ द्विवेदीजी हिन्दी साहित्य और उसके अध्ययन की सार्थकता इस बात में देखते हैं कि वह बौद्ध धर्म जैसे 'विशाल लोक-धर्म' का पता दे सके।

द्विवेदीजी का मूल सूत्र बहुत सीधा है। उन्हीं के शब्दों में वह यों है : "इस प्रकार जिन दिनों बौद्धधर्म उत्तरोत्तर लोक-धर्म में घुल-मिल रहा था, उन्हीं दिनों ब्राह्मण धर्म उत्तरोत्तर अलग होता जा रहा था। (उप., पृ. ११)

यह सूत्र काफी मौलिक है। उसकी मौलिकता का श्रेय महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को है जिनके अनुसार बौद्ध धर्म वैज्ञानिक और भौतिकवाद का ही पूर्व रूप है, जिनके अनुसार बौद्ध कवि अश्वघोष सामन्तों के चाकर हिन्दू कवि वाल्मीकि और कालिदास से श्रेष्ठ था। भारतीय संस्कृति को धर्म का पर्याय समझने का चलन राहुलजी ने शक्ति-भर किया है। लेकिन धर्मों का इतिहास ही लिखना है तो राहुलजी या हजारीप्रसादजी को इतना तो बताना चाहिए था कि आखिर उस लोक-धर्म का भारत से प्रायः लोप क्यों हो गया।

राहुलजी की विशेषता है कि उन्होंने साहित्य, संस्कृति, इतिहास और भाषा-विज्ञान को भी धर्म की दृष्टि से ही नहीं, नस्ल की दृष्टि से भी देखा है। उनके लिए आर्यों के शुद्ध जनतन्त्र के पतन का मुख्य कारण अनार्य रक्त का सम्मिश्रण रहा है। बिहार में आर्यों की नाक, आँख, रंग आदि की छानबीन करने में उन्होंने विशेष प्रतिभा का परिचय दिया है। द्विवेदीजी ने राहुलजी के नस्लवाद को भी आंशिक रूप से ग्रहण किया है।

द्विवेदीजी की धारणा है कि "पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुए आर्य पूर्वी प्रदेशों में बसे हुए आर्यों से भिन्न प्रकृति के हैं।" (उप., पृ. २९)। इस भिन्नता का परिणाम यह निकला कि "पूर्वी प्रदेशों में भारतीय इतिहास के आदिकाल से रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले सन्त होते रहे हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के मृदु विरोधी जनक और याज्ञवल्क्य तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुए थे।" (उप., पृ. २९)

द्विवेदीजी-जैसे विद्वान् ने वेद न पढ़े होंगे, यह सोचना भी पाप होगा। लेकिन क्या ऋग्वेद उन्हें रूढ़िवाद और कर्मकाण्ड का ग्रन्थ लगा, यह पूछना असंगत न होगा। या जनक, याज्ञवल्क्य, बुद्ध और महावीर को क्रान्तिकारी सिद्ध करने के लिए ही उन्होंने यह लिख दिया? जो भी हो, यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि

बुद्ध और महावीर कितने क्रान्तिकारी थे और वैदिक ऋचाओं के निर्माता कितने रूढ़िवादी; महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि द्विवेदीजी ने विचारधारा का स्रोत मनुष्य के सामाजिक जीवन में नहीं खोजा वरन् उसकी नस्ल में तलाश करने की कोशिश की है। यह दृष्टिकोण कितना अवैज्ञानिक है यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत शुक्लजी अपने इतिहास के आरम्भ ही में कहते हैं: "जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।" द्विवेदीजी का जोर आन्तरिक परिस्थितियों पर भी नहीं, नस्ल पर है!

भारत में हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य क्यों श्रेष्ठ हैं? इसलिए कि "समग्र भारतीय साहित्य में हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसमें पश्चिमी आर्यो की रूढ़िप्रियता, कर्मनिष्ठा के साथ-ही-साथ पूर्वी आर्यो की भाव-प्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेमनिष्ठा का मणिकांचन योग हुआ है।" इस व्याख्या से यह पता नही चलता कि पूर्व के सिद्धों और पश्चिम के नाथपन्थियों में जो समान गुण मिलते हैं —गृहस्थों को गाली देना, योग और चमत्कारों से भोली जनता पर धाक जमाना, सामाजिक जीवन से विमुख होना आदि—उनका कारण क्या है? और सूर और मीरा-जैसे सरस कवि पश्चिम में कैसे हुए और डॉ. रघुवीर और महापण्डित राहुल-जैसे विद्वान् पश्चिम और पूर्व दोनों ही में क्यों हुए? या यह भी मणिकांचन सयोग है?

इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी की धारणाएँ बदलती रही हैं। उनकी किसी एक स्थापना को चिरायु मानना उनके साथ अन्याय करना होगा।

'कबीर' मे वह नाथपन्थ के बारे में कहते हैं: "नाथपन्थ में स्मार्त आचारों को कोई महत्त्व नही दिया जाता। यह बात उसे स्मार्त हिन्दू-धर्म के एकदम विरुद्ध खड़ा कर देती है।" (पृ. ४०)

'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में वह उसी नाथमत के बारे में कहते हैं: "जैनधर्म से प्रभावित होने के कारण, आंशिक रूप से बौद्ध साधना को आत्मसात् करने के कारण, स्मार्त धर्म का आश्रय पाने के कारण और मुस्लिम आक्रमण के रूप में विजातीय संस्कृति की उपस्थिति के कारण वह निर्गुणपन्थी, सहनशील उदासीन बना रहा।" (पृ. ३८)

ध्यान देने योग्य यह टुकड़ा है—'स्मार्त धर्म का आश्रय पाने के कारण'। 'कबीर' में नाथमत उसका एकदम विरोधी था, यहाँ वह उसका आश्रय पा गया।

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' मे कबीर आदि सन्तों का उल्लेख करते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है: "उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़िविरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है। परन्तु उनमें की आत्मा उनकी अपनी है। उसमें भक्ति का रस है और वेदना का ज्ञान है।"

यहाँ द्विवेदीजी कबीर में वेदान्त का ज्ञान देखते हैं, लेकिन 'कबीर' में कहते

हैं : "पाठकों ने अब तक देख लिया होगा कि कबीर तात्त्विक दृष्टि से अद्वैतवादी नहीं थे और उनके 'निर्गुण राम' में और वेदान्तियों के पारिभाषिक 'निर्गुण ब्रह्म' में मौलिक भेद है।"

यदि ये दोनों बातें सच हों तो मानना पड़ेगा कि कबीर को वेदान्त का ज्ञान तो था लेकिन वह तात्त्विक ज्ञानी नहीं थे, या फिर यह मानना पड़ेगा कि द्विवेदी-जी भावप्रवणता में उलटबाँसी कह गये हैं।

योगियों और सन्तों में समान बातें कौन-सी हैं ? शुक्लजी ने दिखलाया है कि सिद्धों ने बाह्य-पूजा, जाति-पाँति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षाबुद्धि का प्रचार किया; रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया, घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ, शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई और 'नाद, बिन्दु, सुरति, निरति' ऐसे शब्दों की उद्धरणी करना सिखाया। यही परम्परा अपने ढंग पर नाथपन्थियों ने भी जारी रखी। इसी बात को द्विवेदीजी ने अनेक पुस्तकों के अनेक अध्यायों में विस्तार से कहा है। शुक्लजी के अनुसार निर्गुण सन्त-सम्प्रदाय वेदान्त, सूफीमत और वैष्णव अहिंसावाद आदि को साथ लेकर "सिद्धों और योगियों द्वारा बनाये हुए इस रास्ते पर चल पड़ा।"

शुक्लजी और द्विवेदीजी में अन्तर यह है कि शुक्लजी ने सिद्धों और योगियों की तुलना केवल निर्गुण सम्प्रदाय से की है, द्विवेदीजी ने सगुणोपासक कवियों पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव देखा है।

शुक्लजी ने धार्मिक कर्मकाण्ड, वर्ण-भेद आदि की आलोचना को अंशतः सही माना है लेकिन सच्चे लोक-कल्याणकारी कार्यों का विरोध करने के कारण उस आलोचना को आदर्श नहीं माना। द्विवेदीजी ने इस आलोचना को प्रगतिशील माना है और यह प्रश्न नहीं किया कि किस दृष्टिकोण से यह आलोचना की जा रही है और उससे लोक-कल्याणकारी कर्मों पर तो कुठाराघात नहीं हो रहा।

शुक्लजी ने सिद्धों के वामाचार की तीव्र भर्त्सना की है; द्विवेदीजी इस बारे में चुप रहते हैं।

शुक्लजी ने जीवन की सहज अनुभूतियों का प्रश्न उठाकर सिद्धों और योगियों की असली कमजोरी प्रकट कर दी है। द्विवेदीजी इस प्रश्न को भारतीय चिन्तन की लम्बी चर्चा में छिपा जाते हैं।

शुक्लजी ने सिद्धों और योगियों की जीवन-विमुखता, चमत्कारवाद, जनता पर धाक जमाने की प्रवृत्ति को—संक्षेप में उनके 'योग' को—आड़े हाथों लिया है। उन्होंने इन अन्धविश्वासों की खुलकर आलोचना की है। द्विवेदीजी ने कभी-कभी दबी जबान से इस योग का लोक-विरोधी रूप स्वीकार किया है और कभी दबी जबान से यह भी कहा है—क्या मालूम, योगी सच ही कहते रहे हों।

'नाथ सम्प्रदाय' में द्विवेदीजी कहते हैं : "इस मार्ग की सबसे बड़ी कमी इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इस कमजोरी ने इस मार्ग को

नीरस, लोक-विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया।"

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में ऐसे चमत्कारों का जिक्र करते हुए कि गुरु उँगली से आज्ञाचक्र छू दे तो चेला सिद्ध हो जाय, द्विवेदीजी कहते हैं : "यह नहीं कहा जा सकता कि यह विश्वास ढकोसला था या गपोड़ियापन का परिणाम था। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि सदगुरु सचमुच ऐसा कर सकते हैं या नहीं। ये सब बातें साधना की हैं।···सच पूछिए तो इस प्रकार बिना अनुभव किये राय देना सिर्फ हिमाकत ही नहीं, अन्याय भी है।"

बीसवीं सदी में योग, कुण्डलिनी, गुरु के कर-स्पर्श से सिद्ध बनने की बातें करना जरा कठिन काम है। तुरन्त अन्धविश्वासी की उपाधि पाने का खतरा रहता है। शुक्लजी ने जहाँ इन चमत्कारवादियों का खुलकर खण्डन किया था, वहाँ द्विवेदीजी उन पुराने अन्धविश्वासियों का पक्ष लेकर कहते हैं—"बिना अनुभव किये राय देना हिमाकत है, अन्याय है!" राय देना जरूरी था; इसलिए भक्तिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवियों ने न्याय-अन्याय और हिमाकत-बेहिमाकत की परवाह न करके अपनी राय साफ-साफ जाहिर कर दी थी। वास्तव में सन्त-साहित्य की यह बहुत ही प्रगतिशील भूमिका रही है कि उसने जन-संस्कृति को इन चमत्कारवादियों के चंगुल से छुड़ाया।

शुक्लजी ने तुलसी की यह उक्ति उद्धृत की है : "गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।" जोग और निर्गुण ब्रह्म को लेकर सूर की गोपियों ने जो कुछ कहा है, उससे पता चलता है कि साधारण जनता में यह धारणा प्रचलित थी कि जो निराकार ब्रह्म को मानता होगा, वह योगी भी होगा और जो योगी होगा, वह निर्गुणवादी होगा। लेकिन स्वयं कबीरदास, जो सुन्नमहल की हवा खा आये थे, गोरखनाथ का स्मरण यों करते हैं—शुक्लजी ने कबीर की ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :

झिलमिल झगरा झूलते बाकी रहो न काहु।
गोरख अटके कालपुर कौन कहावै साहु?

इत्यादि।

यही नहीं, कबीरदास योगियों को भी नहीं छोड़ते।

द्विवेदीजी कहते हैं, "परन्तु अक्खड़ता कबीरदास का सर्वप्रधान गुण नहीं है। जब वे अवधू या योगी को सम्बोधन करते हैं तभी उनकी अक्खड़ता पूरे चढ़ाव पर होती है।" (कबीर, पृ. १५५)। इसका अर्थ यह हुआ कि कबीरदास योगियों की आलोचना करना हिमाकत न समझते थे वरन् उनकी बहुत-सी बातों को हिमाकत समझते थे और इसलिए अपने व्यंग्य के सबसे तीखे बाण उन्हीं के लिए सुरक्षित रखते थे।

कबीर अवधू से कहते हैं :

जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा।
गगना पवना दोनों बिनसैं, कहैं गया जोग तुम्हारा।

द्विवेदीजी कबीर के बारे में कहते हैं : "वे समाधिगम्य परमपुरुष का साक्षात्कार कर चुके थे, पवन को उलटकर सहस्रार चक्र में ले जा चुके थे, वहाँ के गगन का अनन्य साधारण गर्जन सुन चुके थे···" (उप. पृ. १५६)

पूर्व के आर्यों की भावप्रवणता का यह भी एक प्रमाण है। द्विवेदीजी के आत्म-विश्वास को देखकर ईर्ष्या होती है। इस गये-गुजरे जमाने में भी ऐसे लोग हैं जो पवन को उलटकर सहस्रार चक्र में ले जाने में विश्वास करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि कबीर ने उन सब बातों की चर्चा की है जिनका उल्लेख द्विवेदीजी ने किया है। लेकिन यह उनका कमजोर पहलू है जिसके कारण कबीर मानव-जीवन के साधारण व्यापारों का विस्तार से वर्णन न कर पाये। कबीर का सबल पक्ष पवन को उलटकर सहस्रार में ले जाने में नहीं है वरन् ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए प्रेम का मार्ग दिखाने में है, प्रेम के मार्ग से हटकर ज्ञान, ध्यान, पूजा, नमाज और योग की हाँकने वालों की धज्जियाँ उड़ाने में है। कहते हैं :

जोगी पड़े बियोग, कहैं घर दूर है।
पासहि बसत हजूर, तू चढ़त खजूर है॥

जोगी जिसके लिए योग करते थे—यानी उससे अलग रहकर वियोग सहते थे—कबीर उसे अपने पास देखने का दावा करते थे।

कबीर प्रश्न करते हैं :

कबीर कबसे भये बैरागी।
तुम्हरी सुरति कहाँ को लागी॥

फिर जवाब देते हैं :

गोरख, हम तबके अहैं बैरागी।
हमरी सुरति ब्रह्म सों लागी॥
ब्रह्मा नहिं जब टोपी दीन्ही, बिस्नु नहीं जब टीका।
सिव-सक्ती कै जनमौ नाहीं, तबै जोग हम सीखा॥

यहाँ गोरख को कबीर ने जिस तरह याद किया है, उससे नाथपन्थियों के प्रति उनका विशेष प्रेम सूचित नहीं होता। गृहस्थों की निन्दा करनेवाले नाथपन्थी से कबीर कहते हैं :

अवधू, भूले को घर लावै।
सो जन हमको भावै॥
घर में जोग भोग घर ही में, घर तज बन नाहिं जावै।

शुक्लजी ने कबीर में सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद और हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद, दोनों के तत्त्व देखे हैं। लेकिन यह स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि कबीर ने साधनात्मक रहस्यवादियों का—नाथपन्थी योगियों का—खण्डन भी किया था। नाथपन्थी योगियों की विचारधारा मूलतः प्रतिक्रिया-वादी थी। वे गृहस्थ जीवन के निन्दक थे, सामाजिक जीवन से परांगमुख थे, जाति-पाँति का विरोध करते हुए वे लोक-धर्म और लोकाचार मात्र के विरोधी बन बैठे

थे, वे बाह्य जगत् से ध्यान खींचकर उसे कल्पित चक्रों में अटकाते थे, साधारण जनता पर आतंक जमाने के लिए अलौकिक चमत्कारों की डींग हाँकते थे। शुक्लजी ने नाथपन्थियों की विचारधारा का यह प्रतिक्रियावादी रूप अच्छी तरह प्रकट कर दिया है। उन्होंने जीवन की सहज अनुभूतियों का अभाव दिखाकर नाथपन्थी साहित्य की मूल कमजोरी की ओर संकेत किया है। यदि वे ऐसा न करते तो सन्त-साहित्य का क्रान्तिकारी महत्त्व लोगों की समझ में न आता।

शुक्लजी के जीवन के अन्तिम वर्षों में सिद्धों और नाथों की काफी चर्चा होने लगी थी। इस चर्चा में बौद्ध धर्म की क्रान्तिकारी भूमिका की भी काफ़ी दाद दी जाने लगी थी। इस चर्चा के सूत्रधारों ने यह ऐतिहासिक तथ्य भुला दिया था कि हिन्दी साहित्य का आदिकाल बौद्ध धर्म के प्रायः निर्मूल होने का काल भी था। चौथी शताब्दी से ही भारत में वैष्णव मत का उत्थान आरम्भ हो गया था। यहाँ की लोककथाएँ, तिथि-त्योहार, मन्दिर-मूर्तियाँ आदि उसके विशाल प्रसार की साक्षी हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने एक निबन्ध में लोक-जीवन की साधारण रीतियों आदि का विवेचन करके उसका प्रसार सिद्ध किया है।

इस वैष्णव मत के प्रभाव से न तो सूर-तुलसी बचे हैं, न कबीर-जायसी। इसलिए सन्त-साहित्य के विकास का अध्ययन करते हुए उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की छानबीन करना हो तो नाथपन्थ के मुकाबले में वैष्णव मत पर जोर देना ज्यादा लाभकारी होगा। स्वयं कबीर ने जहाँ गोरखनाथ को ललकारा है, वहाँ रामानन्द के लिए गर्व से कहा है :

कासी में हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चेताये।
प्यास अहद की साथ हम लाये, मिलन करन को आये।

यदि कोई कहे कि वैष्णव मत ने स्वयं वज्रयानी सिद्धों या दूसरे बौद्ध विचारकों से माल चुराया है तो पुष्ट प्रमाणों के अभाव में यह मत उतना ही मान्य होगा जितना यह कि तुलसीदास ने बाइबिल के प्रभाव से विनयपत्रिका लिखी थी।

वास्तविकता यह है कि सैकड़ों वर्षों से बौद्ध और अबौद्ध दोनों ही तरह के विचारकों के चित्त पर योग की विचारधारा कुण्डलिनी मारे बैठी थी। यह विचारधारा मनुष्य के सामाजिक कार्यों से उसकी आस्था नष्ट करती थी, तरह-तरह की तथाकथित साधनाओं में उसका समय और शक्ति नष्ट करके अन्याय का प्रतिरोध करने से उसे रोकती थी। योग के विरुद्ध बहुत दिनों से संघर्ष चल रहा था और अन्त में उसने योग और भक्ति के संघर्ष का रूप ले लिया। मध्यकालीन भारतीय चिन्तन में यह संघर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इस संघर्ष के बिना साहित्य और दर्शन को यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख न किया जा सकता था। कबीर-सूर-तुलसी की रचनाएँ बराबर योग बनाम भक्ति के संघर्ष की सूचना देती हैं। स्वयं कबीर भक्त हैं या योगी ? इस सम्बन्ध में द्विवेदीजी की मान्यता सर्वमान्य होगी, इसमें सन्देह नहीं। वह कहते हैं, "भक्ति के लिए केवल एक ही बात आवश्यक है

—अनन्य भाव से भगवान् की शरणागति, अहेतुक प्रेम, बिलाशर्त आत्मसमर्पण। कबीरदास में इन बातों की चरम परिणति हुई है।" (कबीर, पृ. १४७)। इसका अर्थ यह है कि कबीरदास भक्त ही नहीं थे, वरन् उच्चकोटि के भक्त थे। भक्ति का मौलिक लक्षण उनमें पूर्ण विकसित दिखायी देता है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में उद्धृत यह दोहा कैसा सार्थक बैठता है :

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्त दीप नवखंड॥

इसलिए कबीर और अन्य भक्तों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की छानबीन करते हुए रामानन्द की चर्चा भी होनी चाहिए, यह भी देखना चाहिए कि रामानन्द नाथ-योगियों और सिद्धों से कितना भिन्न थे।

रामानन्द के साथ भागवत की चर्चा भी होनी चाहिए जिसने भक्ति द्वारा अन्त्यजों, समाज के बहिष्कृतों आदि के मुक्ति पाने का दावा किया था :

ये मानवाः पापकृतास्तु सर्वदा
सदा दुराचाररता विमार्गगाः।
क्रोधाग्निदग्धाः कुटिलाश्च कामिनः
सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते॥

पापी, दुराचारी, कुमार्गगामी, क्रोधी, कुटिल, कामी—सभी भक्ति के प्रसाद से मुक्ति पा जाते हैं।

पण्डितों और कर्मकाण्डी विद्वानों पर व्यंग्य करने की प्रथा भी भागवत के लिए नयी नहीं है। कलियुग के पण्डितों का यह हाल है :

पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव।
पुत्रस्योत्पादने दक्षा अरक्षा मुक्तिसाधने॥

इसके सिवा वर्ण-व्यवस्था और उसके समर्थक शास्त्रों का विरोध उतना ही पुराना है जितना यह व्यवस्था और उसके समर्थक शास्त्र पुराने हैं। भारत में स्वतन्त्र चिंतन की कमी कभी नहीं रही। इसलिए संत-कवियों में वर्ण-व्यवस्था आदि का खण्डन देखकर उसका श्रेय सिद्धों और योगियों को देना ठीक नहीं।

सन्तों ने साहित्य रचा है, केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं। प्राचीन साहित्य की महाकाव्योंवाली परम्परा का उन पर प्रभाव पड़ा है, यद्यपि समान रूप से नहीं। उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि आँकते हुए वाल्मीकि और व्यास की परम्परा पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उनके उपास्य राम और कृष्ण का चरित एक हद तक रामायण और महाभारत से ही लिया गया था।

सन्त-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि आँकते हुए हिन्दी-भाषी प्रदेश की लोक-कथाओं और जन-संस्कृति की ओर ध्यान देना आवश्यक है। जन-संस्कृति के आधार पर ही, यहाँ के लोकगीतों, लोकरीतियों और लोकगाथाओं के आधार पर ही सन्त-साहित्य को अपार लोकप्रियता सुलभ हुई। भक्तिकालीन साहित्य में यह नया तत्त्व था। यह तत्त्व उनके साहित्य की विषय-वस्तु और उसके रूप दोनों में

व्याप्त है—जो उसे प्राचीन संस्कृत साहित्य और सिद्धों-नाथों की बानियों से अलग करता है। दूसरे शब्दों में ब्रज और अवध के किसानों का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन वह दृढ़ आधारशिला है जिस पर सन्त-साहित्य का प्रासाद निर्मित हुआ है।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में जायसी आदि की प्रेमकथाओं के सिलसिले में लिखा है :

"हमारा अनुमान है कि सूफी कवियों ने जो कहानियाँ ली हैं वे सब हिन्दुओं के घर में बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमें आवश्यकतानुसार उन्होंने कुछ हेर-फेर किया है।" जायसी का प्रेम-मार्ग बाहर का है या यहाँ का, इस पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ पर ध्यान देने की बात इतनी ही है कि शुक्लजी ने भक्तिकालीन साहित्य में लोकगाथाओं का महत्त्व स्वीकार किया है।

शुक्लजी लोकधर्म में ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय चाहते थे; इसलिए उनके हृदय में जितना आदर तुलसी के लिए था, उतना न कबीर के लिए, न सूर के लिए। इसका न तो यह अर्थ है कि वह कबीर को महान् कवि न मानते थे, न यह कि वह कबीर के वर्ण-व्यवस्था और धार्मिक कट्टरता के विरोध से बेहद क्षुब्ध थे।

सन्तों का मार्ग हिन्दू-मुस्लिम एकता का मार्ग था। इस बारे में शुक्लजी अपने इतिहास में लिखते हैं : "प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।" (पृ. ७६)

कबीर के बारे में उन्होंने स्पष्ट लिखा है : "इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपन्थियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे-से-ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।" (उप., पृ. ७८-७९)

कबीर पर सारी पुस्तकें एक तरफ और शुक्लजी के ये तीन वाक्य एक तरफ। कबीर का क्रान्तिकारी कार्य इस बात में है कि उन्होंने जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपन्थियों के प्रभाव से शुष्क पड़ता जा रहा था। कबीर की क्रान्तिकारी भूमिका साधारण जनता को नाथपन्थियों के प्रभाव से मुक्त करने में है, न कि उनके पीछे चलने में। यह काम उन्होंने दार्शनिक क्षेत्र में किया। दूसरा काम उन्होंने यह किया कि मनुष्यत्व की सामान्य भावना के आधार पर उन्होंने निम्न श्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस कार्य से उन्होंने निम्न वर्गों की सामाजिक चेतना को निखारा, उसे बल प्रदान किया। इस तरह उन्होंने जनसाधारण को सामन्ती अत्याचारों के विरोध में खड़ा होना सिखाया।

शुक्लजी ने यह भी कहा है कि निर्गुणमत के लिए नाथपन्थियों ने रास्ता साफ कर दिया था। उनके उस तरह के वाक्यों को ऊपर के उद्धृत वाक्यों के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए। नाथपन्थियों और निर्गुणमतवादियों में कुछ बातें समान थीं लेकिन इस समानता को बढ़ा-चढ़ाकर न देखना चाहिए। कारण यह कि नाथपन्थी जहाँ एक पाखण्ड का खण्डन करते थे, वहाँ उसकी जगह दूसरे पाखण्ड की सृष्टि करते थे। सन्तों का क्रान्तिकारी कार्य यह है कि उन्होंने जनता को नाथपन्थ के प्रभाव से बचाया। कबीर की महत्त्वपूर्ण भूमिका यह है कि उन्होंने प्रेम के आधार पर मनुष्यमात्र की एकता की घोषणा की और निम्न वर्गों की जनता में आत्मगौरव के भाव जगाये।

सन्त-साहित्य के सिलसिले में नाथपन्थियों की भूमिका पर कुछ विस्तार से लिखने का कारण यह है कि इधर कुछ दिनों से रांगेय राघव-जैसे कुछ लेखक यह दावा करने लगे हैं कि मध्यकालीन भारत की क्रान्तिकारी विचारधारा नाथपन्थी थी; उसके प्रभाव से कबीर क्रान्तिकारी हुए और उसके अभाव में तुलसी प्रतिक्रियावादी। ऐसे लोगों को अपने प्रचार के लिए श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की अनेक स्थापनाओं से बल मिला है, इसलिए उनकी चर्चा भी यहाँ की गयी है। यह कहना आवश्यक है कि रांगेय राघव आदि लेखक शुक्लजी पर जो ब्राह्मणवादी होने का और तुलसी पर सामन्तों के समर्थक होने का दोष लगाते हैं, वह मत द्विवेदीजी का नहीं है। फिर भी उस मत के एकाध कीटाणु द्विवेदीजी में भी हैं, यह माने बिना निस्तार नहीं है।

'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में द्विवेदीजी लिखते हैं : "इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखायी पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश देना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।" (पृ. ११)

यहाँ द्विवेदीजी ने शुक्लजी पर बाँका आक्रमण किया है। शायद शुक्लजी के मत को उद्धृत करना उचित नहीं है। लेकिन आगे चलकर स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी का मत स्वयं भी उचित नहीं है। द्विवेदीजी आगे कहते हैं :

"इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक संप्रदाय के मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदंत और धनपाल-जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्यक्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।" (पृ. ११)

बात बिलकुल ठीक है। शुक्लजी या और किसी ने ऐसा किया है तो उस पर धार्मिक संकीर्णता का दोष अवश्य लगेगा। सबसे पहले इस प्रश्न का उत्तर मिलना

चाहिए कि द्विवेदीजी ने जिन सिद्धों और नाथपन्थियों की रचनाओं का प्रचुर उल्लेख किया है, वे साहित्य की श्रेणी में आती हैं या नहीं। यदि नहीं आतीं तो शुक्लजी का मत ठीक है, आती हैं तो वह मत गलत है। शुक्लजी का मत उद्धृत करनेवालों का खंडन करने के लिए द्विवेदीजी ने सिद्धों और नाथपन्थियों की रचनाओं का जिक्र नहीं किया वरन् जैन कवियों का हवाला दिया है जिनकी रचनाओं की विपुल सामग्री 'इधर' उपलब्ध हुई है। अपभ्रंशकाल के कवियों की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने हेमचन्द्र, सोमप्रभसूरि, मेरुतुंग आदि का अलग से उल्लेख किया है।

इनकी चर्चा करने से पहले शुक्लजी ने सिद्धों और योगियों के सिलसिले में जो वाक्य लिखे हैं—और साम्प्रदायिक शिक्षामात्र से इन जैन और अन्य कवियों के 'सामान्य साहित्य' को कैसे अलग किया है—यह ध्यान देने योग्य है। सिद्धों और योगियों की कृतियों के सिलसिले में शुक्लजी लिखते हैं :

"उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नही। वे साम्प्रदायिक शिक्षामात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। अतः धर्म-सम्बन्धी रचनाओं की चर्चा छोड़, अब हम सामान्य साहित्य की जो सामग्री मिलती है, उसका उल्लेख उनके संग्रह कर्ताओं और रचयिताओं के क्रम से करते हैं।"

इन्हीं संग्रहकर्ताओं और रचयिताओं में 'जैन आचार्य्य' हेमचन्द्र, 'जैन पण्डित' सोमप्रभसूरि और 'जैनाचार्य्य' मेरुतुंग भी हैं। ये सब विशेषण शुक्लजी के दिये हुए हैं। इससे पता चलता है कि शुक्लजी को जैनियों, बौद्धों या नाथपन्थियों से चिढ़ न थी; उनकी कसौटी यह थी कि आलोच्य ग्रन्थ साम्प्रदायिक शिक्षामात्र न हों, उनमें जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं का चित्रण हो और वे 'सामान्य साहित्य' की कोटि में आते हों। इसलिए सत्य यह है कि शुक्लजी ने 'सामान्य साहित्य' में जैन कवियों की रचनाओं को भी लिया है; यदि अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ छूट गयी हैं तो इसका कारण उनका 'इधर' अनुपलब्ध होना है, शुक्लजी की संकीर्णता नहीं।

द्विवेदीजी ने जहाँ शुक्लजी के मत की चर्चा की है, वहाँ यह भी उन्हें लिखना चाहिए था कि शुक्लजी ने जैन कवियों को जैन होने के नाते 'सामान्य साहित्य' से बाहर नही रखा।

द्विवेदीजी के बाँके आक्रमण की एक और मिसाल देखिए। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखते हैं :

"कभी-कभी यह शंका की गयी है कि हिन्दी साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात् भक्ति-साहित्य मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है और कभी-कभी यह भी बताने का प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया सन्तों की जाति-पाँति की विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्ति-पूजा के खण्डन करने की

चेष्टा में 'मुसलमानी जोश' है।" (पृ. २२८)। इन सब बातों को 'भ्रममूलक' बताते हुए द्विवेदीजी आगे कहते हैं: "हम आगे चलकर देखेंगे कि निर्गुण मतवादी सन्तों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन हैं।" (उप., पृ. २८)

यहाँ पर द्विवेदीजी ने कबीर आदि सन्तों और योगियों के मौलिक भेद को भुलाकर भारतीयता के जोश में उनकी समस्त रीतिनीति, साधना आदि की प्रणाली तक को पुराने भारतीय आचार्यों, सिद्धों और योगियों की देन घोषित कर दिया है। यद्यपि उन्होंने स्वयं दिखलाया है कि कबीर ने योगियों की किस तरह खिल्ली उड़ाई है, फिर भी 'मुसलमानी जोश' का खण्डन करने के लिए उन्होंने कबीर आदि को कनफटे जोगियों का जरूरत से ज्यादा देनदार बना दिया है।

यह 'मुसलमानी जोश' का टुकड़ा है कहाँ का? द्विवेदीजी ने उसका उद्गम न बताते हुए उल्टे कौमा लगाकर कहीं से उसके उद्धृत होने का संकेत कर दिया है। यही आक्रमण का बाँकपन है।

शुक्लजी ने अपने इतिहास के पृ. ८५ पर कबीर के सिलसिले में लिखा है: "इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धति का प्रचार था जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजा का खण्डन मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिन्दू ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह है कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म में भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्त्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।"

'मुसलमानी जोश' के टुकड़े का मूल निवासस्थान यह है। शुक्लजी कबीर की दाद देते ही रह गये कि उन्होंने धार्मिक भेदभाव हटाकर सात्त्विक जीवन का प्रचार किया था; शुक्लजी के आलोचकों ने यह तलाश कर लिया कि कबीर ने मुसलमानी जोश में आकर हिन्दू धर्म के बाह्याचारों का खण्डन किया। यानी शुक्लजी के अनुसार कबीर ने धार्मिक भेदभाव दूर किया, इस्लामी भेदभाव के प्रभाव से! एक उलटबाँसी यह भी रही!

क्या यह भी लिखना जरूरी है कि 'मुसलमानी जोश के साथ' का मतलब है, कबीर ने मूर्तिपूजा का खण्डन इस दृढ़ता से किया है, मानो किसी दूसरे धर्म—इस्लाम—का माननेवाला उसका खण्डन कर रहा हो? और इसके बाद 'कबीर' में द्विवेदीजी ने सिद्धों और योगियों के चिन्तन की लम्बी चर्चा करने के बाद कबीर को उन्हीं सिद्धों और योगियों के दर्शन से मुक्त कहा है और उनकी साहसिकता का कारण मुस्लिम परिवार में उनका पाला जाना बताया है। द्विवेदीजी कहते हैं: "मुस्लिम धर्मसाधना से उनका सम्बन्ध नाममात्र को ही था। पर मुसलमान वंश

में प्रतिपालित होने के कारण उनमें एक प्रकार का साहसिक भाव आ गया था और उस दार्शनिक तर्क-जाल से वे मुक्त थे जो उनके पूर्ववर्ती सिद्धों और योगियों को अभिभूत किए हुए था। इसीलिए वे सहज बात को सहज ढंग से—बिना अपर-पक्ष की कल्पना किए—कह सके थे। यह मुस्लिम परिवार में पालित होने की उत्तम फल था।" (पृ. १३६)

कबीर की साहसिकता की दाद दीजिए! कबीर के सहृदय समालोचक द्विवेदीजी की साहसिकता की दाद और भी दिल खोलकर दीजिए। क्या ही अच्छा हो कि साहसिकता का विकास करने के लिए इस तरह के लालन-पालन की व्यवस्था कर दी जाय! धन्य है द्विवेदीजी को कि उन्होंने एक ओर तो निर्गुणिए सन्तों की 'समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली' को योगियों और सिद्धों की देन कहा, दूसरी ओर कबीर-जैसे प्रमुख निर्गुणिये सन्त को उन्होंने योगियों और सिद्धों के तर्कजाल से मुक्त बताया; एक ओर उन्होंने शुक्लजी के 'मुसलमानी जोश' के कल्पित अर्थ का तीव्र खण्डन किया, दूसरी ओर कबीर की साहसिकता को मुस्लिम परिवार में पालित होने का उत्तम फल बताया।

सारांश यह है कि नाथपन्थी योगियों और वज्रयानी सिद्धों की जीवन-विमुख विचारधारा के बारे में शुक्लजी की स्थापनाएँ सत्य हैं। शुक्लजी ने सन्त-सहित्य का विवेचन करते हुए धार्मिक संकीर्णता का परिचय नहीं दिया वरन् हिन्दुओं-मुसलमानों को मिलानेवाली, निम्न वर्गों में आत्मगौरव का भाव जगानेवाली उसकी भूमिका को पूरी तरह स्वीकार किया है। सन्त-साहित्य की महत्ता नाथपन्थी योगियों से प्रभावित होने में नही है वरन् जनता को उनके प्रभाव से मुक्त करने में है। शुक्लजी की स्थापनाओं का खण्डन करने के इच्छुक विद्वान् उलटबाँसियों में फँस गये हैं और धर्म और नस्ल के आधार पर संस्कृति का मूल्यांकन करते हुए वैज्ञानिक आलोचना से दूर चले गये हैं।

हिन्दी आलोचना की प्रगति के लिए सन्त-साहित्य में योगियों की भूमिका के सम्बन्ध में शुक्लजी की सही स्थापनाओं और उनसे अलग भ्रान्त धारणाओं का इतिहास काफी शिक्षाप्रद है।

जायसी का प्रेममार्ग

जायसी की भूमिका शुक्लजी की बहुत ही शानदार आलोचनाकृतियों में से है। लगता है, इसे उन्होंने प्रेम से और फुर्सत में बैठकर लिखा है। उनकी विद्वत्ता, आत्म-विश्वास, वैज्ञानिक अनुसन्धान अपने सबसे निखरे हुए रूप में यहाँ दिखायी देते हैं। यहाँ शुक्लजी ने एक ऐसे कवि को, जिसे हिन्दी के पाठक बहुत कम जानते थे, तुलसीदास के बाद हिन्दी का श्रेष्ठ कवि घोषित किया है। इस तरह शुक्लजी ने हमारे सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन को और समृद्ध किया है, साहित्य के इतिहास के क्षितिज को और विस्तृत किया है। यहाँ उनके तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति खुलकर अपनी विशेषता प्रकट करती है। कहीं अंग्रेज कवि और विचारक, कहीं यूनानी आलोचक और जर्मन दार्शनिक, कहीं फारसी के कवि और अरब के विद्वान्—शुक्लजी इनकी सहज चर्चा करते हुए विषय-विवेचन करते हैं। उनकी यह चर्चा एक साहित्य-रसिक की चर्चा है, कोरे सम्पादक-आलोचक का वैज्ञानिक विवेचन नहीं। साथ ही उन्होंने अपने सुदीर्घ अध्ययन और चिन्तन के फलस्वरूप साहित्य के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हें भी अयाचित ही पाठक को जहाँ-तहाँ देते चलते हैं। जायसी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, दार्शनिक विचार, कलात्मक मूल्यों आदि का विवेचन हिन्दी के अनुसन्धान-साहित्य में एक नये अध्याय का सूत्रपात करता है। अवधी की चर्चा करते हुए उन्होंने भाषा-विज्ञान की समस्याओं पर महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये हैं और हर जगह वाक्पटु, तर्कशास्त्री किन्तु सरस हृदय और विनोदी शुक्लजी के व्यक्तित्व की जैसी छाप यहाँ मिलती है, वैसी अन्यत्र नहीं।

जायसी के अध्ययन में पहली समस्या उन पर नाथपन्थी योगियों के प्रभाव की है। शुक्लजी ने दिखलाया है कि जायसी ने हठयोगियों के विभागों के अनुसार शरीर का वर्णन किया है। सिंहलगढ़ के वर्णन में नौ पौरी नाक, कान, मुँह आदि हैं। गढ़ के नीचे का कुण्ड-कुण्डलिनी का वासस्थान नाभि-कुण्ड है। सुरंग सुषुम्ना नाड़ी है जो दसवें द्वार ब्रह्मरंध्र तक चली गयी है। जायसी कहते हैं :

पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हें। जेइ पावा तेहि आपुहि चीन्हें।

हठयोगियों की तरह हठ करने से मनुष्य को ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता, अपने सहज ज्ञान से उसकी प्राप्ति होती है।

यहाँ भी हम देखते हैं कि जायसी ने शरीर-निर्माण की कल्पना योगियों से ली है, लेकिन उनका मार्ग योग का नहीं वरन् प्रेम का है।

दूसरी जगह हठयोगियों का प्रभाव इस बात मे देखा जाता है कि जायसी ने रत्नसेन से सिंहलद्वीप की यात्रा कराई है। शुक्लजी ने बताया है कि "गोरखपन्थी जोगी सिंहलद्वीप को सिद्ध-पीठ मानते हैं जहाँ शिव से पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधक को जाना पड़ता है।" रत्नसेन सिंहल जाता है। वहाँ पद्मावती नाम की सिद्धि प्राप्त करता है। पद्मावती-रत्नसेन का संयोग और उसका वर्णन योग और उससे मिलनेवाली सिद्धि से कितनी दूर है, यह सहज ही देखा जा सकता है।

शुक्लजी का कहना है कि "हठयोगियों वा नाथपन्थियों की दो मुख्य बातें सूफियों और निर्गुण मतवाले सन्तों को अपने अनुकूल दिखायी पड़ी—(१) रहस्य की प्रवृत्ति, (२) ईश्वर को केवल मन के भीतर समझना और ढूँढ़ना। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों बातें भारतीय भक्तिमार्ग से पूरा मेल खानेवाली नहीं थी।" अन्य भक्तों की तरह जायसी पर भी हठयोगियों और नाथपन्थियों का प्रभाव नगण्य है।

जायसी के अध्ययन के सम्बन्ध मे दूसरी समस्या उन पर सूफी मत के प्रभाव की है।

सूफी मत के बारे में शुक्लजी कहते हैं: "जायसी मुसलमान थे, इससे उनकी उपासना निराकारोपासना ही कही जायगी। पर सूफी मत की ओर पूरी तरह झुकी होने के कारण उनकी उपासना में साकारोपासना की-सी ही सहृदयता थी।"

शुक्लजी ने यहाँ सूफी कवियों की सहृदयता की ओर संकेत किया है। वह जायसी की सहृदयता का कारण उन पर सूफी मत का प्रभाव समझते हैं। सूफी मत की सहृदयता का कारण उन्होंने आर्यसंस्कारों का पुनरुत्थान माना है। लिखा है: "सूफियो के अद्वैतवाद ने एक बार मुसलमानी देशों में बड़ी हलचल मचाई थी। ईरान, तूरान आदि मे आर्यसंस्कार बहुत दिनों तक दबा न रह सका। शामी कट्टरपन के प्रवाह के बीच भी उसने अपना सिर उठाया।"

शुक्लजी यहाँ एक क्षण के लिए अपना यह सिद्धान्त भूल गये हैं कि साहित्यिक गतिविधि का स्रोत जनता की सामाजिक परिस्थितियों मे ढूँढ़ना चाहिए। सूफीमत या उससे मिलती-जुलती प्रवृत्तियों का स्रोत शामी और आर्य जातियों के संस्कारों में न खोजकर विभिन्न देशों की सामाजिक परिस्थितियों में खोजना ज्यादा उचित होगा। यदि हम यह मान लें कि जहाँ भी सहृदयता मिले, वह आर्यसंस्कार के कारण है और जहाँ भी कट्टरता मिले, वह शामी संस्कार के कारण, तो बात ही दूसरी है। भारत मे ही भक्तों ने जो प्रेम-मार्ग अपनाया, वह भी एक प्रकार की कट्टरता का विरोध करने के लिए था। यह कट्टरता सामन्तों और उनके धार्मिक

सहयोगियों की थी। उनके विरुद्ध जनता का पक्ष लेनेवाले और समानता, भाई-चारे और प्रेम की भावनाओं को व्यक्त करनेवाले ये भक्त कवि थे।

यहूदियों की धर्म-गाथाओं में एक ओर जहाँ धार्मिक कट्टरता मिलती है, वहाँ दूसरी ओर प्रेम के सरस गीत भी मिलते हैं। यूनानियों में जहाँ सुकरात को जहर देनेवाले लोग थे, वहाँ अनेक रचनाओं में—यद्यपि हर जगह नहीं—अफलातून जैसे प्रेम के व्याख्याकार भी थे। प्रसादजी ने 'रहस्यवाद' नाम के निबन्ध में दिखाया है कि एक ओर भारत में संसार को दुख का कारण मानने वाले लोग थे, तो दूसरी ओर आनन्दवाद के पन्थ पर चलनेवाले लोग भी थे।

शुक्लजी का मत है कि यहूदी, ईसाई और मुस्लिम धर्मों में अद्वैतवाद ने रहस्य-वाद का रूप लिया लेकिन "भारतवर्ष में तो यह ज्ञान-क्षेत्र से निकला और अधिक-तर ज्ञान-क्षेत्र में ही रहा; पर अरब, फारस आदि में जाकर वह भाव-क्षेत्र के बीच मनोहर रहस्य-भावना के रूप में फैला।"

क्या यह आश्चर्य की बात न होगी कि अद्वैतवाद कट्टर शामी जातियों के बीच तो मनोहर रहस्य-भावना बनकर फैला और सहृदय आर्यों के देश भारत में, जहाँ उसका जन्म हुआ था, वह शुष्क ज्ञान-क्षेत्र की चीज ही बना रहा? प्रसादजी ने 'रहस्यवाद' नाम के निबन्ध में शामी जातियों की एक दूसरी विशेषता दिखायी है और वह यह कि वे मनुष्य को ईश्वर का उपासक अथवा दास मानते थे। इसलिए मंसूर को अनलहक कहने पर सूली पर चढ़ा दिया गया। सरमद को भी प्राणदण्ड मिला। "सेमेटिक धर्म-भावना के विरुद्ध चलनेवाले ईसा, मंसूर और सरमद आर्य अद्वैत धर्म-भावना से अधिक परिचित थे।" फिर भी सौलोमन का गीत, जो प्रेम और सौन्दर्य का मधुर काव्य है, यहूदियों का ही रचा हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि आर्य और शामी नस्लों के आधार पर दार्शनिक और धार्मिक प्रवृत्तियों की सही व्याख्या नहीं हो सकती।

प्रसादजी ने दिखलाया है कि जब 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुसार यहाँ एकेश्वरवाद की स्थापना हो रही थी, तब आत्मवाद (आनन्दवाद) भी यहाँ पल्लवित हो रहा था। उनके मत से वरुण एकेश्वरवाद के प्रतिनिधि थे और इन्द्र आत्मवाद के। यदि यह बात सही है तो एकेश्वरवाद भारत की अपनी वस्तु है और उतनी ही पुरानी है जितना कि ऋग्वेद, और आनन्दवाद भी उतना ही पुराना है वरन् उससे भी पुराना है और प्रसादजी के अनुसार भारतीय चिन्तन की मूल धारा है।

शुक्लजी ने एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद में अन्तर दिखलाया है। उनका कहना है कि एकेश्वरवाद स्थूल देववाद है और अद्वैतवाद सूक्ष्म आत्मवाद या ब्रह्मवाद है। "बहुत-से देवी-देवताओं को मानना और सबके बड़े दादा एक बड़े देवता (ईश्वर) को मानना एक ही बात है।" इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि शुक्लजी स्वयं स्थूल देववादी न थे, उन्हें न तो अनेक देवी-देवताओं में विश्वास था, न उन सबके 'दादा एक बड़े देवता' में। वह अद्वैतवादी थे और

"अद्वैतवाद का मतलब है कि दृश्यजगत् की तह में उसका आधार-स्वरूप एक ही अखण्ड नित्य है और वही सत्य है।" शुक्लजी में और भौतिक अद्वैतवादियों में अन्तर यह है कि भौतिकवादी संसार को नित्य-परिवर्तनशील और विकासमान मानते हैं और सत्य उसकी तह में न होकर संसार की भौतिक एकता ही में होता है।

सूफियों का दृश्यजगत् के बारे में क्या कहना है? शुक्लजी के अनुसार "दृश्य-जगत् के नानारूपों को उसी अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्त आभास मानकर सूफी लोग भावमग्न हुआ करते हैं।" अद्वैतवादियों, निर्गुण ब्रह्मवादियों और योगियों से उनका यह महत्त्वपूर्ण भेद है। जो संसार को माया समझता है, वह उस माया में भावमय होकर सत्य का साक्षात् करने की आशा नहीं कर सकता। जायसी ने संसार को माया कहा है जो उन्हें भारतीय वेदान्त के निकट ले आता है। "साथ ही जगत् को दर्पण कहना, नामरूपात्मक दृश्यों को प्रतिबिम्ब या छाया कहना यह सूचित करता है कि अचित को ब्रह्म तो नहीं कह सकते, पर है यह उसी रूप की जिस रूप में यह जगत् दिखायी पड़ता है।" योग और वेदान्त से जायसी का यह अन्तर ध्यान देने योग्य है। जगत् ब्रह्म का ही दर्पण है, जगत् के दृश्य उसी ब्रह्म के रूप के प्रतिबिम्ब हैं और जायसी को जितना प्रेम इस दर्पण से है, रूप के प्रतिबिम्ब से है, उतना परोक्ष रूप से नहीं।

शुक्लजी ने अद्वैतवाद के दो पक्ष बतलाये हैं। एक पक्ष आत्मा और परमात्मा की एकता का है, दूसरा पक्ष ब्रह्म और जगत् की एकता का है। उनका मत है कि साधना-क्षेत्रों में सूफियों और पुराने ईसाई-भक्तों की दृष्टि पहले पक्ष पर रहती है लेकिन "भाव-पक्ष में जाकर सूफी प्रकृति की नाना विभूतियों से भी उसकी छवि का अनुभव करते आये हैं।" कहने के लिए प्रकृति की नाना विभूतियों से ब्रह्म की छवि का अनुभव किया जाता है; वास्तव में ब्रह्म के बहाने अनुभव किया जाता है प्रकृति की नाना विभूतियों का ही।

कोई भी जनवादी आन्दोलन—चाहे वह सांस्कृतिक हो, चाहे राजनीतिक—भौतिकवाद की ओर किसी-न-किसी प्रकार झुके बिना रह नहीं सकता। इस तरह के आन्दोलन जनवादी इसीलिए होते हैं कि वे जनता की वास्तविक आवश्यकताओं के आधार पर उठ खड़े होते हैं। इन आवश्यकताओं पर तरह-तरह के सांस्कृतिक आवरण पड़े होते हैं लेकिन उनकी वास्तविकता पहचानना कठिन नहीं होता। क्या पूर्व में क्या पच्छिम में, शासकवर्ग ने संसार को मिथ्या कहकर जनता का ध्यान वास्तविक समस्याओं से हटाकर कल्पित परोक्ष की ओर लगाने की चेष्टा की, लेकिन अनेक देशों और विभिन्न युगों में ऐसे विचारक और कवि भी उत्पन्न हुए जो उस कल्पित परोक्ष को अस्वीकार न करके किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष जगत् का महत्त्व भी स्वीकार करते रहे। शुक्लजी ने १९वी सदी में, पच्छिम के देशों में, पैन्थीज्म या सर्ववाद के उत्थान की बात कही है। इस पैन्थीज्म का आधार ब्रह्म और जगत् की एकता थी। शुक्लजी पच्छिम के देशों में इसके उत्थान का जिक्र

करते हुए बतलाते हैं : "वहाँ इसकी ओर प्रवृत्ति स्वातन्त्र्य और लोकसत्तात्मक भावों के प्रचार के साथ-ही-साथ दिखायी पड़ने लगी।" यह बात आकस्मिक नहीं है कि जिन कवियों ने स्वाधीनता और लोकसत्तावाद का प्रचार किया उन्हीं ने ब्रह्म और जगत् की एकता भी घोषित की। इसका कारण यह था कि स्वाधीनता और लोक-सत्तावाद का प्रचार जनता की वास्तविक समस्याओं पर निर्भर था; उन वास्तविक समस्याओं से दिलचस्पी रखने के कारण कवियों ने अंशतः भौतिकवाद की ओर भी झुकाव दिखाया।

जायसी ग्रन्थावली की इसी भूमिका में शुक्लजी भारतीय भक्तों के बारे में कहते हैं : "जिसे यह जगत् प्रिय नहीं, जो इस जगत् के छोटे-बड़े सबसे सद्भाव नहीं रखता, जो लोक की भलाई के लिए सबकुछ सहने को तैयार नहीं रहता, वह कैसे कह सकता है कि ईश्वर का भक्त हूँ?" शुक्लजी ने इस तरह की भक्ति अपनी ओर से मध्यकालीन सन्तों पर आरोपित नहीं की थी। सन्त-साहित्य एक जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन था। उसका आधार सामन्ती अत्याचार से पीड़ित जन-साधारण की मुक्तिकामना थी। उस पर निर्गुण ब्रह्मवाद—यानी यह संसार मिथ्या है, इस धारणा—का प्रभाव होते हुए भी उसका झुकाव इस संसार को सत्य समझने की ओर भी था। शुक्लजी उन थोड़े-से आलोचकों में हैं जिन्होंने संसार का प्रिय होना भक्ति का एक लक्षण माना है। तुलसी की इस उक्ति से शुक्लजी की धारणा का समर्थन होता है :

झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिन काढ़त दंत करंत हहा है।
जानपनी को गुमान बड़ो तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी जीवन जान न जान्यो तो जान कहावत जान्यो कहा है॥

इसी तरह जायसी ने 'पद्मावत' के आरम्भ ही में ईश्वर की स्तुति करते हुए कहा है :

दीन्हेसि रसना औ रसभोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहँसै जोगू॥
दीन्हेसि जग देखन कहँ नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनै कहँ बैना॥
दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि कर पल्लौ बर बाहाँ॥
दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सो जानइ जेहि दीन्हेसि नाहीं॥

ईश्वर ने नेत्र संसार को देखने को दिये हैं, बन्द करने के लिए नहीं। जिसके पास हाथ-पैर नहीं हैं, वही उनका महत्त्व जानता है। इसी तरह 'आखिरी कलाम' में जायसी ने लिखा है :

दीन्हेसि नयनजोति उजियारा। दीन्हेसि देखै कहँ संसारा॥
दीन्हेसि स्रवन बात जेहि सुनै। दीन्हेसि बुद्धि ज्ञान बहु गुनै॥

इससे पता चलता है कि जायसी का दृष्टिकोण जीवन को अस्वीकार करने का नहीं है वरन् उसे स्वीकार करने का है। इसलिए शुक्लजी की यह स्थापना बिलकुल सही है कि सच्चे भक्त को यह जगत् प्रिय होता है।

रहस्यवादी साधना या भावना से किसी नये सत्य का उद्‌घाटन होता है, इस पर शुक्लजी को विश्वास नहीं है। उनका मत है कि "रहस्यभावना किसी विश्वास के आधार पर चलती है, विश्वास करने के लिए कोई नया तथ्य या सिद्धान्त नहीं उपस्थित करती। किसी नवीन ज्ञान का उदय उसके द्वारा नहीं हो सकता। जिस कोटि का ज्ञान या विश्वास होगा, उसी कोटि की उससे उद्‌भूत रहस्य-भावना होगी।" शुक्लजी का दृष्टिकोण एक बुद्धिवादी विचारक का है। वह रहस्यवादियों के लम्बे-चौड़े दावों पर विश्वास नहीं करते। रहस्यवादी लौकिक ज्ञान को क्षुद्र बताकर अपने को 'पहुँचा हुआ' घोषित करते हैं। शुक्लजी बुद्धि की पहुँच से परे इस परोक्ष-प्रेम और ज्ञान के साक्षात्कार पर विश्वास नहीं करते। जो ज्ञान या विश्वास रहस्यवादियों को पहले से होता है, वही उन्हें साधना, इलहाम, प्रेम के आवेश में भी दिखायी देता है।

शुक्लजी उपनिषदों को भारतीय ज्ञानकाण्ड का मूल मानते हैं। इस ज्ञान को वह ऋषियों की अलौकिक दर्शन-शक्ति का परिणाम नहीं मानते वरन् 'बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया द्वारा' ही उस ज्ञान का उदय मानते हैं। 'बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया'—ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। न तो ईश्वर ने विशेष कृपा करके ऋषियों को परोक्ष सत्ता का आलौकिक ज्ञान करा दिया था, न ऋषियों ने भावावेश, योग द्वारा या अपनी किसी अलौकिक प्रतिभा द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। हमारे यहाँ ऐसे लोगों की कमी नहीं जो उपनिषदों के ज्ञान को अलौकिक, ऋषियों के चिन्तन को बुद्धि से परे मानते हैं। शुक्लजी ने इस तरह के चमत्कारवाद का विरोध करके वैज्ञानिक ढंग से भारतीय ज्ञान को बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया का परिणाम समझने का मार्ग प्रशस्त किया है। कहना न होगा कि जब तक उपनिषद् और अन्य प्राचीन ग्रन्थ इस तरह के चमत्कारवाद से मुक्त नही होते, तब तक उनका सही मूल्यांकन करके उनकी विरासत को जनता की सांस्कृतिक निधि नही बनाया जा सकता।

शुक्लजी भावात्मक अद्वैतवाद या रहस्यवाद को बाहर से आयी हुई वस्तु समझते थे। जायसी के अध्ययन के सम्बन्ध में यह दिलचस्प समस्या उठ खड़ी होती है कि जायसी रहस्यवादी थे या नहीं और यदि थे तो उनका रहस्यवाद यहाँ की वस्तु था या बाहर से लाया हुआ था।

शुक्लजी यह मानते हैं कि "प्राचीन ऋषियों को भी विचार करते-करते गम्भीर मार्मिक तथ्य पर पहुंचने पर कभी-कभी भावोन्मेष हो जाता था और वे अपनी उक्ति का प्रकाश रहस्यात्मक और अनूठे ढंग से कर देते थे।" इससे यह सिद्ध हुआ कि शुक्लजी के अनुसार रहस्यवाद प्राचीन भारतीय साहित्य के लिए अनूठी वस्तु नहीं है। लेकिन उनका तर्क है: मार्मिक तथ्य पर पहुंचने पर भावोन्मेष हो जाता था। तथ्य पहले, भावोन्मेष बाद को। शुक्लजी का जोर इस बात पर है कि रहस्यवाद ज्ञानार्जन की कोई पद्धति नही है।

उन्होंने रहस्यवाद के उदाहरण देते हुए बताया है कि "गीता के दसवें अध्याय

में सर्ववाद का भावात्मक प्रणाली पर निरूपण है।" इसके बाद शुक्लजी ने जो कुछ लिखा है, उससे यह सिद्ध होता है कि रहस्यवाद भाव प्रकट करने का ही एक अनूठा ढंग नहीं है वरन् भावना का भी वह एक विशेष प्रकार है। गीता के दसवें अध्याय का हवाला देते हुए शुक्लजी ने लिखा है :

"वहाँ भगवान् ने अपनी विभूतियों का जो वर्णन किया है वह अत्यन्त रहस्य-पूर्ण है। सर्ववाद को लेकर जब भक्त की मनोवृत्ति रहस्योन्मुख होगी तब वह अपने को जगत् के नाना रूपों के सहारे उस परोक्ष सत्ता की ओर ले जाता हुआ जान पड़ेगा। वह खिले हुए फूलों में, शिशु के स्मित आनन में, सुन्दर मेघमाला में, निखरे हुए चन्द्रबिम्ब में उसके सौन्दर्य का; गम्भीर मेघगर्जन में, बिजली की कड़क में, वज्रपात में, भूकंप आदि प्राकृतिक विप्लवों में उसकी रौद्र मूर्ति का; संसार के असामान्य वीरों, परोपकारियों और त्यागियों में उसकी शक्ति, शील आदि का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार अवतारवाद का मूल भी रहस्य-भावना ही ठहरती है।"

यहाँ रहस्यवाद का मूलसूत्र हुआ—प्रत्यक्ष जगत् में परोक्ष सत्ता का आभास। यदि यह सूत्र अभारतीय नहीं है तो रहस्यवाद भी अभारतीय नहीं है। शुक्लजी ने यह माना है कि अवतारवाद का मूल रहस्यवाद है यद्यपि वह राम-कृष्ण के उपासकों को रहस्यवादियों से अलग करते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो भावुक, चिंतक या कवि "अपने को जगत् के नाना रूपों के सहारे उस परोक्ष सत्ता की ओर ले जाता हुआ जान पड़ेगा," वह कोई अभारतीय काम न करेगा; उसका यह काम यहाँ की प्राचीन रहस्य-भावना के अनुकूल ही माना जायगा।

शुक्लजी जायसी के ईश्वरोन्मुख प्रेम का जिक्र करते हुए कहते हैं : "क्या संयोग, क्या वियोग, दोनों में कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता है, जगत् के समस्त व्यापार जिसकी छाया-से प्रतीत होते हैं।" जायसी को चन्द्र, नक्षत्र आदि उसी के विरह में जलते हुए दिखायी देते हैं। शुक्लजी के अनुसार इस तरह के विरह-वर्णन की प्रवृत्ति तो सगुणधारा के भक्तों में नहीं रही लेकिन तुलसी की 'विनयपत्रिका' से उन्होंने ऐसे विश्वव्यापी विरह का एक उदाहरण दिया है :

बिछुरे रबि ससि, मन ! नैनन तें पावत दुख बहुतेरो।

इत्यादि।

जायसी को जगत् के समस्त व्यापार परोक्ष सत्ता की छाया-से प्रतीत होते हैं; प्रत्यक्ष जगत् में परोक्ष सत्ता का आभास पाना भारतीय भावना का मूल था; यदि ये दोनों बातें सही हैं तो मानना होगा कि जायसी का रहस्यवाद भी भारतीय है, अभारतीय नहीं। यदि तुलसी और जायसी एक-से विश्वव्यापी विरह का वर्णन करते हैं तो मानना होगा कि भक्तों और जायसी-जैसे सूफ़ियों की एक सामान्य भूमि भी है।

जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका में शुक्लजी ने जायसी-जैसे कवियों को ध्यान में

रखते हुए ठीक लिखा है : "सूफीमत की भक्ति का स्वरूप प्रायः वही है जो हमारे यहाँ की भक्ति का।"

इन स्थापनाओं को देखते हुए यह ठीक नहीं मालूम होता कि जहाँ भी प्रेम-तत्त्व दिखायी दे—काव्य में परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम दिखाया जाय—वहाँ उसे सूफीमत की देन माना जाय। शुक्लजी ने भक्त-कवयित्री अन्दाल का जिक्र किया है। उस पर सूफीमत के प्रभाव की कोई संभावना न थी; वह आठवीं सदी की भक्त बतायी गयी है। शुक्लजी ने अन्दाल की यह उक्ति उद्धृत की है: "अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।" मीरा की उक्तियों से इसकी समानता तुरन्त देखी जा सकती है। शुक्ल-जी ने वैष्णव कवियों से उसकी तुलना भी की है: "पति या प्रियतम के रूप में भगवान् की भावना को वैष्णव भक्तिमार्ग में 'माधुर्य भाव' कहते हैं। इस भाव की उपासना में रहस्य का समावेश अनिवार्य और स्वाभाविक है।" इस तरह भक्तों का माधुर्य भाव भारतीय चिन्तन और भावना का स्वाभाविक विकास दिखायी देता है। लेकिन इतना सब कह देने के बाद भी शुक्लजी ने वैष्णव कवियों में इस माधुर्य भाव के लिए सूफीमत को उत्तरदायी ठहराया है।

शुक्लजी का कहना है कि भारतीय भक्तों में माधुर्य भाव का अधिक प्रचार नही हुआ और जो हुआ, वह सूफियों के प्रभाव से। वह लिखते हैं: "भारतीय भक्ति का सामान्य स्वरूप रहस्यात्मक न होने के कारण इस 'माधुर्य भाव' का अधिक प्रचार नहीं हुआ। आगे चलकर मुसलमानी जमाने में सूफियों की देखा-देखी इस भाव की ओर कृष्ण-भक्ति शाखा के कुछ भक्त प्रवृत्त हुए। इनमें मुख्य मीराबाई हुईं जो 'लोक-लाज खोकर' अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रेम में मतवाली रहा करती थीं।"

और भी—"चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ साफ झलकती हैं।"

कबीर, दादू आदि के बारे में वे कहते हैं: "निर्गुण शाखा के कबीर, दादू आदि सन्तों की परम्परा मे ज्ञान का जो थोड़ा-बहुत अवयव है वह भारतीय वेदान्त का है, पर प्रेमतत्त्व बिलकुल सूफियों का है। इसमें से दादू दरिया साहब आदि तो खालिस सूफी ही जान पड़ते हैं। कबीर में 'माधुर्य भाव' जगह-जगह पाया जाता है।"

यदि माधुर्य-भाव का प्रसार चैतन्य महाप्रभु, कबीर, मीरा आदि सगुण-निर्गुण ब्रह्म के उपासकों तक है, तब यह कहना कहाँ तक ठीक हो सकता है कि माधुर्य-भाव का अधिक प्रचार नहीं हुआ? शुक्लजी जिसे माधुर्य-भाव कहते हैं, उसका व्यापक प्रभाव उत्तर भारत के कवियों पर—दक्षिण के कवियों को छोड़ भी दें तो—दिखायी देता है। जैसा कि स्वयं शुक्लजी ने दिखलाया है, इसकी जड़ें प्राचीन भारतीय चिन्तन में मिलती हैं। अपने इतिहास में उन्होंने श्रीमद्भागवत का जिक्र भी किया है। उसके प्रभाव से माधुर्य-भाव फैलता हुआ बतलाया है। इसलिए यह मानना होगा कि शुक्लजी ने माधुर्य-भाव और प्रेम-तत्त्व के लिए जगह-जगह जो

सूफीमत को उत्तरदायी ठहराया है, वह सही नहीं है। उनकी इस धारणा का खण्डन उन्हीं की अनेक स्थापनाओं से हो जाता है।

अब देखना चाहिए कि जायसी किस कोटि के सूफी थे और उनके प्रेममार्ग पर सूफीमत का कितना प्रभाव है। जायसी सैयद अशरफ के शिष्य थे, यह उन्होंने लिखा ही है। अपने को 'गुरु मोहदी' का सेवक भी कहा है। यह भी सही हो सकता है कि अपने समय में वह एक सिद्ध फकीर माने जाते थे।

जायसी के परोक्ष-प्रेम की विशेषताएँ क्या हैं? विरह की अग्नि में सूर्य-चन्द्र जलते दिखायी देते हैं। अग्नि, पवन आदि तत्त्व उसी परोक्ष प्रिय तक पहुँचने के लिए उत्सुक दिखायी देते हैं। सृष्टि में जो सौन्दर्य दिखायी देता है, वह भी उसी परम सौन्दर्य की झलक मालूम पड़ता है। सृष्टि के विभिन्न पदार्थ अपने गुणों का विकास करते हुए उसी की ओर पहुँचने की इच्छा करते हैं। संक्षेप में, शुक्लजी के अनुसार, जायसी के प्रेम का यही अलौकिक पक्ष है। प्रेम के ये तत्त्व भारत में पहले से विद्यमान थे, यह शुक्लजी की ही स्थापनाओं में हम ऊपर देख चुके हैं। इसके साथ ही यह भी सही है कि ईरान आदि देशों के सूफी कवियों ने प्रेम के जो आलंबन चुने हैं, अपनी कविता के लिए साकी, मैखाना, शराब, गुल, बुलबुल आदि के जो प्रतीक चुने हैं, वे जायसी में नहीं मिलते। इसके विपरीत "उत्तर भारत में, विशेषत: अवध में, 'पद्मिनी रानी और हीरामन सूए' की कहानी अब तक प्राय: उसी रूप में कही जाती है जिस रूप में जायसी ने उसका वर्णन किया है।...इसी प्रकार 'बाला लखनदेव' आदि की और रसात्मक कहानियाँ अवध में प्रचलित हैं जो बीच-बीच में गा-गाकर कही जाती हैं।" इसलिए जायसी में सूफीमत के तत्त्व ढूँढ़ने से पहले अवध की जनसंस्कृति के तत्त्व ढूँढ़ना ज्यादा लाभदायी होगा। शुक्ल-जी की यह धारणा बिलकुल सही है कि "जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर, सूक्ष्म ब्यौरों की मनोहर कल्पना करके उसे काव्य का सुन्दर स्वरूप दिया है।" शुक्लजी की इस धारणा का और विस्तार से अध्ययन करने की आवश्यकता है। वास्तव में समूचे भक्ति-साहित्य का इस दृष्टिकोण से बहुत कम अध्ययन किया गया है कि वह यहाँ की जनसंस्कृति का प्रतिबिम्ब है। जहाँ शुक्लजी ने जायसी आदि का अध्ययन करने के लिए बाहर के सूफीमत पर जोर दिया है, वहाँ इन कवियों में जनसंस्कृति की ही धारा का प्रभाव देखना भी उन्होंने हमें सिखाया है।

अब प्रश्न यह है कि जायसी मूलत: लौकिक प्रेम के कवि हैं या अलौकिक प्रेम के। जायसी ने 'पद्मावत' के अन्त में चित्तौर को तन, राजा को मन, सुए को गुरु, नागमती को दुनिया-धन्धा, राघव को शैतान, अलादीन को माया आदि कहा है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य' में लिखा है: "काव्य के अन्त में, 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' जो संकेत है वह मूल ग्रन्थ का नहीं है। पद्मावत की प्राचीन प्रतियों से यह बात सिद्ध हो चुकी है।" जायसी का परोक्ष-प्रेम 'तन-चितउर' आदि पंक्तियों पर निर्भर नहीं है। द्विवेदीजी कहते हैं: "परोक्ष-सत्ता की ओर संकेत करने का उत्साह जायसी में इतना अधिक है कि वे ऐसे प्रसंगों को मानो

खोजते फिरते हैं जिनसे परोक्ष सत्ता की ओर इशारा करने का मौका मिल सके।" यदि जायसी परोक्ष-सत्ता की ओर इतना अधिक संकेत करते हैं, तो यह माना जायगा कि उनका उद्देश्य अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति भी रहा है।

शुक्लजी के विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने प्रेम की लौकिकता पर जोर दिया है। रत्नसेन का घर से निकलना, माता और रानी का रोकर रोकना, पद्मावती का रसरंग, सपत्नी से कलह, राघव को पद्मावती का अपना कंगन देना—आदि घटनाओं का उल्लेख करने के बाद शुक्लजी कहते हैं: "प्रेम का लोकपक्ष कैसा सुन्दर है! लोकव्यवहार के बीच भी अपनी आभा का प्रसार करनेवाली प्रेम-ज्योति का महत्त्व कुछ कम नहीं।" शुक्लजी जायसी को इसके लिए बधाई देते हैं कि उसकी प्रेम-गाथा "पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गयी।"

उन्हें 'पद्मावत' की कमजोरी इसमें दिखायी देती है कि जायसी ने कहीं-कहीं परोक्ष और प्रत्यक्ष को मिलाने का प्रयत्न किया है। पद्मावती का रूप-वर्णन सुनकर रत्नसेन के मन में चाह पैदा होती है और अलाउद्दीन के भी। अन्तर इतना है कि अलाउद्दीन के लिए वह दूसरे की विवाहिता पत्नी है; रत्नसेन के लिए अविवाहिता थी। शुक्लजी इसे अस्वाभाविक समझते हैं और उसका कारण बतलाते हैं —"लौकिक प्रेम और ईश्वर-प्रेम दोनों को एक स्थान पर व्यंजित करने का प्रयत्न।" इसी तरह रत्नसेन का नाम सुनने के पहले ही पद्मावती उसके वियोग में विकल हो जाती है जिसका कारण अलौकिक ही हो सकता है और वह कथा को कमजोर बनाता है।

नागमती का विरह-वर्णन, गोरा बादल की वीरता आदि लोकजगत् के व्यवहार हैं जिनके वर्णन के लिए शुक्लजी ने जायसी की प्रशंसा की है। जायसी के विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन को उन्होंने अद्वितीय कहा है। इसी तरह बारहमासा आदि की उन्होंने प्रशंसा की है जिसका आधार जायसी के वर्णन की लौकिकता है। परिणाम यह निकलता है कि जायसी ने अलौकिक प्रेम का वर्णन अवश्य करना चाहा, किया भी, लेकिन उनकी महत्ता का कारण प्रेम की लौकिकता है, अलौकिकता नहीं।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जायसी की कथा में कुछ ऐसी मौलिक कमजोरियाँ हैं जो अलौकिक प्रेम का निर्वाह नहीं होने देतीं। पद्मावती यदि ब्रह्म है तो प्रश्न उठता है कि आत्मा से मिलने के लिए क्या ब्रह्म भी तड़पता है। और रत्नसेन के मरने पर जब पद्मावती सती हो जाती है, तब क्या ब्रह्म भी आत्मा के लिए सती हो गया? सतियाँ भी एक नहीं दो हैं। दोनों ही रत्नसेन से प्रेम करती हैं। यदि नागमती सांसारिकता है तो क्या वह भी ब्रह्म और जीव के साथ जल मरी? और 'चितउर भा इसलाम' का क्या अर्थ है, क्या शरीर पर इस्लाम की विजय हुई? इस तरह की और भी कमजोरियाँ दिखायी जा सकती हैं।

वास्तव में जायसी प्रेम और शृंगार के कवि हैं। ये प्रेम और शृंगार मूलतः

लौकिक हैं, उनके वर्णन का प्रभाव लौकिक है। उनका आधार मूलतः यहाँ की जनसंस्कृति है। जायसी के शृंगार-वर्णन में अनेक स्थानों में अत्युक्ति होने पर भी वह दरबारी कवियों की परम्परा से भिन्न हैं। शुक्लजी ने इसे अनेक बार स्पष्ट कर दिया है।

शुक्लजी ने जायसी में जिन चीजों को दोष माना है, वे बहुधा दरबारी कवियों की पद्धति से मिलती-जुलती हैं, जैसे वस्तुओं की गिनती। पद्मावती के समागम की कुछ पंक्तियों का अश्लील होना, पद्मावती और रत्नसेन का नीरस वाक्चातुर्य, 'गूढबानी का दम भरनेवाले मूर्ख-पन्थियों के अनुकरण पर कुछ पारिभाषिक शब्दों की थिगलियाँ' जोड़ना, समुद्र का काल्पनिक वर्णन, सुकुमारता दिखाने के लिए अस्वाभाविक अत्युक्तियाँ, एक ही भाव और एक ही उपमा को बार-बार दोहराना—ये सब दोष ऐसे हैं जो बहुधा रीतिकालीन कवियों में मिलते हैं। सुकुमारता के बारे में अत्युक्तियों की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने बिहारी का हवाला दिया भी है। उन्होंने जायसी की आलोचना स्वाभाविकता, मानव-सुलभ सहृदयता की भूमि से की है। जहाँ जायसी ने कोरा चमत्कार दिखाने की कोशिश की है, वहाँ शुक्लजी ने निडर होकर जायसी को दोषी ठहराया है। शुक्लजी का यह कार्य आलोचना-साहित्य में यथार्थवाद की प्रतिष्ठा करता है।

अपनी भूमिका के प्रारम्भ ही में शुक्लजी कहते हैं कि प्रेम की तरंगें सभी हृदयों में समान रूप से उठती हैं, प्रिय का वियोग सभी को व्याकुल करता है, माता का हृदय सभी जगह एक-सा होता है। प्रेममार्गी कवियों ने 'सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा'; वे जीवन-दशाओं से परे असामान्य प्रेम का चित्रण करने के कारण प्रेम-मार्गी नहीं हैं वरन् उन्होंने 'प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता' पूरी की।

शुक्लजी ने जायसी की महत्ता प्रकट करने के लिए अनेक स्थलों पर अन्य कवियों से उनकी तुलना की है। कबीर आदि निर्गुण-पन्थियों से उन्हें श्रेष्ठ माना है। सापेक्ष दृष्टि से निर्गुण-पन्थियों से सगुण-पन्थियों ने मानव-जीवन का चित्रण ज्यादा अच्छा किया है। लेकिन हम देख चुके हैं कि निर्गुणपन्थी भी भक्त थे, उनकी भक्ति का आधार प्रेम था और शुक्लजी के ही शब्दों में वे निम्नवर्गों की जनता के आत्म-सम्मान को जगा चुके थे। जायसी की भूमिका में शुक्लजी ने निर्गुण-पन्थियो को कहीं-कहीं लोकविरोधी तक कह डाला है (उदाहरण के लिए पृ. १६४ पर)। यह उचित नहीं है; वह उन्हीं की स्थापनाओं के विरुद्ध बैठता है। शुक्लजी ने कबीर के बारे में जायसी की यह उक्ति उद्धृत की है :

ना-नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहे सों मैं हारा।
प्रेम तंत निति ताना तनई। जपतप साधि सैकरा भरई॥

इससे यही सिद्ध नहीं होता कि "कबीर को वे बड़ा साधक मानते थे", वरन् यह भी कि जायसी उनकी साधना का आधार प्रेम को ही मानते थे।

जायसी ने निराला पन्थ निकालने का हौसला न किया हो, लेकिन उनकी

पुस्तक को बहुत लोग धर्मग्रन्थ के समान ही मानते थे, यह जानी हुई बात है। मध्यकाल में जब सामाजिक संघर्ष बहुधा धार्मिक रूप लेते रहे हों, कबीर को निराला पंन्थ निकालने के लिए निंदित नहीं ठहराया जा सकता। कबीर के लिए शुक्लजी ने लिखा है: "उन्हें बाहर जगत् में भगवान् की रूप-कला नहीं दिखायी देती", यह भी सही नही है और उसके विरुद्ध कबीर की पचीसों पंक्तियाँ उद्धृत का जा सकती हैं।

लेकिन शुक्लजी ने जायसी को एक हद तक कबीर की परम्परा में रखा है, यह मानना होगा। उन्होंने अपनी भूमिका का आरम्भ ही इस वाक्य से किया है: "सौ वर्ष पहले कबीरदास हिंदू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पण्डितों और मुल्लाओं को तो नहीं कह सकते, पर साधारण जनता 'राम और रहीम' की एकता मान चुकी थी।" शुक्लजी की दृष्टि में इसी एकता के काम को जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों ने और आगे बढ़ाया। रांगेय राघव आदि आलोचक शुक्लजी को ब्राह्मणवादी कहते हैं। इसका एक प्रमाण शुक्लजी द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन भी मानना चाहिए।

श्री कमल कुलश्रेष्ठ 'हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य' में शुक्लजी की उक्त स्थापना का विरोध करते हुए अपना यह मत प्रकट करते हैं कि जायसी आदि कवियों ने "प्रेमाख्यानों के द्वारा इस्लाम प्रचार की पृष्ठभूमि तैयार की।" उनका तर्क है कि इन कवियों के गुरु इस्लाम के प्रचारक थे और इन कवियों की 'दृढ़ आस्था' इस्लाम पर थी। ये कवि कुरान को भी पुरान कहते थे क्योंकि इस तरह वे कुरान के लिए श्रद्धा उत्पन्न करवाना चाहते थे। अगर ये विद्वेष दिखलाते तो इनका भेद शीघ्र खुल जाता; "इस कारण उन्होंने सम्भवतः सामंजस्य एवं सहिष्णुता का जामा पहन लिया था।" कहने का मतलब यह कि ये प्रेममार्गी कवि पूरे चार सौ बीस थे; अपने धर्म का प्रचार करने के लिए इन्होंने तरह-तरह के भेस बना लिये थे। कुलश्रेष्ठजी इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि इनमें सामंजस्य एवं सहिष्णुता के भाव हैं। लेकिन आखिर सहिष्णुता के भाव मुसलमानों में क्यो हों? सामंजस्य की उदार भावना उनमें कैसे आ सकती है? इसलिए लेखक ने अपने ही शब्दों में "इस मौलिक दृष्टिकोण का उद्घाटन" किया है यद्यपि दुर्भाग्यवश वह "इसके पक्ष में अति प्रबल प्रमाण देने में असमर्थ है।"

उसकी असमर्थता का दावा सही है लेकिन दृष्टिकोण की मौलिकता का दावा गलत है। इस दृष्टिकोण को कुलश्रेष्ठजी से पहले श्री चन्द्रबली पाण्डेय और उनसे पहले श्री मैकडानल्ड पेश कर गये थे। श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' में लिखा है: "श्री मैकडानल्ड ने ठीक ही कहा है कि इस्लाम के प्रचार के लिए नीतिज्ञ दरवेश प्रान्तीय प्रदेशों में जाते और अपनी उदारता तथा प्रेम के उपदेशों से कतिपय व्यक्तियों को मूंड लेते थे।"

इसके विपरीत शुक्लजी की धारणा है कि "खलीफा लोगों के कठोर धर्म शासन के बीच भी सूफियों की प्रेममयी वाणी ने जनता को भावमग्न कर दिया।"

मंसूर-जैसे लोगों ने जो सूली पायी, वह कट्टरता का विरोध करने के ही कारण। जायसी मुसलमान थे, इस्लाम में उनकी आस्था थी, इसमें कोई सन्देह नहीं, जैसे सूर और तुलसी हिन्दू थे और राम और कृष्ण में उनकी आस्था थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। कबीर भी—जिन्होंने हिन्दुओं और तुर्कों को खूब खरी-खोटी सुनायी है—इस बात पर गर्व प्रकट करते हैं कि वह रामानन्द के चेले हैं और राम की बहुरिया हैं। कुलश्रेष्ठजी के तर्क के अनुसार कबीर भी रामानन्द के छिपे हुए दलाल थे और धार्मिक कट्टरता को फटकार कर वास्तव में हिन्दुओं की राम-भक्ति का प्रचार करना चाहते थे। वास्तविकता यह है कि ये सभी कवि हमारी जातीय संस्कृति के निर्माता हैं क्योंकि इनके चिन्तन और भावना का मूल तत्त्व प्रेम है। कुछ विद्वानों की समझ में यह बात नहीं आती, इससे हम समझ सकते हैं कि शुक्लजी अपने समय के कितने प्रगतिशील विचारक थे।

जो लोग शुक्लजी में एकांगी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण देखते हैं (शिवदान-सिंह चौहान आदि), उन्हें जायसी की भूमिका में पद्मावत के कलात्मक पक्ष का विवेचन ध्यान से पढ़ना चाहिए। शुक्लजी ने पद्मावत की कथावस्तु के गठन की इसलिए प्रशंसा की है कि "घटनाओं को आदर्श परिणाम पर पहुँचाने का लक्ष्य कवि का नहीं है।" उनका तर्क यह है कि कवि का वह लक्ष्य होता तो वह राघव चेतन का बुरा परिणाम भी दिखाता। राघव चेतन का यह परिणाम न दिखाकर "संसार की गति जैसी दिखायी पड़ती है वैसी ही उन्होंने रखी है।" इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी कथावस्तु के कलात्मक निर्वाह को भी यथार्थवाद के आधार पर परखते हैं, उसके सौन्दर्य के लिए स्वाभाविकता की कसौटी मानते हैं। कथावस्तु में वह सम्बन्ध-निर्वाह की माँग करते हैं। कथा की घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध होनी चाहिए। रामचन्द्रिका जहाँ फुटकर पद्यों का संग्रह लगता है, वहाँ पद्मावत का प्रवाह खण्डित नहीं है। पद्मावत में जो प्रासंगिक वृत्त हैं, वे भी मूलकथा के आश्रित हैं। कथावस्तु के गठन का विवेचन करते हुए शुक्लजी ने इस बात की सुन्दर मिसाल रखी है कि अरस्तू जैसे पाश्चात्य आलोचकों के काव्य-सिद्धान्तों को किस तरह रचनात्मक ढंग से भारतीय काव्य की आलोचना करते हुए लागू किया जा सकता है।

शुक्लजी ने जायसी की सरस भाषा, प्रभावशाली वर्णनशैली आदि की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। अनेक उदाहरण देकर उन्होंने जायसी की कलात्मक प्रतिभा का मर्म प्रकट किया है। कवि की भोली-भाली और प्यारी भाषा और उसकी स्वाभाविक उक्तियों की वह दाद देते हैं। केवल वर्णन का सहारा न लेकर जायसी जहाँ सौन्दर्य के प्रभाव का उल्लेख करके चित्र आँकते हैं, उसकी कई मिसालें देकर ('बेनी छोरि झार जौ बारा' आदि) शुक्लजी कहते हैं :

"केशों की दीर्घता, सघनता और श्यामलता के लिए सादृश्य पर जोर न देकर कवि ने उनके प्रभाव की उद्भावना की है। इस छाया और अन्धकार में माधुर्य और शीतलता है, भीषणता नहीं।" शुक्लजी के कलात्मक विवेचन का यह एक अच्छा उदाहरण है।

तुलसी की अपेक्षा जायसी में चरित्र-चित्रण की विविधता और सजीवता की कमी है, यह स्पष्ट ही है। जहाँ तुलसी की पहुँच 'मनुष्य के सर्वतोमुख उत्कर्ष' तक है, वहाँ जायसी के पात्रों में व्यक्तिगत और वर्गगत विशेषताएँ उभकर नहीं आईं। व्यक्ति और वर्ग की बात उठाकर शुक्लजी ने उसी यथार्थ की माँग की है जिसे अनेक दूसरे आलोचक 'इण्डिविजुअल और टाइप की एकता' कहते हैं। शुक्लजी ने 'पद्मावती' के पात्रों के विवेचन में इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम लिया है। चरित्र-चित्रण स्वाभाविक हुआ है, इतना न कहकर उन्होंने रत्नसेन को एक आदर्श प्रेमी और राजपूत योद्धा के रूप में देखा है। जायसी द्वारा उसके चित्रण का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उसके जातिगत स्वभाव और प्रेमी के व्यापक रूप, दोनों की छानबीन की है। इसी तरह पद्मावती में उसकी 'व्यक्तिगत दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता' तथा उसके 'स्त्रीसुलभ प्रेमगर्व और सपत्नी के प्रति' ईर्ष्या का उल्लेख किया है। जायसी ने पद्मावती के सती होने का वर्णन किया है और उसमें प्रेम की अनन्य परिणति भी देखी है। कबीर ने भी ईश्वर-प्रेम की तुलना सती से की है। शुक्लजी साधारणतः स्त्री-पुरुष के लिए एक ही नियम मानते हैं, इसलिए सती होने को आदर्शरूप में पेश करना उन पर पुराने संस्कारों का प्रभाव समझना चाहिए। उन्होंने जायसी के अलंकारों का विवेचन करके दिखाया है कि अलंकारों से भाव-सौन्दर्य कैसे बढ़ता है। अलंकारों की लम्बी सूची देकर वह उसी दोष के भागी हुए हैं जो उन्होंने जायसी में देखा था।

शुक्लजी ने जायसी की भाषा को उचित ही ठेठ अवधी कहा है। ठेठ पूरबी अवधी के शब्दों का व्यवहार जायसी ने तुलसी से भी ज्यादा किया है। यह मत प्रकट करने के बाद शुक्लजी ने उसके कलात्मक परिणामों पर विचार किया है। तुलसी में भाषा-सौन्दर्य की विविधता है, जायसी में 'अवधी की खालिस, बेमेल मिठास' है।

यह कहना असंगत न होगा कि भाषा की यह स्थानीयता जायसी की सीमित लोकप्रियता का एक कारण है।

शुक्लजी ने जायसी की वाक्य-रचना पर भी विचार किया है; उनकी भाषा को 'केशव के अनुयायी' 'फुटकलिए कवियों की भाषा से' स्वच्छ और व्यवस्थित बतलाया है। फिर भी न्यूनपदत्व आदि वाक्यदोष भी दिखलाये हैं जिनसे अनेक स्थानों पर जायसी दुरूह हो गये हैं।

इस तरह शुक्लजी ने भाषा, कथावस्तु, गठन, चरित्र-चित्रण, अलंकार-योजना आदि पर विचार किया है और उन पर एकांगी समाजशास्त्री आलोचक होने का आरोप झूठा साबित होता है। शुक्लजी का दृष्टिकोण एकांगी नहीं है, वह कला-पक्ष पर भी बल देता है। वास्तव में उन्होंने जायसी आदि कवियों में जो जातीय संस्कृति के तत्त्व ढूँढ़े हैं, उन्हें जिस तरह व्यापक मानवता का कवि कहा है, वह शुक्लजी के आलोचकों को पसन्द नहीं है।

शुक्लजी ने यह भूमिका केवल साहित्य के विद्यार्थियों के लिए नहीं लिखी।

उसमें जायसी के भूगोल, ज्योतिष, इतिहास आदि की जानकारी की चर्चा उन सब लोगों के लिए भी शिक्षाप्रद होगी जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास से दिलचस्पी रखते हैं।

शुक्लजी ने जायसी की भूमिका लिखकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास को और शृखलाबद्ध किया, हमारे सांस्कृतिक इतिहास के ज्ञान को और समृद्ध किया। उन्होंने कबीर के समान जायसी को हिन्दू-मुस्लिम एकता और व्यापक मानववाद का कवि माना। जायसी आदि को साम्प्रदायिक भावना से परखनेवालों का उन्होंने खंडन किया। उन्होंने इन प्रेम-मार्गी कवियों के लिए दावा किया कि वे रीति-कालीन कवियों से श्रेष्ठ हैं। यथार्थवाद की भूमि से उन्होंने जायसी का मूल्यांकन करके उर्दू-हिन्दी दोनों की दरबारी कविता की अस्वाभाविकता दिखलाई और जायसी को मानवसुलभ प्रेम का कवि घोषित किया। उन्होंने जायसी का यह उद्देश्य बतलाया कि अलौकिक प्रेम का चित्रण करें लेकिन उन्होंने अपने विवेचन से जायसी के लौकिक प्रेम के चित्रण पर बल दिया और उसी के लिए उनकी महत्ता स्वीकार की। शुक्लजी निर्गुणपंथ को सगुणपंथ के बराबर प्रगतिशील न मानते थे। इसलिए कहीं-कहीं कबीर आदि पर उन्होंने ऐसे आक्षेप भी कर दिए हैं जो सही नहीं माने जा सकते। सूफीमत के प्रभाव को आँकते हुए कहीं-कहीं उन्होंने यहाँ की मूल धाराओं का महत्त्व कम करके आँका है। फिर भी यह सही है कि शुक्लजी ने प्रेम-तत्त्व और माधुर्यभाव की भारतीय पृष्ठभूमि का उल्लेख किया है और जायसी के मूलाधार जनसंस्कृति के तत्त्वों की ओर भी संकेत किया है। इस कारण यह भूमिका न केवल जायसी को समझने के लिए वरन् समूचे मध्यकालीन साहित्य के विकास को समझने के लिए बहुत सहायता देती है। उसमें भाषा-सम्बन्धी विवेचन, साहित्यिक सिद्धान्तों की चर्चा और शुक्लजी के व्यक्तित्व की छाप उसे उनकी श्रेष्ठ आलोचनाकृति बना देते हैं।

भक्ति का विकास और सूरदास

'भक्ति का विकास' नामक निबन्ध शुक्लजी के श्रेष्ठ दार्शनिक निबन्धों में से है। मध्यकालीन साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि समझने के लिए इसे अनिवार्य पाठ्य-सामग्री समझना चाहिए। यहाँ उन्होंने भारतीय भक्ति या प्रेम-मार्ग का ऐतिहासिक विकास दिखलाया है और प्राचीन धर्म और दर्शन को समझने के लिए एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी हमें दिया है। यद्यपि यह निबन्ध उनकी सूर-सम्बन्धी आलोचना के साथ छपा है,* फिर भी तुलसी, कबीर आदि अन्य कवियों का अध्ययन करने के लिए वह समान रूप से आवश्यक है।

धर्म के अध्ययन में शुक्लजी का क्रान्तिकारी दृष्टिकोण इस बात मे दिखाई देता है कि उन्होंने ईश्वर-सम्बन्धी मनुष्य की कल्पना को विकासमान स्वीकार किया है। ईश्वर और धर्म को समझने के लिए उन्होंने सामाजिक विकास के अध्ययन का रास्ता अपनाया है। उनका दृष्टिकोण एक बुद्धिवादी और समाज-शास्त्री का है, न कि रहस्यवादी और कल्पनावादी दार्शनिक का। मनुष्य की तमाम धारणाओं की तरह उसकी ईश्वर-सम्बन्धी धारणा का भी एक इतिहास है। शुक्लजी ने सबसे पहले आदिम असभ्य जातियों को लिया है। इनके उपास्य वन-देवता, ग्रामदेवता, कुलदेवता आदि होते हैं। ये देवता पूजा पाकर रक्षा और कल्याण करते हैं और पूजा न मिलने पर रुष्ट हो जाते हैं और अनिष्ट करते हैं। आदिम जातियों का मानव इसी जीवन में जो दुख-सुख पाता था, उसकी व्याख्या के लिए परोक्ष सत्ता की कल्पना करता था। इसलिए वनदेवता, कुलदेवता आदि की पूजा का चलन हुआ। शुक्लजी कहते हैं: "जो आदिम जातियाँ असभ्य या वन्यदशा में थीं उनकी परिमित भावना स्थानबद्ध या कुलबद्ध देवी-देवताओं तक ही रहती थी। वह इससे बड़े देवता की व्यापक भावना नही रखती थी।" यहाँ

---

*सूरदास, लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; सम्पादक, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बनारस, तृतीय संस्करण।

शुक्लजी ने देव-सम्बन्धी मानव-कल्पना का आधार उसका सामाजिक जीवन बतलाया है। आदिम जातियों का मानव अलग-अलग कुलबद्ध या स्थानबद्ध देवताओं की कल्पना क्यों करता था, उसकी भावना व्यापक न होकर परिमित क्यों होती थी? शुक्लजी का उत्तर है कि यह असभ्य जातियों की वन्यदशा के कारण है।

शुक्लजी का दृष्टिकोण उन क्वासिवादी कवियो से कितना आगे बढ़ा हुआ है जो विज्ञान का विरोध करने के लिए असभ्य जातियों के टोने-टोटकों, उनके परोक्ष-चिन्तन और तरह-तरह के अन्धविश्वासों को अलौकिक शक्ति का प्रमाण बतलाते हैं? इस तरह के कवि भारतीय संस्कृति की बहुत दुहाई देते हैं। शुक्लजी के दृष्टिकोण से उनकी धारणाओं का मिलान करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि इन लोगों की दुहाई विज्ञान का विरोध करने के लिए है; वास्तव में इन्हें भारतीय संस्कृति से प्रेम नही है वरन् आदिम जातियों के जादू-टोनों से सच्चा प्यार है। ये लोग वैज्ञानिक ढंग से प्राचीन संस्कृति का अध्ययन न कर पाने पर उसे भी जादू-टोनों के स्तर पर ले आते हैं।

शुक्लजी ने प्राचीन कुलदेवताओं आदि से यहूदियों के एकेश्वरवाद का विकास दिखाया: है। मूसा ने एक साधारण कुलदेवता यह्वा में ही 'सर्वज्ञता का आरोप' किया और लालसमुद्र के पास बसनेवाली जातियों में "कुल-देवता की भावना 'एकेश्वरवाद' (Monotheism) तक पहुँचाई गई।" एकेश्वरवाद का इलहाम नहीं हुआ; कुलदेवता की भावना ही एकेश्वरवाद तक पहुँचाई गई। यह एकेश्वरवाद के ऐतिहासिक विकास की ओर संकेत है।

इधर भारत की जातियों ने सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि को उपास्य ठहराया था। ये शक्तियाँ उपकार भी करती थीं, अनिष्ट भी। "आगे चलकर उन सब देवताओं का तत्त्वदृष्टि से एक में समाहार करके 'ब्रह्मवाद' (Monism) की प्रतिष्ठा हुई।" ब्रह्म ने भी किसी को स्वप्न में दर्शन देकर अपनी सत्ता प्रकट नही की; ब्रह्मवाद की धारणा का भी ऐतिहासिक विकास हुआ। यह धारणा उन प्राकृतिक शक्तियों के 'समाहार' से हुई जिनसे मनुष्य को उपकार और अनिष्ट की आशा और आशंका रहती थी। शुक्लजी ने 'मोनिज्म' और 'मोनोथीज्म' में भेद किया है। उनके लिए ब्रह्मवाद और एकेश्वरवाद एक ही वस्तु नही है। इसका कारण यह है कि शुक्लजी संसार से परे स्वर्ग में रहने वाले, विश्व के नियामक किसी ईश्वर नाम की सत्ता पर विश्वास नही करते, उनका ब्रह्म इस वास्तविक जगत् से भिन्न नहीं है, विश्व के विभिन्न रूप एक ही सत्ता और शक्ति के रूप हैं, वह सत्ता या शक्ति उन रूपों से परे नहीं है।

शुक्लजी 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' वाले प्रसिद्ध वैदिक मन्त्र को उद्धृत करके बतलाते हैं कि "मंत्रकाल में ही अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र इत्यादि एक ही ब्रह्म के नाना रूप माने जा चुके थे।" शुक्लजी के दृष्टिकोण में और वेदों को अलौकिक माननेवालों के दृष्टिकोण में जो अन्तर है, वह स्पष्ट दिखाई देता है। अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र आदि ब्रह्म के अलग-अलग नाम नहीं हैं वरन् उसके अलग-अलग रूप

हैं। इन अलग-अलग रूपों का 'समाहार' करके ही ब्रह्म की धारणा का विकास हुआ।

अग्नि, वायु आदि प्रत्यक्ष जगत् की शक्तियाँ थीं। मनुष्य अपनी जीवन-रक्षा में इनकी प्रत्यक्ष भूमिका देखता था। उनके प्रत्यक्ष प्रभाव के आधार पर उसने उनके परोक्ष प्रभाव की भी कल्पना की। दैत्यों और दस्युओं का पराभव भी "उन्हीं के परोक्ष प्रभाव" का फल समझा जाता था और बाढ़, अकाल आदि का कारण भी "उन्हीं का कोप समझा जाता था।" कहना न होगा कि स्वयं शुक्लजी बाढ़ या अकाल को किसी परोक्ष सत्ता के कोप का परिणाम नहीं समझते।

मंत्रकाल के बाद वह उपनिषत् काल को लेते हैं जब "एक ब्रह्म की भावना पूर्णता को पहुँची।" ब्रह्म की 'भावना' का उत्तरोत्तर विकास हो रहा था। वह तैत्तिरीयोपनिषद् से यह उद्धरण देते हैं कि ब्रह्म की उपासना 'अन्न, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द,' इन रूपों में करनी चाहिए। इस तरह की उपासना का अर्थ क्या है? शुक्लजी के शब्दों में "अन्नोपासना ब्रह्म को अपनी अन्तस्सत्ता के बाह्य जगत् में देखने का विधान है। मन, ज्ञान आदि के रूप में उपासना अपनी अंतस्सत्ता के भीतर देखने का विधान है। बाहर और भीतर दोनों ओर ब्रह्म को देखने पर ही पूर्णोपासना हो सकती है।" इस तरह शुक्लजी ने अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् की एकता स्थापित की है। उनके लिए ब्रह्मवाद बाह्यजगत् को अस्वीकार करना नहीं है, उसे माया, भ्रम, मिथ्या कहना नहीं है वरन् मनुष्य के मन, ज्ञान आदि और बाह्यजगत् की एकता स्वीकार करना है। शुक्लजी ने उपनिषदों के ब्रह्मवाद की जो व्याख्या की है, वह मायावादियों की व्याख्या से भिन्न है। उपनिषदों के इसी ब्रह्मवाद से उन्होंने भारतीय भक्ति-मार्ग का सम्बन्ध जोड़ा है। लिखा है, "भारतीय भक्ति-मार्ग में यही पूर्णोपासना की पद्धति गृहीत हुई है। इस मार्ग के भक्त केवल अपने मन के भीतर ही ब्रह्म को नहीं देखते, बाहर भी देखते हैं।" इसीलिए भक्तिमार्ग योगियों और मायावादियों के मार्ग से भिन्न है। शुक्लजी ने एक बार फिर भक्ति और योग का अन्तर दिखलाते हुए कहा है: "केवल स्वान्तःस्थ ब्रह्म की ओर उन्मुख योगमार्गियों की देखादेखी निर्गुणपंथी भक्त अलबत यह कहते पाये जाते हैं कि बाहर वह नहीं मिल सकता, अपने भीतर देखो।" इन योगमार्गियों के विरुद्ध वह तुलसीदास की यह मार्मिक उक्ति रखते हैं:

अन्तर्जामिहु तें बढ़ि बाहरजामी हैं राम जो नाम लिए तें।
पैज परे प्रहलादहु पै प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिए तें।

यदि कोई कहे कि वैज्ञानिक भौतिकवाद अपने को बाह्य जगत् तक सीमित रखता है, इसलिए एकांगी है, तो यह धारणा ठीक न होगी। वैज्ञानिक भौतिकवाद मनुष्य के अन्तर्जगत् को अस्वीकार नहीं करता; वह उसे बाह्य जगत् की ही प्रतिच्छवि मानता है। जैसा कि शुक्लजी ने रस-मीमांसा में लिखा है: "ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्यजाति जगत् नामक अपार और अगाध रूप समुद्र में छोड़ दी गई है। न जाने कब से वह इसमें बहती चली आ रही है। इसी की रूप-तरंगों से

उसकी कल्पना का निर्माण और इसी की रूपगति से उसके भीतर विविध मनोविकारों का विधान हुआ है।" (रस-मीमांसा, पृ. २५९)। मनुष्य की कल्पना, भावों, मनोविकारों का विधान बाह्य जगत् द्वारा हुआ है, मनुष्य स्वयं इस वास्तविक जगत् का अंग है, यही अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् की लौकिक एकता है।

भक्तों ने बहुधा ब्रह्म की उपासना विष्णुरूप में की। शुक्लजी अनेक भक्तों की तरह विष्णु को कोई वास्तविक देवता नहीं मानते वरन् कहते हैं : "इसी अन्तोपासना की पद्धति से ब्रह्म की भावना विष्णु रूप में प्रतिष्ठित हुई।" उपनिषदों की ब्रह्मोपासना का ही विकसित रूप विष्णु की उपासना है। विष्णु के रूप में भी परिवर्तन होता रहा है। पहले विष्णु सूर्य के प्रतीक थे; फिर 'नरसमष्टि का आश्रय' लेकर 'नराकार भावना' नारायण के रूप में हुई। शुक्लजी ने यहाँ यह प्रश्न उठाया है कि ब्रह्म की उपासना लोक-पालक विष्णु के रूप में क्यों हुई। यहाँ संसार के प्रलय और नयी सृष्टि के सिद्धान्त के बदले शुक्लजी ने विश्व की नित्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। संसार में जन्म-प्रलय का क्रम बराबर चला करता है लेकिन इस क्रम का परिणाम विश्व की नित्य स्थिति है, उसका विनाश नहीं। लिखा है : "विश्व के भीतर असंख्य खण्ड प्रलय होते रहते हैं—न जाने कितने लोक नष्ट होते रहते हैं—पर समष्टि रूप में विश्व या जगत् बराबर चला चलता है।" विश्व को अनित्य कहनेवालों के विपरीत शुक्लजी द्वारा यह उसके नित्यत्व की घोषणा है।

कठ, मुण्डक आदि उपनिषदों से उद्धरण देकर शुक्लजी ब्रह्म के दो रूपों, सगुण और निर्गुण की धारणा का इतिहास बतलाते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म को कहीं सगुण और व्यक्त कहा गया है और कहीं निर्गुण और अव्यक्त। बहुत जगह उसे उभयात्मक भी कहा गया है। भारतीय भक्ति-मार्ग "यह उभयात्मक स्वरूप ग्रहण करके चला।" उसके लिए सगुण और निर्गुण "दोनों रूप नित्य और सत् हैं।"

लेकिन शुक्लजी इससे आगे बढ़कर कहते हैं कि सगुण और निर्गुण का यह भेद वास्तविक नहीं। सगुण-निर्गुण की यह व्याख्या ध्यान देने योग्य है : "जहाँ तक ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियों के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते हैं। पर वहीं तक उसकी इयत्ता नहीं। उसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है जिसके लिए हम कोई शब्द न पाकर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेधवाचक शब्दों का आश्रय लेते हैं।" प्राचीन दर्शन का अध्ययन करने के लिए यह सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार अव्यक्त या निर्गुण ब्रह्म इस दृश्य जगत् से भिन्न नहीं है वरन् उसी का वह क्रम है जिसे मनुष्य का सीमित ज्ञान अपने में समो नहीं पाया। जो अनुभव में आया, वह तो व्यक्त जगत् हुआ, जो अनुभव में नहीं आया, वह अव्यक्त ठहरा। इसलिए नेति-नेति कहकर यह संकेत किया गया कि जितना अनुभव में आया, उतना ही सबकुछ नहीं है। इसीलिए "जिस सगुण और व्यक्त रूप की भक्त उपासना करता है वह असत्, भ्रम या मिथ्या नहीं है।"

यदि अव्यक्त और निर्गुण वह विश्व है जो हमारे अनुभव में नहीं आया, तो

उसके लिए ज्ञात विश्व से भिन्न नियमों की घोषणा नहीं की जा सकती। इसलिए शुक्लजी की यह स्थापना सही नहीं ठहरती—"व्यक्त और सगुण की नित्यता प्रवाह रूप है; अव्यक्त और निर्गुण की स्थिर।" यदि अव्यक्त वह विश्व है जो हमारे अनुभव में नहीं आया तो यह कैसे पता लगा कि वह स्थिर है? यदि ज्ञात और अज्ञात की एकता वास्तव में है तो क्या यह अधिक सम्भव नहीं कि ज्ञात विश्व की गतिशीलता का नियम अज्ञात विश्व पर भी लागू हो?

'नेति नेति' की व्याख्या दो तरह से की गई। शुक्लजी के अनुसार जो विशुद्ध निर्गुणवादी थे, वे इसका अर्थ करने लगे कि जो कुछ व्यक्त और गोचर है, वह असत् और मिथ्या है लेकिन भक्तिमार्गी उसका यह अर्थ लगाते रहे कि ज्ञात विश्व ही सबकुछ नहीं है, उसके आगे भी है। उपनिषदों में ब्रह्म के लिए व्यक्ताव्यक्त शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ भी यह है कि "अव्यक्त की ही अभिव्यक्ति यह व्यक्त दृश्य जगत् है।" यह अभिव्यक्तिवाद भक्ति-मार्ग की विशेषता है। शुक्लजी के अनुसार वह सूफी मत से थोड़ा भिन्न है। सूफियों का प्रतिबिम्बवाद संसार को ब्रह्म की छाया कहता है जबकि अभिव्यक्तिवाद उसे ब्रह्म का ही प्रकाश कहता है। "अभिव्यक्तिवाद के अनुसार यह दृश्य जगत् भी ब्रह्म ही है। उसकी छाया नहीं।" इसके समर्थन में शुक्लजी ने गीता से श्रीकृष्ण की यह उक्ति उद्धृत की है कि जगत् में जो कुछ ऊर्जित और दिव्य दिखाई दे रहा है, वह मैं ही हूँ। इस पर शुक्लजी की टिप्पणी है: "इसका तात्पर्य यही है कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है पर हमारा परिमित ज्ञान ऐसा है कि उसके गोचर होने योग्य ब्रह्मत्व हमें सर्वत्र नहीं दिखाई पड़ता।" सम्पूर्ण जगत् का ही दूसरा नाम ब्रह्म है। हमारा ज्ञान परिमित है। इसलिए उसके गोचर होने योग्य ब्रह्मत्व हमें सब जगह नहीं दिखाई पड़ता। गीता की उसी उक्ति पर शुक्लजी ने आगे चलकर एक बार फिर टिप्पणी की है: "इस वचन में इस बात का संकेत है कि उपास्य को बिलकुल परोक्ष रखकर उपासना करने की आवश्यकता नहीं। जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है अतः इसी में उपासना और भक्ति करने के लिए भगवान की प्रत्यक्ष कला मिल जायेगी।" शुक्लजी ने भागवत में 'इसी तथ्य का स्पष्टीकरण' दिखलाया है; इन्द्र के बदले गोवर्धनादि की पूजा का यही रहस्य है। इसीलिए भक्ति-मार्ग में परोक्षता का 'परिहार' किया गया। सूर आदि कवियों ने ब्रह्म को जो कहीं-कहीं त्रिगुणातीत कहा है; उसके बारे में शुक्लजी का कहना है कि वह भक्तों के हृदय की स्थायी वृत्ति नहीं। भक्त प्रकृति को ब्रह्म से अलग नहीं करता।

शुक्लजी के सारे विवेचन से यह बहुत ही स्पष्ट हो जाता है कि संसार सत्य है या मिथ्या—इस मूल प्रश्न पर उन्होंने बिना झिझके हुए यह मत प्रकट किया है कि यह संसार सत्य है। इस मत का इतिहास उन्होंने वेदों और उपनिषदों का हवाला देकर दिखलाया है और इसी मत से उन्होंने भक्तिमार्ग का सम्बन्ध जोड़ा है। शुक्लजी का यह दृष्टिकोण मूलतः सही है, वैज्ञानिक है और एकमात्र दृष्टिकोण है जिससे हम भारतीय दर्शन के प्रगतिशील तत्त्वोंका उद्घाटन कर सकते हैं। शुक्लजी

उन तमाम 'अध्यात्मवादियों' के साथ नहीं हैं जो भारतीय चिन्तन की सबसे बड़ी और उसकी निजी विशेषता यह बतलाते हैं कि वह संसार को मिथ्या कहता है और परोक्ष को एकमात्र सत्य मानता है। भारतीय संस्कृति के नाम पर इस परोक्ष-वाद का खूब प्रचार हुआ। शुक्लजी ने दिखलाया है कि एक भारतीय संस्कृति और है जो संसार को मिथ्या नहीं मानती, जो परोक्ष की उपासना नहीं करती, जिसके लिए ब्रह्म इस सम्पूर्ण जगत् का ही दूसरा नाम है। शुक्लजी के विवेचन से यह भी पता चलता है कि यह धारा भारतीय संस्कृति की कोई दीन-क्षीण, अलग पड़ी हुई शुष्क और निर्जीव धारा नही है। वह भारतीय संस्कृति की मौलिक, प्रशस्त और सरस धारा है जिसके आधार पर भक्ति-आन्दोलन जैसा सशक्त सांस्कृतिक-आन्दोलन और सूर और तुलसी का-सा लोकप्रिय साहित्य निर्मित हुआ।

बीसवीं सदी में अनेक पच्छिमी विद्वानों ने परोक्षवाद, मायावाद आदि को भारतीय संस्कृति की विशेषता कहकर उसकी खूब दाद दी है। इससे उनका यह हित होता था कि भारतीय जनता जब संसार को ही मिथ्या समझती थी, तब अपनी स्वाधीनता के लिए, नये समाज के लिए और अपनी जातीय संस्कृति के उत्थान के लिए क्यों लड़ेगी। शुक्लजी के युग में रहस्यवाद का काफी प्रचार हुआ। बड़े-बड़े दार्शनिक कवि और राजनीतिज्ञ, पच्छिम के अनेक महिमा-मण्डित विद्वान् उसका समर्थन कर रहे थे। लेकिन शुक्लजी ने इन सबके संयुक्त मोर्चे से आतंकित न होकर दृढ़ता से अपनी धारणाएँ जनता के सामने रखी, भारतीय साहित्य और देश के सांस्कृतिक विकास को समझने का एक नया दृष्टिकोण दिया।

रहस्यवाद के प्रभाव के कारण बहुत से विद्वान् मध्यकालीन साहित्य में विचारधाराओं के संघर्ष को समझने में प्रायः असमर्थ रहे हैं। उन्होंने मत-मतान्तरों के पेचदार विवेचन में इस मूल संघर्ष को भुला दिया है। ये दो विचारधाराएँ कौन सी थीं? एक विचारधारा संसार को मिथ्या समझने की थी, दूसरी उसे सत्य समझने की थी। ये विचारधाराएँ सदा ही बहुत स्पष्ट रही हो, यह बात नही है, लेकिन उनका तत्त्व यही था, इसमे सन्देह नहीं। संसार को मिथ्या समझने वाली विचारधारा के नेता थे शंकराचार्य; संसार को सत्य समझने वाली विचारधारा के नेता थे रामानुज, मध्व, निम्बार्क और बल्लभ। रामानुज आदि विचारकों में परस्पर मतभेद भी था लेकिन मूल रूप में उन सभी का झुकाव मायावाद का विरोध करने की ओर था। भक्ति-आन्दोलन पर मुख्यतः इन्हीं विचारकों का प्रभाव था। शुक्लजी उनका उल्लेख करने के बाद कहते हैं: "इन सब आचार्यों का सामान्य प्रयत्न शंकराचार्य के मायावाद अर्थात् जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिषेध था।"

जगत् का मिथ्यात्व एक तरफ, उसका प्रतिषेध दूसरी तरफ; इन दो विचार-धाराओं के संघर्ष को समझे बिना मध्यकालीन संस्कृति के विकास को समझना असम्भव है। यह बात आकस्मिक नहीं है कि भक्त कवियों ने मानव-जीवन, मानव सम्बन्धों और मानव-स्वभाव के वे चित्र हमें दिये जो पहले के 'ज्ञानी' अपनी

कृतियों में न दे सके थे। इसका कारण यह था कि ये 'ज्ञानी' परोक्ष के ज्ञानी थे, प्रत्यक्ष के अज्ञानी। सरस साहित्य की रचना मानव-जीवन और मानव-सम्बन्धों को भुलाकर नहीं हो सकती; किसी-न-किसी रूप में इन्हें सत्य मानकर ही वैसा साहित्य रचा जा सकता है। शुक्लजी ने लगातार योग और मायावाद का विरोध करते हुए तथा प्रत्यक्ष जगत् की सत्ता का प्रतिपादन करते हुए उपर्युक्त तथ्य को बहुत ही साफ-सुथरे, प्रभावोत्पादक ढंग से हमारे सामने रखा है।

श्री बल्लभाचार्य पर अपने निबन्ध में शुक्लजी ने अपनी उसी स्थापना को दोहराया है : "यह सूचित किया जा चुका है कि रामानुज से लेकर बल्लभाचार्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य हुए हैं सबका लक्ष्य शंकराचार्य के माया-वाद या विवर्तवाद को हटाने का था जिसके भीतर उपासना या भक्ति, अविद्या या भ्रान्ति ही ठहरती थी।"

इसी कारण सूर की गोपियों ने ज्ञानी ऊधो और उनकी निर्गुण ब्रह्म की उपा-सना, योग आदि पर व्यंग्य किया है। मध्यकालीन कवियों के लिए 'ज्ञानी' शब्द बहुत कुछ 'मायावादी' का पर्याय हो गया था। इनका ज्ञान एक ओर दार्शनिक शब्दजाल में उलझा होता था, दूसरी ओर वह लोकजीवन में अव्यवहार्य भी था। शुक्लजी "याकी सीख सुनै ब्रज को रे" आदि सूर की पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए कहते हैं : "ज्ञानमार्गी वेदान्तियों और दार्शनिकों के सिद्धान्तों की लोक में अव्यवहार्य्यता तथा उनके बेडौल और भड़कीले शब्दों के अर्थों की अस्पष्टता और दुर्बोधता आदि की ओर गोपियों की यह झुंझलाहट कैसा संकेत कर रही है।"

सूर और तुलसी पर मायावाद का बिल्कुल असर न हुआ हो, यह बात नहीं है। उन पर उसका भी असर है लेकिन उससे उनकी मूल प्रवृत्ति कुण्ठित नहीं होती और वह मूल प्रवृत्ति मायावाद का प्रतिषेध है। शुक्लजी ने कबीर को इस धारा से प्राय: बाहर रखा है, लेकिन कबीर ने भी शुद्ध निर्गुणवाद का बहुत जगह विरोध किया है। इसलिए उन्हें इस धारा के बाहर रखना ठीक नहीं। कबीर और सूर दोनों ही जब ज्ञानियों पर व्यंग्य करते हैं तो उनके सामने ज्ञानियों के रूप में अक्सर योगी और मायावादी ही रहते हैं। सूर और कबीर की यह सामान्य दार्शनिक भूमि है। कबीर कहते हैं :

पांड़े न करसी बाद - बिबादं।
या देही बिन सबद न स्वादं॥
तन छूटे जिव मिलन कहत है, सो सब झूठी आसा।
अबहुँ मिला तो तबहुँ मिलेगा, नहिं तो जमपुर बासा॥
भीतर कहूँ तो जगमय लाजै, बाहर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर-भीतर सकल निरंतर, चिह्न-अचित दोउ पीठा लो॥
घर में जोग भोग घर ही में, घर तज बन नहिं जावै।

इत्यादि।

इन उक्तियों का आधार वही ब्रह्मवाद है जिसका शुक्लजी ने विवेचन किया है। इनसे मिलती-जुलती सूर की बहुत-सी पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

शुक्लजी ने उपनिषदों, गीता, भागवत आदि में ब्रह्मवाद का विवेचन करने के साथ-साथ 'ज्ञान' प्राप्त करने के अबौद्धिक मार्गों का भी खण्डन किया है। उन्होंने योरप के रहस्यवादियों का विरोध किया है जो ज्ञान के लिए "बुद्धि-व्यवसाय से एक स्वतन्त्र साधन 'स्वानुभूति' (Intuition) का प्रचार" करते रहे हैं। उन्होंने एडवर्ड कार्पेंटर का हवाला दिया है जिसने वर्तमान समय की उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विरोध किया है जिसमें बुद्धि क्रिया ही सबकुछ मानी गयी है। उन्होंने फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसाँ का उल्लेख किया है जिसने बुद्धि क्रिया को भ्रान्तिजनक बताकर स्वानुभूति (Intuition) की हिमायत की थी। उन्होंने उर्दू कवि अकबर की यह पंक्ति भी उद्धृत की है : "मैं मरीजे होश था मस्ती ने अच्छा कर दिया।"

शुक्लजी ने इस तरह के अबुद्धिवाद का विरोध किया है। 'बुद्धि-रोग से छुटकारा' पानेवालों के मुकाबले में उन्होंने यहाँ के भक्ति-मार्गियों को रखा है जिनकी ओर से "ज्ञान क्षेत्र की ऐसी अवहेलना नहीं हुई।" भक्ति ज्ञान-प्रसार के बाहर नहीं होती; जो ब्रह्म को जितना जानता है, उतना ही उसकी भक्ति करता है। रहस्यवाद नया ज्ञान पाने का मार्ग नहीं है। शुक्लजी पूछते हैं : "किसी रहस्यदर्शी भक्त ने आज तक कहीं तत्त्वज्ञान की कोई नयी बात बताई है?" रहस्यवाद जहाँ ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनता है, वहाँ वह "एक झूठे खेल के सिवा और कुछ नहीं रह जाता।" ब्लेक आदि अंग्रेजी कवियों ने जो कल्पना को उड़ान भरी है, उसे शुक्लजी ने उचित ही ज्ञानोपलब्धि स्वीकार नहीं किया। रहस्यवादियों ने ईश्वर-समागम की दशा का जो वर्णन किया है, उसे शुक्लजी ने 'चित्तविक्षेप' कहा है, उसकी तुलना उन अन्धविश्वासियों से की है जिनके सिर पर कोई भूत या देवता आ जाता है। यह पुराना संस्कार कैसे अब तक चला आता है और रहस्यवादियों की 'अनुभूति' में भी वह विद्यमान है, इस पर शुक्लजी कहते हैं : "इस दशा पर आस्था किसी प्राचीन दशा का संस्कार है जो किसी-न-किसी रूप में अब तक चलता है। उसी के कारण जैसा भूत-प्रेत, कुल-देवता आदि का सिर पर आना, वैसा ही यह ईश्वर का सिर पर आना समझा जाता है।" कुछ लोगों को शुक्लजी का यह व्यंग्य अच्छा न लगेगा; महाज्ञानियों के प्रति ऐसे लोग शुक्लजी में आवश्यक श्रद्धा का अभाव देखेंगे। वे कहेंगे; शुक्लजी की आलोचना एकांगी है, महाज्ञानियों का मखौल उड़ाती है, तर्क के बदले व्यंग्य और विद्रूप का सहारा लेती है। इस तरह की नुक्ताचीनी यही साबित करती है कि अवैज्ञानिक विचारधारा और तरह-तरह के अन्धविश्वासों के दिन बीत रहे हैं। रहस्यवाद को फिर से जीवित नहीं किया जा सकता।

शुक्लजी भक्ति-मार्गियों के लिए कहते हैं : "आज तक किसी भक्त महात्मा के सिर पर राम-कृष्ण नहीं आये। हाँ! हनुमानजी अलबत्त कभी-कभी भक्त-

मण्डली से उछलकर किसी-किसी के सिर आ जाया करते हैं !"

शुक्लजी भक्त की अनुभूति को अलौकिक नहीं मानते। जब ब्रह्म ही अलौकिक नहीं, तब उसकी अनुभूति अलौकिक कैसे होगी ? उनके अनुसार भक्त की भावानुभूति की दशा वही है जिसे काव्य में रसदशा कहा गया है। अनेक रसशास्त्री जहाँ रसानुभूति को अलौकिक अनुभूति कहने लगते हैं, वहाँ शुक्लजी भक्तों की भावानुभूति को भी रस की स्वाभाविक अनुभूति के स्तर तक ले आते हैं। शुक्लजी कहते हैं : "हमारे यहाँ भक्ति-मार्ग में भक्त के आनन्द को स्पष्ट शब्दों में 'भक्ति रस' कहा है। रस की अनुभूति एक प्राकृतिक और स्वाभाविक अनुभूति है जो किसी प्रकार के उत्कृष्ट काव्य द्वारा भी हो सकती है। उसी प्रकार की अनुभूति भक्ति की भी मानी गयी है।" इस तरह शुक्लजी ने भक्तों की अनुभूति को अलौकिक बन जाने से बचाया है, उसे रहस्यवादियों की अलौकिकता से भिन्न कोटि की कहा है। रसानुभूति को अनिर्वचनीय कहा गया है। और भक्ति-रस भी अनिर्वचनीय है; लेकिन अनिर्वचनीयता का यह अर्थ नहीं है कि किसी अलौकिक तथ्य का ज्ञान प्राप्त हुआ और वह बताते नहीं बन पड़ा। शुक्लजी के अनुसार अनिर्वचनीयता का यह अर्थ है कि "जहाँ तक ब्रह्म ज्ञेय और व्यक्त है वहीं तक वह नहीं है, उसके परे भी जो कुछ है सब ब्रह्म ही है।"

रहस्यवाद मूलतः विज्ञान-विरोधी है। इसके विपरीत शुक्लजी "विज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, बृहत्-से-बृहत् क्षेत्र मनुष्य के लिए खुलते जाते हैं"; उन सबका काव्य में उपयोग समझते हैं। उनकी शर्त यह है कि ये वैज्ञानिक तथ्य केवल अंग, आभूषण आदि की उपमा के लिए काम में न लाये जायें।

शुक्लजी के अनुसार भक्ति न तो रहस्यवाद का मार्ग है, न धर्मशास्त्रों का। पाप करने पर नरक जाना पड़ेगा, ईश्वर एक शासक है जो कर्मों का दण्ड देता है आदि धारणाओं को शुक्लजी नहीं मानते। जो लोग यमराज के डण्डे के डर से इच्छा रहने पर भी बहुत-से दुष्कर्म नहीं करते, उन्हें शुक्लजी नीची श्रेणी के धार्मिक कहते हैं। भक्त धर्म का यह पक्ष नहीं मानता। भक्त धर्म के शासनपक्ष और शास्त्रपक्ष का अवलम्बन न करके उसके हृदय-पक्ष का अवलम्बन करता है। बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के लिए कहते हैं : "अतः इस पुष्टिमार्ग में आने के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि लोक और वेद दोनों के प्रलोभनों से दूर हो जाय—उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे जो लोक का अनुसरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा कही गई है।" जो लोग भक्त कवियों की रचनाओं में वेद शब्द देखते ही घबरा उठते हैं, उनकी रचनाओं को धर्मशास्त्र मान बैठते हैं, उन्हें इस वाक्य पर ध्यान देना चाहिए। ध्यान देने की बात यह भी है कि जब पुष्टिमार्ग में आने के लिए मनुष्य को लोक और वेद दोनों के प्रलोभनों से दूर होना पड़ता है, तब कबीर ने ही धार्मिक कर्मकाण्डों की अवहेलना करके कौन-सा अपराध किया था ? वास्तव में धार्मिक कर्मकाण्ड के बदले प्रेममार्ग की स्थापना—यह सभी भक्तों के लिए थोड़े-बहुत अन्तर के साथ

सत्य है।

शुक्लजी पुष्टिमार्ग की चर्चा करते हुए कहते हैं : "पुष्टिमार्ग स्त्री-पुरुष, द्विज-शूद्र सबके लिए खुला है। मनुष्यमात्र इसके अधिकारी हैं।···भगवान् के प्रति जितना ही अधिक प्रेम होगा उतनी ही लोक और वेद के प्रति आसक्ति कम होगी।" आजकल प्रगतिशील आलोचना भक्ति-आन्दोलन का जनवादी रूप स्पष्ट करती है; वह आन्दोलन किस तरह ऊँच-नीच का भेद मिटाकर मनुष्य मात्र को एक करने वाला है, यह शुक्लजी के विवेचन से भी स्पष्ट है। उसी लेख में शुक्लजी कहते हैं : "भक्ति में नीच-ऊँच, छोटे-बड़े, बालक-वृद्ध इत्यादि का कोई भेद नहीं।" और यह स्थिति किसी एक सम्प्रदाय की नहीं है वरन् "भक्ति के व्यवहार क्षेत्र में तो यही स्थिति सगुण-निर्गुण, रामोपासक-कृष्णोपासक सब सम्प्रदायों की है।" यह स्थिति सन्तों की पुस्तकों तक सीमित नहीं है, वह 'व्यवहार-क्षेत्र' की स्थिति है। यह स्थिति सगुण-निर्गुण, राम-कृष्ण, सभी के भक्तों की है। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी भक्त मूलतः मनुष्यमात्र की समानता के समर्थक थे, न केवल कबीर वरन् सूर-तुलसी आदि कवि भी ऊँच-नीच की भावना से परे मानववादी साम्यभावना के प्रचारक थे। सन्त-साहित्य का अध्ययन इस तथ्य को पूरी तरह पुष्ट करता है।

शुक्लजी ने एक प्रश्न और उठाया है। व्यवहारक्षेत्र के बाहर इस साम्य-भावना का क्या अर्थ होता है? भक्ति के व्यवहारक्षेत्र के बाहर का अर्थ यही हो सकता है कि समाज के साधारण व्यवहार में—भक्ति की परिधि के बाहर—कर्म मार्ग और ज्ञानमार्ग का अस्तित्व स्वीकार किया जाय या नहीं। उन्होंने एक मिसाल दी है : "यदि हम पर कोई प्रहार या गालियों की बौछार करे तो क्षमा द्वारा शील की एकान्त साधना समीचीन होगी, पर यदि हमारे सामने कोई अत्यन्त क्रूर और निष्ठुर अत्याचारी किसी दीन या असहाय को पीड़ित कर रहा है तो बलपूर्वक उस अत्याचारी को रोकना और यदि आवश्यक हो तो उसे आघात द्वारा असमर्थ करना लोकधर्म होगा।" शुक्लजी सत्याग्रहवादी नहीं हैं। वह अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करने में विश्वास करते हैं। जैसा कि हम पहले अध्याय में देख चुके हैं, वह बहुत-से कुतर्की पण्डितों की तरह शाश्वत अहिंसा-धर्म का प्रश्न नहीं उठाते। उनके लिए क्या हिंसा है, क्या अहिंसा, यह परिस्थितियों पर निर्भर है। वह बलपूर्वक अत्याचारी को रोकने और आवश्यकता पड़ने पर उसे आघात द्वारा असमर्थ कर देने को अनुचित नहीं समझते। इस लोक-धर्म से वह भक्ति का सामंजस्य चाहते हैं। उनके विचार से भारतीय भक्तों में लोक-धर्म के साथ यह सामंजस्य है और यह 'उन्हें विदेशी पद्धति के निर्गुण भक्तों से अलग" करता है।

भक्त-कवियों पर निष्क्रियता और भाग्यवाद की भी छाप है। सभी भक्त सभी समय सक्रिय प्रतिरोध की बात नहीं करते। मध्यकालीन असंगठित सामाजिक जीवन में ऐसा करना उनके लिए सम्भव नहीं था। मनुष्य के बिखरे हुए त्रस्त और पीड़ित जीवन से निराशा और वैराग्य के भाव भी पैदा होते थे। इसलिए

अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध—इस लोक-धर्म के साथ जहाँ भक्ति का सामंजस्य न बैठे उसे हम विदेशियों के सिर नहीं मढ़ सकते। स्वयं शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है : "अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?" सूरदास की आलोचना में तत्कालीन समाज के बारे में शुक्लजी कहते हैं : "जनता पर गहरी उदासी छा गयी थी।" अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध का अभाव—या लोक-धर्म से विमुखता—का कारण यह उदासी और निराशा भी थी। भक्ति का यह भी एक स्रोत था। आज उदासी और निराशा का कोई वस्तुगत कारण नहीं है; जो कारण थे, वे जनता के संगठन और संघर्षों से मिट रहे हैं। इसीलिए आज का कवि भक्त बनकर समाज की सेवा नहीं कर सकता; उसके लिए आवश्यक है कि वह उस लोक-धर्म से सामंजस्य स्थापित करे जिसका उल्लेख शुक्लजी ने किया है।

शुक्लजी का विचार था कि यह निराशा और उदासी मुस्लिम शासन के कारण थी। देश में विदेशी जातियों का आक्रमण और उनका शासन भी एक कारण था। लेकिन वास्तविकता यह है कि सत्ता में सहायक और भाग लेने वाले देशी सामन्त भी थे, उन सामन्तों के देशी सहायक पंडे और पुरोहित भी थे। स्वयं शुक्लजी ने दरबारी कवियों को चुन-चुनकर सुनायी हैं, उससे स्पष्ट है कि उनकी सहानुभूति देशरक्षा के इन ठेकेदारों के साथ न थी। फिर भी उनके विवेचन में देशी सामन्तों की भूमिका हर जगह स्पष्ट नहीं है; इसलिए उन्होंने निराशा का कारण मुस्लिम शासन बताया है और लोक-धर्म से विमुख कवियों को विदेशी मतों से प्रभावित कहा है।

शुक्लजी राम और कृष्ण की उपासना का महत्त्व यह समझते थे कि ये चरित्र अत्याचार का दमन करने वाले थे, इसलिए जनता में भी वीर भावों का संचार करने वाले थे! उन्हें महाभारत के कृष्ण भागवत के कृष्ण से अधिक प्रिय हैं। महाभारत के कृष्ण लोक-मंगल का साधन करने वाले थे, उनमें शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनों का समन्वय था। लेकिन उनकी शिकायत यह है कि आगे चलकर कृष्ण के भक्ति-मार्ग से कर्म पक्ष हटता गया। वह मुख्यतः प्रेम के आलंबन होकर रह गए। कृष्ण-भक्त ब्रजलीला तक अपने को सीमित रखने लगे। उनकी रचनाओं में, शुक्लजी के अनुसार, 'जीवन के अनेक गम्भीर पक्षों के मार्मिक रूप' स्फुरित न हुए, न उनमें 'अनेकरूपता' आई। शुक्लजी को यही शिकायत जायसी से भी थी। जायसी कृष्ण-भक्त न थे लेकिन सूर की तरह वह भी प्रेम के कवि थे। इसलिए न तो सूर के प्रेमगीतों का कारण यह हो सकता है कि लोग कृष्ण का वीर रूप भूल गए थे और न उन गीतों का यह परिणाम हो सकता था कि मुर्झाया हुआ हिन्दू जीवन फिर लहलहा उठा। यदि मुर्झाये हुए जीवन के लिए सूर के गीतों की आवश्यकता पड़ी तो यही कारण जायसी के काव्य का भी हो सकता था।

वास्तविकता यह है कि हिन्दू और मुसलमान जनसाधारण सामन्ती व्यवस्था से पीड़ित थे। दोनों धर्मों में प्रेम के गीत गाने वाले पैदा हुए क्योंकि उन प्रेम-गीतों

की उपज इसी सामाजिक भूमि से हो रही थी। जायसी की रचनाओं के पाठक मुसलमान भी थे, अधिकतर मुसलमान ही रहे हों तो भी अचरज नहीं; उनकी प्रसिद्ध कृति 'पद्मावत' का बंगला में अनुवाद हुआ और वह बंगाल के मुसलमानों को प्रिय रही। इससे यह परिणाम निकलता है कि जो लोग इस्लाम और हिन्दू धर्म की टक्कर में मध्यकालीन समाज की आशा-निराशा का स्रोत ढूंढ़ते हैं, वे उस समय के साहित्यिक आन्दोलनों के सामाजिक आधार का सही-सही पता नहीं लगा सकते। जायसी और सूर एक ही समाज या एक-से ही समाज के प्राणी थे। यह समाज ऐसा था जिसमें नये व्यापारी वर्ग की बढ़ती के साथ-साथ कारीगरों, जुलाहों और किसानों में मुक्ति की आकांक्षा बढ़ रही थी। हर सामन्ती समाज में पुरोहितों ने जनता को परलोक के लिए जीना, इस लोक के जीवन के दुखों का कारण अपने पापों में ढूंढ़ना सिखाया है। जीवन की अस्वीकृति के विरोध में, सामन्ती शिकंजा ज़रा ढीला होने पर, जब जनता को साँस लेने का अवकाश मिला, तब उसने जीवन में अपनी आस्था प्रकट करना शुरू किया। उसने तरह-तरह के प्रतीकों द्वारा अपने हृदय के मानवसुलभ भावों को व्यक्त करना आरम्भ कर दिया। सूर और जायसी इस जीवन की स्वीकृति की वाणी हैं। इस वाणी को सामन्तों ने दबा रखा था, उस दबाव को तोड़कर ब्रज और अवध की धरती से यह प्रेम की सरस धारा फूट पड़ी। यह उसका सामन्त विरोधी पक्ष है जिसे भुलाना सही न होगा।

शुक्लजी ने ठीक लिखा है : "मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम-से-कम जीने की चाह बनी रहने दी।"

शुक्लजी ने सूर की कृष्णभक्ति का सम्बन्ध उचित ही जयदेव और विद्यापति से जोड़ा है। इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि उन्होंने सूर की कविता का सम्बन्ध ब्रज की लोक-संस्कृति, विशेषकर वहाँ के लोकगीतों की परम्परा से जोड़ा है। जायसी के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि मध्यकालीन कवियों के अध्ययन में शुक्लजी ने लोक-संस्कृति के प्रभाव का उल्लेख किया था। आलोचना में वह जिस यथार्थवादी और जनवादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर रहे थे, उसके अनुसार लोक-संस्कृति की ओर उनका ध्यान जाना ही चाहिए था। शुक्लजी ने सूर के गीतों पर लिखते हुए लोकगीतों को किसी भी देश की मूल काव्य-धारा समझने के लिए प्रमुख साधन माना है। उनके ये वाक्य हिन्दी आलोचना के भावी विकास की दिशा बतलाते हैं : "किसी देश की काव्य-धारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमें चिरकाल के चले आते हुए इन्हीं गीतों से मिल सकता है। घर-घर प्रचलित स्त्रियों के घरेलू गीतों में शृंगार और करुण दोनों रसों का बहुत स्वाभाविक विकास हम पाएँगे। इसी प्रकार आल्हा, कड़खा आदि पुरुषों के गीतों में वीरता की व्यंजना की सरल स्वाभाविक पद्धति मिलेगी। देश की अन्तर्वर्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिए ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह

बहुत आवश्यक है।"

सूर की प्रतिभा से चकित होकर शुक्लजी ने लिखा है : "सूरसागर किसी चली आती हुई गीतिकाव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"

सूर ही नहीं, उस समय के जितने महाकवि हुए हैं—तुलसी भी—उनका लोकगीतों की परम्परा से गहरा सम्बन्ध रहा है। उनकी रचनाएँ लोकगीतों के इतने निकट हैं कि वे उनकी परम्परा का सहज विकास मालूम होती हैं। इतना ही नहीं, वे उन लोकगीतों की परम्परा का अंग भी बन गयी हैं। इसका कारण यह था कि भक्त कवियों ने जनसंस्कृति को अपना आधार बनाया था; इसी आधार के कारण वे अपनी काव्यकला को ऐसा लोकप्रिय रूप दे सके लेकिन उनकी प्रतिभा का महत्त्व कम नहीं होता। उनकी श्रेष्ठ रचनाओं का कलात्मक सौन्दर्य आमतौर से सुन्दर लोकगीतों से बहुत ऊँचा है। उन्होंने लोकगीतों को अपनाया लेकिन उस परम्परा का स्तर और ऊँचा किया; उसमें संस्कृत-साहित्य के अध्ययन से लाभ उठाकर नया उत्कर्ष पैदा किया। सूर की रचनाएँ ब्रज की संस्कृति, यहाँ के प्रचलित ग्रामगीतों, रीति-रिवाजों, जनता की विनोदप्रियता और वाक्चातुरी पर अवलंबित हैं। इन्ही का निखरा हुआ सौन्दर्य उनमें मिलता है। शुक्लजी ने इस सिलसिले में लोकगीतों का हवाला दिया, यह उनकी सूझबूझ का प्रमाण है।

शुक्लजी के अनुसार तुलसी के मुकाबले में सूर का काव्यक्षेत्र सीमित है लेकिन उनमें ऊँचे दर्जे की तन्मयता है। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में वह सूर को अद्वितीय कवि मानते हैं। तुलसी ने गीतावली में जो बाललीला का वर्णन किया है, वह 'इनकी देखादेखी'; लेकिन बालसुलभ भावों की वह प्रचुरता तुलसी भी न ला सके। सूर तुलसी से भी ज्यादा एक ही रस में नये प्रसंगों की उदभावना करते हैं। इससे इतना तो मानना ही होगा कि शुक्लजी तुलसी के अंध भक्त नहीं हैं।

सूर के प्रेम का विश्लेषण करते हुए वह उसमें रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का योग दिखलाते हैं। जो बचपन के साथी हैं, वे आगे चलकर 'यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी' हो जाते हैं। इस क्रमशः विकास के कारण गोपियों का प्रेम 'स्वाभाविक' लगता है। सूर की गोपियाँ सजीव हैं, प्रेम ने उन्हें इतना जिन्दादिल बना दिया है कि 'कृष्ण क्या, कृष्ण की मुरली तक से छेड़छाड़' करती हैं। शुक्लजी ने सूर की सहृदयता और भावुकता के साथ उनकी 'चतुरता और वाग्विदग्धता (wit)' की भी तारीफ की है। काव्य की यह बौद्धिक प्रक्रिया बहुत-से आलोचकों की आँखों से ओझल हो जाती है। सूर एक ही बात को तरह-तरह के 'टेढ़े सीधे ढंग' से कह सकते हैं। गोपियों के वचन वक्रता से भरे हैं—

निरखत अंक श्यामसुन्दर के बारबार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई श्याम श्याम की पाती।

शुक्लजी ने इन पंक्तियों की व्याख्या करते हुए 'अंक' और 'श्याम' शब्दों में

श्लेष की तारीफ की है, सूर के 'लाघव' और 'मजमून की चुस्ती' की दाद दी है और यह बताना नहीं भूले कि केशवदास के ढंग पर सूर यही सब लिखते तो वह कितना बेतुका हो जाता। जगह-जगह दरबारी कवियों से सूर की विभिन्नता दिखाकर शुक्लजी ने मध्यकालीन साहित्य की दो धाराओं का अलगाव और विरोध प्रकट किया है। ये दो धाराएँ कभी-कभी एक-दूसरे को प्रभावित भी करती हैं; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे दो अलग धाराएँ नहीं हैं।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'महाकवि सूरदास' में यह दिलचस्प सवाल उठाया है कि नायिकाभेदी शृंगारी कवियों और सूर-जैसे भक्तों को दो अलग वर्गों में रखना क्या उचित है। उन्होंने लिखा है : "अब तक तो भक्त कवियों और शृंगारी कवियों को अलग-अलग कालों में डालकर एक-दूसरे से सम्पर्कविहीन रखने की व्यवस्था थी परन्तु अब ये प्रश्न भी निसंकोच पूछे जाने लगे हैं कि सूर आदि भक्त थे, इससे क्या प्रयोजन ? क्या वे शृंगारी नहीं थे ? और जिन्हें आप शृंगारी कवि कहते हैं, उन्होंने भी तो राधा-कृष्ण का शृंगार-वर्णन किया है। फिर इनमें और उनमें अन्तर क्या है और क्यों न वे एक ही श्रेणी में रखे जायँ ? सूरसागर की हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में नायिकाभेद के शीर्षक रखकर पद लिखे मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास हिन्दी में नायिकाभेद के प्राथमिक कवियों में हैं। इस विषय में अभी अनुसंधान की आवश्यकता है परन्तु जो तथ्य प्रकट हो रहे हैं और जिस स्वच्छन्द पथ पर हिन्दी का काव्य-विवेचन चल पड़ा है, उसे देखते हुए यह दृढ़ अनुमान है कि केवल भक्त संज्ञा देकर ही सूर आदि की कोटि अन्य कवियों की कोटि से अलग नहीं की जा सकेगी। सूरदास भक्त थे या नहीं, यह तो इतिहास के विद्यार्थी के अनुशीलन का विषय है। बिहारी भक्त नहीं थे, यह भी हममें से कोई नहीं कह सकता। राज-दरबार में रहने के कारण ही कोई शृंगारी अभक्त मान लिया जाय, यह कोई तुक की बात नहीं है।'

वाजपेयीजी ने 'अब तक तो' भक्तों और शृंगारी कवियों को विभाजित रखने की जो बात कही है, उसमें अवश्य ही शुक्लजी का हाथ भी रहा होगा। वास्तव में शुक्लजी ने शृंगारी और अशृंगारी का भेद नहीं किया। वह सूर को भक्तकवि मानते हैं, इसमें सन्देह ही क्या। लेकिन वह सूर को वात्सल्य और शृंगार का सबसे बड़ा कवि मानते हैं, यह भी हम ऊपर देख चुके हैं। इसलिए सूर बिहारी से इस कारण भिन्न नहीं है कि वह अशृंगारी कवि थे। मूल अन्तर दरबारी संस्कृति और जन-संस्कृति का है, दो तरह के सामाजिक आधार का है। दोनों के शृंगार-वर्णन में अन्तर यह है कि भक्त कवियों ने मानवसुलभ सौन्दर्य और प्रेम की भावना का चित्रण किया है, उनके भावचित्रण की भूमि स्वाभाविकता की है, दरबारी कवियों ने चमत्कारवाद का सहारा लिया, उनकी पहुँच स्वाभाविक भावभूमि तक न हुई वरन् वे सामन्तों के कामोद्दीपन का सामान जुटाते रहे। वाजपेयीजी ने सूर को 'वास्तविक भक्त' कहा है और परवर्ती कवियों की रचनाओं को 'अनुकरणप्रिय प्रणालीबद्ध' कहा है। इससे भी दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इसलिए शुक्लजी ने जो केशव आदि

कवियों को एक वर्ग में रखा है, उनका परस्पर भेद दिखाया है, दरबारी कवियों की तुलना में भक्त कवियों की श्रेष्ठता का बखान किया है, वह कार्य बिलकुल उचित है।

शुक्लजी ने सूर की भाषा को चलती ब्रजभाषा कहा है लेकिन यह भी जता दिया है कि वह "वह बिलकुल बोलचाल की ब्रजभाषा नहीं है।" सूर की भाषा में पुराने रूपों, अपभ्रंश के शब्दों आदि का हवाला देकर शुक्लजी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उस समय 'एक व्यापक काव्यभाषा' रही होगी। व्यापक काव्यभाषा रही हो चाहे न रही हो, सूर की भाषा व्यापक अवश्य है। जायसी की-सी अति-स्थानीयता उसमें नहीं है। जायसी की तुलना में उनकी अधिक लोकप्रियता का यह भी एक कारण है।

शुक्लजी को सूर-साहित्य पर कुछ आपत्तियाँ भी हैं। कहीं-कहीं सूर ने उपमानों को लेकर खेल किया है—'अद्भुत एक अनूपम बाग' आदि में। उन्होंने यह भी दिखाया है कि सूर-साहित्य समान रूप से सुन्दर नहीं है और सूर का प्रतिदिन गीत रचना इसका एक कारण बताया है। लेकिन उनकी मुख्य आपत्ति लोकसंग्रह के अभाव को लेकर है। उनका विचार है कि सूर "अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे" उनमें तुलसी के समान 'लोकसंग्रह का भाव' न था और "समाज किधर जा रहा है, इस बात की ये परवाह नहीं रखते थे।" उन्होंने कृष्ण का प्रेममय रूप ही लिया; चाहते तो वह "हृदय की अन्य वृत्तियों (उत्साह आदि) के रंजनकारी रूप भी" कृष्ण में पा सकते थे। कृष्ण का यह रूप एकदेशीय था। उन्होंने जिस प्रेम का वर्णन किया है, वह भी घटनापूर्ण नहीं है। शुक्लजी को यह बात अस्वाभाविक लगती है कि कृष्ण के इतना निकट होते हुए भी गोपियाँ विरह में तड़पा करती हैं और चार कदम चलकर उनसे मिल नहीं आतीं। उन्हें इस पर भी आपत्ति है कि विरह से परेशान सिर्फ गोपियाँ हैं, कृष्ण नहीं। सूर में जीवन की अनेकरूपता का अभाव है, वह जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ हैं, "लोक-संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं।" गोपियों के वियोग में सीता के वियोग की-सी गंभीरता नहीं है। कृष्ण के चरित में जो थोड़ा-बहुत लोकसंग्रह दिखाई देता है उसमें "सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई।" दैत्यों का संहार करनेवाला रूप सूर को प्रिय नहीं है। इस सिलसिले में सूर और तुलसी की तुलना करते हुए शुक्लजी लिखते हैं: "जिस ओज और उत्साह से तुलसीदासजी ने मारीच, ताड़का, खर-दूषण आदि के निपात का वर्णन किया है उस ओज और उत्साह से सूरदास ने बकासुर, अघासुर, कंस आदि के वध और इन्द्र के गर्वमोचन का वर्णन नहीं किया है।"

शुक्लजी ने जीवन की अनेकरूपता चित्रित करने के लिए तुलसी को सूर से श्रेष्ठ कवि कहा है, वह ठीक है। यह भी सही है कि तुलसी ने राम के चरित में अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध का जो सजीव चित्र खींचा है, वह सूर में नहीं है। लेकिन सूर अपने समय की समस्याओं के प्रति तटस्थ थे और उनमें लोकसंग्रह का

अभाव था, यह धारणा मान्य नहीं है।

सूर के कृष्ण दुर्योधन के यहाँ न जाकर विदुर के यहाँ शाक खाना पसंद करते हैं। "टूटी छानि, मेघ जल बरसै, टूटौ पलंग बिछाइयै।" कृष्ण को कनक-कलस वाले दुर्योधन के महल पसंद नहीं हैं, उन्हें अपना भक्त दासीसुत कहलाया जाकर अपमानित होने वाला विदुर पसंद है। सूर के कृष्ण दुर्योधन की सभा में द्रौपदी की लाज बचाने वाले हैं :

परै बज्र या नृपति सभा पै कहति प्रजा अकुलानी।

लेकिन दुखी प्रजा कुछ कर नहीं सकती। कृष्ण ने ही आकर उसकी रक्षा की। यह उनका लोकरक्षक रूप ही था। यह बात नहीं है कि इस तरह के कथावर्णन में सूर का मन नहीं रमा। द्रौपदी कहती है :

जितनी लाज गुपालहिं मेरी।
तितनी नाहिं बधू हौं जिनकी, अम्बर हरत सबनि तन हेरी।

इस मार्मिक उक्ति का जबाब नहीं। सूर के कृष्ण अर्जुन के सहायक हैं और दीन-दुखी मात्र के लिए कहते हैं :

भक्तनि काज लाज जिय धरि कै, पाँइ पियादे धाऊँ।
जहँ जहँ भीर परै भक्तन पै, तहँ तहँ जाइ छुड़ाऊँ।

भक्त के लिए ही कृष्ण ने अपना प्रण छोड़कर सुदर्शन चक्र धारण किया था। उन्होंने 'मेटि बेद की कानि' भीष्म का प्रण रख लिया और 'सोई सूर सहाइ हमारे', वह सूर के भी सहायक हैं। रथ से उतरकर धरती पर चक्र लिये दौड़ते हुए कृष्ण के उड़ते हुए पीतपट और ऊँची भुजा का सूर ने कलात्मक वर्णन किया है। उसी भुजा से गोवर्धन उठाकर कृष्ण इन्द्र के कोप से ब्रज के लोगों की रक्षा करते हैं। रावण के शत्रु राम से सूर अपरिचित नहीं हैं। "आजु अति कोपे हैं रन राम।" तुलसी के राम की तरह सूर के राम भी अपनी जन्मभूमि के गीत गाते हैं, अयोध्या पर सुरपुर को भी निछावर करते हैं। कृष्ण को भी ब्रज वैसे ही प्रिय है। कृष्ण की प्रेमलीला देखकर देवता दूर स्वर्ग में बैठे तरसते रहते हैं। गोपियों का प्रेम लोकधर्म और कुलकानि के लिए चुनौती है। उनका कृष्ण से संयोग और वियोग दोनों मानव-प्रेम का जयगीत हैं जो सामंती समाज के जाति, वर्ण और संपत्ति के बन्धन तोड़कर प्रवाहित हुआ था। सूर शृंगार और वात्सल्य के ही कवि नहीं हैं, वह संसार में प्रेम के श्रेष्ठ गायकों में से हैं। इस प्रेम को कुलकानि, लोक-धर्म, पाप-पुण्य की मर्यादा कुचलती है; उसका जयघोष सामन्ती व्यवस्था को ही एक चुनौती है। इस सामन्त-विरोधी मानव-मूल्य को हम लोक-संग्रह से बाहर कैसे रख सकते हैं?

शुक्लजी ने मारीच, ताड़का और खर-दूषण के निपात-वर्णन की प्रशंसा की है। लकिन तुलसी के ये अपेक्षाकृत कमजोर अंश हैं, इसे कौन नहीं जानता? स्वयं शुक्लजी को ये अंश बहुत प्रिय न थे, तर्क-युद्ध में विजयी होने के लिए दलील देना और बात है। पथिकवेश में वन जाते हुए राम, लक्ष्मण और सीता का वर्णन शुक्ल-

जी को कितना प्रिय था, यह इससे मालूम हो जाता है कि तुलसी की भावुकता का विवेचन करते हुए उन्होंने बार-बार उस प्रसंग के उद्धरण दिये हैं और यह जानकर कि एक ही जगह से बहुत उद्धरण दे रहे हैं, उन्होंने यह सरस वाक्य लिख भी दिया है: "क्षमा कीजिएगा, यह दृश्य हमें बहुत मनोहर लगता है, इसी से बार-बार सामने आया करता है।"

शुक्लजी पाठकों से नहीं, अपने तर्क से ही क्षमा माँग रहे हैं। यदि लोकसंग्रह का भाव बन जाते हुए राम, लक्ष्मण और सीता में है, तो वैसा ही भाव कृष्ण की बाललीला, रासलीला और उद्धव-गोपी सम्वाद में भी है।

शुक्लजी ने केवल भ्रमरगीत-सार की भूमिका लिखी थी। सूर का और भी विस्तृत अध्ययन और विवेचन वह करना चाहते थे, यह उन्होंने भूमिका के अन्त में लिख दिया है। सम्भव है, भ्रमरगीत-सार में ध्यान सीमित रहने के कारण उन्हें सूर का काव्य-क्षेत्र आवश्यकता से अधिक सीमित दिखाई दिया हो, फिर भी वह शृंगार और वात्सल्य में सूर का लोहा मानते थे, इसमें सन्देह नहीं। भक्ति का विकास दिखाकर, लोकगीतों की परम्परा के सन्दर्भ में रीतिकालीन कवियों से भिन्न सूर के अध्ययन का जो मार्ग उन्होंने दिखाया है, वह हिन्दी आलोचना के अगले विकास का भी मार्ग है, इसमें सन्देह नहीं।

गोस्वामी तुलसीदास

शुक्लजी के कोई आदर्श हिन्दी कवि थे तो वह तुलसीदास थे। शुक्लजी की जिस रचना में सबसे ज्यादा असंगतियाँ और अन्तर्विरोध हैं, वह तुलसीदास पर उनकी पुस्तक है। साथ ही तुलसी और उनके युग को समझने के लिए जितनी मौलिक स्थापनाएँ यहाँ हैं, उतनी हिन्दी की किसी भी दूसरी आलोचना-पुस्तक में नहीं हैं।

सबसे पहले शुक्लजी कबीर, सूर, जायसी और तुलसी की एकता प्रतिपादित करते हैं। इस एकता का यह अर्थ है कि ये सब कवि एक हां सांस्कृतिक आन्दोलन के अंग हैं जो केशव-बिहारी की दरबारी साहित्यिक धारा से भिन्न हैं। कबीर, सूर, जायसी और तुलसी की सामान्य विशेषताओं को समझना असंभव है। इसीलिए शुक्लजी की यह स्थापना महत्त्वपूर्ण है: "रामानन्द और बल्लभाचार्य ने जिस भक्तिरस का प्रभूत संचय किया, कबीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उसका संचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतुबन, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपनी प्रबन्ध-रचना द्वारा प्रेमपथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुःख भुलाया, उसका मन बहला।"

अपने अन्य निबन्धों की तरह शुक्लजी ने यहाँ भी भक्ति और योग में मौलिक अन्तर दिखलाया है। लेकिन योग पर उनका आक्रमण और निबन्धों से यहाँ ज्यादा सख्त है। भक्ति-मार्ग जहाँ हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों को लेकर चलता है, वहाँ "योगमार्ग चित्त की वृत्तियों को अनेक प्रकार के अभ्यासों द्वारा अस्वाभाविक (एबनार्मल) बनाकर अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियों के बीच होता हुआ अन्तःस्थ ईश्वर तक पहुँचना चाहता है।" भक्ति-मार्ग स्वाभाविकता की भूमिका पर निर्मित हुआ है तो योग-मार्ग अस्वाभाविकता की भूमि पर। और इस अस्वाभाविक भूमि पर चलकर वह ईश्वर तक "पहुँचना चाहता है", शुक्लजी यह नहीं कहते कि वह पहुँच जाता है। भक्ति-मार्ग मूलतः योगवाद और मायावाद से हटकर और उसके विरोध में चला है; वह लौकिक जीवन से पराङ्मुख नहीं, वरन् उसकी ओर

उन्मुख है। कबीर-जायसी-सूर-तुलसी समाज की अनेक समस्याओं पर लिख सके और मानव-हृदय के विभिन्न भावों का चित्रण कर सके, इसका मूल कारण यही है कि वे चित्त-वृत्तियों के कवि हैं, चित्त-वृत्तियों के निरोधक नहीं। वे रसवादी हैं, योगवादी नहीं।

भक्तों के लिए ब्रह्म ज्ञात और अज्ञात दोनों है। जितना अज्ञात है, उसे तो वे भक्त दार्शनिकों के लिए छोड़ देते हैं और "जितना ज्ञात है उसी को लेकर" वे प्रेम में लीन रहते हैं। यह उक्ति अक्षरशः सही नहीं है। ज्ञात की ही उपासना होती तो दर्शन और मुक्ति की आकांक्षा भक्तकवियों में न होती। लेकिन जगत् के प्रति भक्तकवियों का आकर्षण जरूर प्रकट होता है; शुक्लजी इस आकर्षण की हिमायत करते हैं, यह भी स्पष्ट है। वह आगे कहते हैं: "इस व्यवहार-क्षेत्र से परे, नामरूप से परे जो ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व है वह प्रेम या भक्ति का विषय नहीं, वह चिन्तन का विषय है।" नामरूप की सीमाएँ मानने वाला जगत् अगोचर नहीं होता। इसलिए भक्तिमार्ग इन्द्रिय-बोध को हेय ठहराकर अतीन्द्रिय ज्ञान का दावा नहीं कर सकता। संसार में रहकर इन्द्रिय-बोध को अस्वीकार करना संभव नही; इसलिए भक्त-कवियों का झुकाव मायावाद, अतीन्द्रियतावाद, 'आइडियलिज्म' से भिन्न वस्तुवाद, गोचर सत्ता में विश्वास की ओर होना ही चाहिए। शुक्लजी कहते हैं: "संसार में रहकर इन्द्रियार्थो का निषेध असम्भव है; अतः मनुष्य को वह मार्ग ढूँढ़ना चाहिए जिसमें इन्द्रियार्थ अनर्थकारी न हो। यह भक्तिमार्ग है, जिसमें इन्द्रियार्थ भी मंगलप्रद हो जाते हैं।" गोचर जगत् की ओर यह झुकाव भक्ति-आन्दोलन की वह दार्शनिक विशेषता है जो उसे शासकवर्गों के मायावादी चिंतन से अलग करती है।

भक्त कवि भारतीय मायावादियों से भी भिन्न हैं। वे यूरोप के उन कला-वादियों से भी भिन्न हैं जो ज्ञात जगत् को सीमित मानकर कल्पना का नया असीम संसार रचते हैं। ये लोग कल्पना को एक स्वतन्त्र शक्ति मानते हैं, लेकिन उनका कल्पित संसार न तो नया होता है, न मौलिक; वह वास्तविक का 'विकृत रूपमात्र' होता है। भक्तों का साहित्य लोकहित के लिए है; उनकी कला संसार से स्वतन्त्र न होकर जनता के मनोरंजन और शिक्षण के लिए है। इसलिए शुक्लजी तुलसीदास के लिए यह दावा करते हैं कि उनकी दृष्टि "वास्तविक जीवन-दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्घाटन की ओर थी, काल्पनिक वैचित्र्य-विधान की ओर नहीं।" वास्तविक जीवन-दशाओं का उद्घाटन—श्रेष्ट भारतीय साहित्य का सदा से यह लक्ष्य रहा है। भारतीय साहित्य की सबसे शक्तिशाली और मौलिक धारा यथार्थ-वाद की ओर उन्मुख रही। यह साहस शुक्लजी ही में था जो उन्होंने भारतीय काव्य के लिए यह दावा किया: "भारतीय कवियों की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है।" यह एक ऐसा सूत्र है जिस पर बहुत कम लोगों ने विचार किया है, जिसके सहारे बहुत कम आलोचकों ने अपने प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन किया है। पच्छिम के विचारकों ने यहाँ वालों को अक्सर यह पुचाड़ा दिया है

कि तुम्हारी विशेषता तो परोक्ष-चिन्तन में है, भारतीय ज्ञान इस झूठे संसार को ठुकराता है, उसने जिस अध्यात्मवाद की सृष्टि की है, वह विशद दर्शन तो भारत की अपूर्व देन है, इत्यादि। शुक्लजी ने इस धारणा का बार-बार खंडन किया है। इसका खंडन करना आवश्यक है क्योंकि यह स्थापना भारतीय संस्कृति के प्रगतिशील तत्त्वों पर पर्दा डालती है, भारत को जगद्गुरु कहकर जनता को बहलाती है और उसे वर्तमान अन्याय और अत्याचार के सामने उदासीन और तटस्थ रहना सिखाती है।

यदि लोक सत्य है, यह मानव-जीवन सत्य है, तो कवि-हृदय में लोकहित और मानवहित का भी स्थान होना चाहिए। उसकी श्रेष्ठता इस बात में नहीं है कि वह परलोक की बातें करता है, लोकजीवन को उपेक्षा की निगाह से देखता है; न व्यक्तिवाद के तंग दायरे में चक्कर लगाने से वह महाकवि बनता है। शुक्लजी उसकी विशेषता यह बतलाते हैं : "अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर निज के योग-क्षेम के सम्बन्ध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि-हृदय है। सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ाकर और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते।" जगत् के वास्तविक दृश्य, जीवन की वास्तविक दशाएँ, भावों की व्यंजना में वास्तविकता का आधार—आलोचना में शुक्लजी के ये मूल सूत्र हैं। संसार के प्रति उनका दृष्टिकोण मूलतः वस्तुवादी है; ये सूत्र उसी का स्वाभाविक परिणाम हैं। इसीलिए शुक्लजी को हिन्दी आलोचना में यथार्थवाद का संस्थापक मानना उचित होगा। उनके अनुसार सच्चे कवियों द्वारा अंकित "वस्तु-व्यापार-योजना इसी जगत् की होती है; उनके द्वारा भाव उसी रूप में व्यंजित होते हैं जिस रूप में उनकी अनुभूति जीवन में होती है या हो सकती है। कवि जो चित्र खींचता है, वे इसी जगत् के होते हैं, वह जिन भावों की व्यंजना करता है, उनकी अनुभूति इसी जीवन की होती है या हो सकती है।" लोक और साहित्य, सामाजिक जीवन और रस, भौतिकजगत् और भावजगत् की यही एकता है।

तुलसी के दार्शनिक विचारों की छानबीन करते हुए शुक्लजी काफी उलझन में पड़ गए हैं। उन्होंने माना है कि गोस्वामीजी ने कहीं-कहीं मायावाद स्वीकार किया है, कहीं-कहीं विशिष्टाद्वैत का आभास भी उन्होंने दिया है। जीव ईश्वर का अंश है, यह विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना हुई। शुक्लजी अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मतों की स्थापनाओं में इस तरह सामंजस्य कायम करते हैं : "परमार्थ की दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामीजी को मान्य है, पर भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।" इससे स्वयं शुक्लजी को संतोष नहीं हुआ, इसलिए अन्त में उन्होंने यह भी लिख दिया है कि वह भक्तिमार्गी थे, इसीलिए उनकी रचनाओं में भक्ति के रहस्य ढूंढ़ना तो ठीक

होगा, "ज्ञानमार्ग के सिद्धान्तों का ढूंढ़ना नहीं।" इससे शुक्लजी की उलझन का पता चलता है। यदि भक्तकवि ज्ञात की ही उपासना करता है, तब यह प्रश्न नगण्य नहीं है कि वह क्या जानता है, किसकी उपासना करता है। इसलिए सवाल ज्ञान-मार्ग के सिद्धान्त ढूंढ़ने का नहीं है वरन् तुलसी के ज्ञात उपास्य को पहचानने का है जिसके बिना उनकी भक्ति का रहस्य भी समझ में नहीं आ सकता।

यह संसार सत्य है—यह स्थापना तुलसी में मिलती है, यह संसार मिथ्या है, यह स्थापना भी।

उत्तरकाण्ड में वे, रामचन्द्र की स्तुति करते हुए, ब्रह्म को अव्यक्तमूल कहते हुए संसार-विटप की वंदना करते हैं: "संसार-विटप नमामहे।" यह दृश्य संसार ब्रह्म का ही रूप है। वह नित्य है, फलता-फूलता और पल्लवित होता है।

बालकाण्ड के आरम्भ में तुलसीदास ब्रह्म और गोचर जगत् की एकता घोषित करते हैं:

"जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।"
"सीय राममय सब जग जानी।"

उत्तरकाण्ड में शिव कहते हैं:

"निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।"

'कवितावली' में संसार को झूठा कहने वाले सन्तों को उन्होंने गँवार कहा है, यह हम ऊपर देख चुके हैं।

संसार सत्य है, संसार ब्रह्ममय या राममय है, दृश्य संसार में तुलसी को राम दिखाई देते हैं—ये निष्कर्ष ऊपर के उद्धरणों से निकलते हैं।

यह संसार मिथ्या है, इस धारणा के समर्थन में भी अनेक उक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं।

बालकाण्ड में शिव कहते हैं:

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।
जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥

यह संसार स्वप्न के समान है। ब्रह्मज्ञान न होने से झूठा संसार भी सत्य मालूम होता है; ज्ञान प्राप्त होने पर स्वप्न के भ्रम की तरह वह खो जाता है। माया के कारण जीव कष्ट पाता है—"फिरत सदा माया कर प्रेरा" इत्यादि—ज्ञान होने पर या ईश्वर की कृपा होने पर वह मुक्त हो जाता है। मनुष्य के अज्ञान का नाम माया है। माया ब्रह्म की रचनाशक्ति का नाम भी है—"मम माया संभव संसारा।"

संसार सत्य है या मिथ्या—इस प्रश्न का उत्तर एक दूसरी समस्या से जुड़ा हुआ है और वह यह कि ब्रह्म सगुण है कि निर्गुण या दोनों। शुक्लजी ने भक्ति के विकास का विवेचन करते हुए दिखाया था कि भक्तों के लिए ब्रह्म सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अव्यक्त दोनों है। तुलसी अनेक स्थलों पर उसे सगुण-निर्गुण दोनों मानते हैं।

राम-नाम की महिमा-वर्णन करते हुए वह कहते हैं:

"अगुन अनूपम गुन निधान सो।"

और भी—

"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।"

यह स्थापना पहले से चली आ रही थी; तुलसी ने उसे दोहराया है लेकिन दोहराकर संतोष नहीं कर लिया। वह अगुन-सगुन की एकता नाम के आधार पर कराते हैं। इसे वह अपना मत कहते हैं।

मोरे मत बड़ नाम दुहूँ तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें।

इसी तरह 'अगुन-सगुन बिच नाम सुसाखी' मानते हैं। योगी भी 'अकथ अनामय नाम न रूपा' ब्रह्म का साक्षात्कार नाम जपकर ही करते हैं—"नाम जीह जपि जागहिं जोगी।" तुलसी के पास नाम एक ऐसा अस्त्र है जिससे वह अरूप-अनामवादियो को परास्त कर देते हैं। ब्रह्म का चाहे व्यक्त रूप लो, चाहे अव्यक्त, नाम के बाहर दोनों नहीं हैं। तुलसी की 'प्रतीति प्रीति रुचि मन की' यह है कि ब्रह्म कुछ लोगों को तो प्रकट अग्नि के समान प्रत्यक्ष दिखाई देता है और कुछ लोगों को दारुगत अप्रत्यक्ष जान पड़ता है। ये दोनों ही नाम से सुगम हो जाते हैं, इसी-लिए नाम ब्रह्म और राम से बढ़कर है। उत्तरकाण्ड में वे राम की वन्दना करते हुए 'जय सगुण निर्गुण रूप' कहते हैं। फिर भी वे कहते हैं कि जो ब्रह्म को अज, अद्वैत, अनुभवगम्य कहकर उसका ध्यान करते हों, वे किया करें लेकिन "हम तव सगुन जस नित गावहीं।"

इस विवेचन से दो बातें स्पष्ट हैं कि तुलसी शुद्ध निर्गुणवादी नहीं हैं, अधिक-से-अधिक वह ब्रह्म के सगुण-निर्गुण दोनों रूप मानते हैं। दोनों के नाम के अधीन समझते हैं। इसके साथ ही वह ब्रह्म को दयालु कहते हैं। बालकाण्ड में जिसे वह 'अनीह अरूप अनामा' कहते हैं, उसे 'व्यापक विश्वरूप भगवाना' भी मानते हैं और उसे 'परमकृपालु प्रनत अनुरागी', ममता, छोह और करुणा से युक्त कहते हैं। उत्तरकाण्ड में राम कहते हैं :

अखिल विस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।

दयावान ब्रह्म की कल्पना तुलसी को मूलतः सगुणवादी बनाती है। यह दया-वान ईश्वर अपने रचे हुए विश्व को प्यार करता है, उसमें रहने वाले प्राणियों पर दया करता है।

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सबते अधिक मनुज मोहि भाए।

यदि संसार माया है तो उस संसार में रहने वालों को प्रिय कहने वाला भी माया के वश में है।

तुलसीदास शैवों और वैष्णवों को, राम के भक्तों को और कृष्ण के भक्तों को, सगुणवादियों और निर्गुणवादियों को एक करना चाहते थे। लेकिन वह शैव नहीं थे वैष्णव थे, उनके इष्टदेव कृष्ण नहीं थे, राम थे; वह ब्रह्म को मूलतः विश्वरूप और सगुण मानते थे, न कि अगोचर, निर्गुण और निराकार। शुक्लजी ने मध्य-कालीन भक्तों के लिए यह दावा किया था कि वह जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिषेध

करते हैं, यह बात तुलसी के लिए भी सही है।

तुलसी के लिए संसार सत्य था या असत्य, इसका पता इसी से नहीं लगता कि ब्रह्म, जीव और जगत् के बारे में उन्होंने क्या कहा है; इसका पता इससे भी लगता है कि उन्होंने मानव-जीवन, मानव-समाज और मानव-चरित्र का चित्रण किस तरह किया है। जहाँ योगी और बैरागी मानव-समाज से विमुख होकर अपने एकान्त जप और ध्यान में लगे रहते थे, वहाँ तुलसी की हरिकथा मानवजीवन की कथा का रूप ले लेती है। जायसी की भूमिका में शुक्लजी ने रासो आदि को वीर-गाथा, पद्मावत आदि को प्रेमगाथा और 'रामचरितमानस को जीवनगाथा के अन्तर्गत' रखा है। तुलसी का महान् काव्य रामचरितमानस जीवनगाथा ही है; तुलसी उन्ही सच्चे कवियों में है जिनका हृदय, शुक्लजी के अनुसार, जीवन की वास्तविक दशाओं मे रमता है, जो भावों की व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं लेकिन जो वास्तविकता का आधार नही छोड़ते। शुक्लजी तुलसी को महाकवि इसलिए मानते है कि उन्होंने 'मनुष्य-जीवन की बहुत अधिक परि-स्थितियों का' सन्निवेश किया है। इसमें उन्होंने 'हृदय की विशालता, भावप्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपों की उद्भावना और शब्द शक्ति' का परिचय दिया है। गुण और आदर, पाप और घृणा, अत्याचार और क्रोध, शोक और करुणा, महत्त्व और दीनता— मानव-प्रकृति के बहुसंख्यक रूपों का चित्रण गोस्वामीजी ने किया है।

"शृंगार वीर आदि कुछ गिने-गिनाए रसों के वर्णन में निपुण" कवियों से तुलसी को भिन्न कोटि में रखते हुए शुक्लजी ने उन्हें ऐसा महाकवि कहा है जिसका "अधिकार मनुष्य की सम्पूर्ण भावनात्मक सत्ता पर है।" यहाँ शुक्लजी ने लक्षण-ग्रन्थों की रस-निरूपण परम्परा की सीमाएँ भी बतला दी है। मनुष्य की सम्पूर्ण भावनात्मक सत्ता शृंगार, वीर आदि कुछ गिने-गिनाए रसों से कही अधिक व्यापक है। यह सम्पूर्ण भावनात्मक सत्ता ही महान् कवियों का भावक्षेत्र होती है; उसी प्रकार साहित्य की आलोचना भी उस व्यापकता का ध्यान रखते हुए होनी चाहिए। यदि आलोचक साहित्य का मूल्यांकन करते हुए कुछ रस और अलंकार गिनाने बैठ जाएँ तो उनकी आलोचना-परिधि बहुत ही सीमित रहेगी। तुलसी जैसे लोकहृदय के मर्मी कवियो की तुलना में दरबारी कवि कितने क्षुद्र है, यह बताने के लिए शुक्लजी कहते हैं : "केशव, बिहारी आदि के साथ ऐसे कवियों को मिलान के लिए रखना उनका अपमान करना है।" शुक्लजी ने लक्षणग्रन्थों की परम्परा से बाहर निकलकर, उसका तीव्र विरोध करके तुलसी का मूल्यांकन किया है। यह इस बात का प्रमाण है कि वह हिन्दी-आलोचना को सामन्ती विचारधारा की पराधीनता से मुक्त कर रहे थे। तुलसी का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने आलोचना के नये मान-दण्ड भी स्थापित किये हैं।

तुलसी के मुकाबले मे शुक्लजी ने सूर, जायसी और कबीर को भी नीचा स्थान दिया है, यह ठीक है। तुलसी का भावक्षेत्र अधिक व्यापक है। कबीर, सूर आदि

से अधिक वह मानव-करुणा के कवि हैं। वह मानव के दुख से व्यथित ही नहीं हैं, वह अपने पात्रों में सक्रिय प्रतिरोध के गुण भी चित्रित करते हैं। प्रचलित पूँजीवादी विचारधारा के प्रतिकूल शुक्लजी परिस्थितियों के अनुसार क्रोध और ध्वंस को भी काव्य में आवश्यक समझते हैं। तुलसी ने क्षमा, उदारता आदि ही में लोक-धर्म नहीं देखा "बल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश और ध्वंस आदि में भी उसे देखा।" अहिंसावाद के एकांगी प्रचारकों को उत्तर देते हुए वह लिखते हैं: "अत्याचारियों पर जो क्रोध प्रकट किया जाता है, असाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दीन-दुखियों को सतानेवालों का जो संहार किया जाता है, कठिन कर्त्तव्यों के पालन में जो धीरता प्रकट की जाती है, उसमें भी धर्म अपना अपना मनोहर रूप दिखाता है।"

सर्प को दूध पिलाकर उसका स्वभाव बदलने वालों को शुक्लजी व्यक्तिगत साधना करने वाला कहते हैं; यह लोक-धर्म नही है। लोक-धर्म वह है जिस पर आम जनता चल सके। व्यक्तिगत साधना और लोक-धर्म का यह भेद उन अहिंसावादियों के लिए बहुत अच्छा उत्तर है जो जनता के लिए दण्ड और कारागार का विधान करते हैं और निहित स्वार्थों का हृदय-परिवर्तन करने का ऐलान किया करते हैं। शुक्लजी उन लोगों को भी उत्तर देते हैं जो कहते हैं कि शान्तिपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शान्तिपूर्ण उपाय ही काम में लाने चाहिए। भारत मे साम-दाम-दण्ड-भेद का विधान बहुत पुराना है। शुक्लजी कहते हैं: "यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्यायसंगत उपायों से नही हो सकता तो कुटिल नीति का अवलम्बन लोकधर्म की दृष्टि से उचित है।" भारतीय इतिहास पर नजर डालते हुए वह इस नतीजे पर पहुँचते हैं: "भारतीय जन-समाज मे लोकधर्म का आदर्श यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित रहने पाता तो विदेशियों के आक्रमण को व्यर्थ करने में देश अधिक समर्थ होता।"

शुक्लजी ने भक्ति-आन्दोलन और जनता के प्रतिरोध का सम्बन्ध जोड़ा है। "दक्षिण भारत में रामदास स्वामी ने इसी लोक-धर्माश्रित भक्ति का संचार करके महाराष्ट्र शक्ति का अभ्युदय किया। पीछे से सिखों ने भी लोक-धर्म का आश्रय लिया और सिख-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ।" भक्ति-आन्दोलन जातीय आन्दोलन था; वह किसी विशेष वर्ण या सम्प्रदाय का आन्दोलन न था। उसमें हिन्दू, सिख, मुसलमान, जुलाहे, कारीगर, किसान, व्यापारी सभी शामिल थे। उसे राज्याश्रय प्राप्त न था, यह भी बिलकुल स्पष्ट है। कारण यह है कि वह एक ओर यदि तुर्कों और मुगलों के शासन का विरोधी था तो दूसरी ओर—और उससे भी अधिक—वह समाज में सामन्ती और पुरोहिती उत्पीड़न का विरोधी था। इस सामन्त-विरोधी कार्य में सूर, तुलसी, कबीर, जायसी सभी ने न्यूनाधिक योग दिया था। शुक्लजी के सामने भक्ति-आन्दोलन का यह पहलू बहुत स्पष्ट न था। इसलिए सूर-साहित्य में उन्हें लोक-संग्रह की भावना नही दिखी या कम दिखी है। कबीर आदि सन्तों में उन्होंने लोक-विरोध भी देखा और तुलसी को उन्होंने विरोधी दिशा का

कवि माना। जायसी आदि पर उन्होंने विदेशी प्रभाव देखा।

शुक्लजी के अनुसार तुलसी के समय में नये-नये पंथ निकल रहे थे, ज्ञान-विज्ञान की निन्दा होती थी, विद्वानों का उपहास होता था, वेदान्त के दो-चार शब्दों का अनधिकार प्रयोग होता था, लोक को व्यवस्थित करने वाली मर्यादा का अभाव था। तुलसी ने वर्ण-धर्म, वेदविहित कर्म के साथ भक्ति का सामंजस्य स्थापित करके "आर्य धर्म को छिन्न-भिन्न होने से बचाया।" शुक्लजी के अनुसार तुलसी के समय में दो तरह के भक्त थे। एक तो वे थे जो "वेद शास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाओं के अनुयायी थे", दूसरे वे थे जो "समाज-व्यवस्था की निन्दा और पूज्य तथा सम्मानित व्यक्तियों के उपहास द्वारा लोगों को आकर्षित करते" थे। समाज में शासकों, विद्वानों, शूरवीरों आदि को जो अधिकार और सम्मान प्राप्त रहता है, उससे कुछ लोगों को अकारण ईर्ष्या और द्वेष हो जाता है। इसलिए 'उक्त शिष्ट वर्गों में कोई दोष न रहने पर भी' चलते-पुर्जे लोग अगुआ बनकर साधारण लोगों को भड़का देते हैं। शुक्लजी ने योरप की 'सामाजिक अशान्ति' के लिए ऐसे लोगों को जिम्मेदार ठहराया है। "क्रान्तिकारक, प्रवर्तक आदि कहलाने का उन्माद योरप में बहुत अधिक है।" रूसी क्रान्ति के बारे में साम्राज्यवादियों ने धुँआधार प्रचार किया था, उसी को दोहराते हुए शुक्लजी ने लिख डाला है: "ऊँची श्रेणियों के कर्त्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही योरप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठाकर लेनिन अपने समय का महात्मा बना रहा।" यह महात्मापन देने वाली जनता ही है, इसलिए शुक्लजी चेतावनी देते हैं: "मूर्ख जनता के इस महात्म्य प्रदान पर भूलना न चाहिए। जनता के अनुकूल काम करने वाले उसके सम्मान के पात्र बन जाते हैं।" रूस में 'मूर्ख जनता' के अनुकूल कार्य करने वाले रह गए है और 'भारी-भारी विद्वानों और गुणियों का भागना' अमंगल की सूचना दे रहा है। "अल्प शक्तिवालों की अहंकार-वृत्ति को तुष्ट करने वाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है।"

शुक्लजी के विवेचन का यह सबसे कमजोर पहलू है। उन्होंने शुरुआत की थी कबीर आदि का लोक-विरोधी रूप दिखाने से, पहुँच गए रूसी क्रान्ति और लेनिन तक और अन्त में जनता को ही मूर्ख और जड़ कहने लगे। इससे यह परिणाम निकालना, कि शुक्लजी क्रान्ति-विरोधी थे, जनता में उन्हें विश्वास न था, वह वर्णव्यवस्था और सामन्ती समाज के हिमायती थे, गलत होगा। शुक्लजी ने ये शब्द आवेश में लिखे हैं; उनकी मूल विचारधारा से इनका मेल नहीं है। इस आवेश के कारण, तुलसी के महत्त्व का गलत प्रतिपादन करने के जोश में, वह अनेक असंगतियों में फँस गए हैं।

जिस जनता को उन्होंने जड़ और मूर्ख कहा है, तुलसी उसी के कंठहार हैं, शुक्लजी से यह छिपा न था। वह तुलसी की इसलिए प्रशंसा नहीं करते कि विद्वानों ने तुलसी को अपनाया है, शासकों और अधिकार-प्राप्त वर्गों ने उन्हें अपनाया है

वरन् इसलिए कि जनता ने उन्हें अपनाया है। इस बात को वह एक बार नहीं कहते, बार-बार कहते हैं, कहते अघाते नहीं हैं। कुछ उदाहरण देखिए :

(१) "कथाएँ तो और भी कही जाती हैं, पर जहाँ सबसे अधिक श्रोता देखिए और उन्हें रोते और हँसते पाइए, वहाँ समझिए कि तुलसीकृत रामायण हो रही है। साधारण जनता के मानस पर तुलसी के मानस का अधिकार इतने ही से समझा जा सकता है।"

(२) "हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी में ही है जिनके प्रभाव से रामचरितमानस उत्तरी भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है।"

(३) "यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है, तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कण्ठ, भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।"

यदि जनता मूर्ख है और विद्वत्ता का ठेका थोड़े से वेदशास्त्रज्ञों ने ले रखा है तो उसके हृदय पर अधिकार जमाने वाले कवि भारती-कण्ठ नहीं हो सकते, वे भक्त-चूडामणि और भारत-हृदय नही कहला सकते। यदि रामचरितमानस उत्तरी भारत की 'जनता के गले का हार' है तो उसे हिन्दुओं का धर्म-ग्रन्थ मानना और तुलसी को हिन्दू धर्म का उद्धारक मानना सही नही हो सकता। सचाई क्या है? सचाई यह है कि तुलसी जनसाधारण के कवि हैं। जनसाधारण मे बहुत से अन्ध-विश्वास है तो ऐसी गहरी सहृदयता भी है जो तुलसी के काव्य पर झूम उठती है।

तुलसी यदि घोर व्यवस्थावादी थे तो वह प्रेम को सारे नियमों के, समूची व्यवस्था के ऊपर क्यों मानते है? क्षत्रियों के लिए औरतों का जूठा खाना, वह भी बेर, किस शास्त्र में लिखा है? निषाद को गले लगाना किस स्मृति की व्यवस्था है? भाई को मूर्च्छित देखकर जब राम कहते हैं :

जो जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नही ओहू।

यह पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने की इच्छा किस मर्यादावाद के अन्तर्गत है? इस पंक्ति की चर्चा करते हुए स्वयं शुक्लजी लिखते हैं: "यह कोमलता, यह सहृदयता सब प्रकार के नियमों से परे है।" व्यवस्था और मर्यादा के बारे में तमाम शोरगुल का नतीजा यह निकला—यह सहृदयता सब प्रकार के नियमों से परे है। और क्या तुलसी की भक्ति का यही सच्चा रूप नही है? क्या तुलसी ने उन्हें ढाढ़स नहीं बँधाया जो इन नियमों के ही कारण समाज मे पिस रहे थे और जो ऊपर उठना चाहते थे, ईर्ष्या और द्वेष के कारण नहीं, थोड़ा सिर उठा सकने के लिए, एक जून मुट्ठी भर अन्न पाने के लिए? तुलसी के राम कहते हैं :

भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी।

यह नीचों का भक्त बनना किस वेद में लिखा है? यही नहीं :

भए सब साधु किरात किरातिनी, रामदास मिटि गइ कलुषाई।

जब किरात और किरातनें भी साधु होने लगी तब कलियुग आ गया कि नहीं? क्या इससे स्पष्ट नहीं कि तुलसी की भक्ति मानवमात्र की साम्यभावना लेकर चली है? इस साम्यभावना का आधार क्या है? क्या यह कि हर पुरुष और स्त्री बल और बुद्धि में बराबर हो गया है! नहीं, इस साम्यभावना का आधार यही है कि भक्ति करने का अधिकार सबको है, चाहे वह किरात हो, चाहे निषाद।

जब-जब साधारणजन अधिकार-प्राप्त शासकवर्गों से पीड़ित हुए हैं, वे इस तरह की साम्यभावना की ओर तेजी से खिंचते रहे हैं। साम्यवाद का यह अर्थ कभी नहीं होता कि सभी मनुष्य विद्या, बुद्धि और बल में एक-से हो जाएँगे। उसका अर्थ यह होता है कि उन्नति के लिए सभी को अवसर मिले; अवसर मिलने की बात कागज पर न रहे वरन् उसकी वास्तविक व्यवस्था हो। साधारण जनता को उन्नति का यह अवसर तब तक नहीं मिलता जब तक सम्पत्ति और उन्नति के साधनों पर मुट्ठी-भर आदमियों का कब्जा रहता है और जनता का विशाल भाग सम्पत्ति और उन्नति के साधनों से वंचित रहता है। बीसवी सदी में पच्छिम के मुट्ठी-भर सम्पत्तिशाली लोगों ने केवल अपने देशों की जनता को गुलाम न बनाया था वरन् भारत जैसे विराट् देशों को भी अपने पैरों तले कुचल रखा था। इन्हीं के कारण एशिया की करोड़ों जनता गुलामी और भुखमरी का शिकार बनी हुई थी। इन्हीं लोगों ने जनतन्त्र और राष्ट्रीय स्वाधीनता के नाम पर—लेकिन वास्तव में दुनिया के बाजारों का फिर से बँटवारा करने के लिए—प्रथम विश्व-युद्ध का आयोजन किया था। युद्ध और शोषण की इस जघन्य साम्राज्य-व्यवस्था से बाहर निकालने का रास्ता लेनिन ने दिखाया था; उन्होंने जनता का संगठन करके, उसका नेतृत्व करते हुए, संसार में वह पहली समाज-व्यवस्था कायम की जो पूँजीपतियों, साहूकारों, सामन्तों और खूनी युद्धपतियों के आतंक और शोषण से मुक्त थी। इसीलिए साधारण जनता को लेनिन इतना प्रिय थे। जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर रूस गए थे, तब यह देखकर कि पुस्तकों की दूकानों के सामने कारखानों से निकले हुए मजदूर कतार बाँधकर खड़े हुए हैं, उन्होंने यही कहा था—भारत मे भी क्या कभी मजदूरी करने वाले लोग किताबों की दूकानों के सामने ऐसे ही कतार बाँधकर खड़े होंगे? यदि शुक्लजी को अवसर मिलता और वे भी वह सब देख पाते जो रवीन्द्रनाथ ने देखा था, तो अवश्य ही उनकी प्रतिक्रिया भी वैसी ही होती। यदि रूसी भाषा में रामचरितमानस का सुन्दर संस्करण देखने को वह जीवित रहते तो अनुभव करते कि लेनिन ने जिस व्यवस्था की नीव डाली थी, उसमें पला हुआ मनुष्य अपने पुश्किन का ही आदर नही करता, वह हमारे महान् कवि भारती-कण्ठ तुलसीदास को भी अपनाता है।

तुलसी के समय सामन्ती व्यवस्था जर्जर हो रही थी। शंकर का वेदान्त, गोरखपन्थियों का योग, राजदरबारों की शूरता देश की रक्षा करने में असमर्थ साबित हो चुकी थी। जर्जर व्यवस्था के समर्थक कवि जनता के हृदय पर अधिकार

जमाने वाले कवि नहीं हुआ करते। भक्त-कवियों का मूलमन्त्र प्रेम इसलिए है कि वह मनुष्य-मात्र के लिए सुलभ है। प्रेम ही वह लोकधर्म है—न कि विप्रपदपूजा या स्त्रियों के लिए पतिव्रत की शिक्षा और पुरुषों के लिए नायिकाभेद—जिसके आधार पर उस समय साधारण जनता अपनी एकता का अनुभव कर सकती थी और सामन्ती उत्पीड़न के विरुद्ध अपने आत्म-सम्मान का दावा कर सकती थी। कबीर, सूर और जायसी प्रेम के कवि है, इस प्रेम के आधार पर कबीर साधारण जनता में आत्मसम्मान का भाव जगा सके। और तुलसी भी सबसे अधिक इसी प्रेम के कवि हैं। शुक्लजी ने तुलसी के लिए बिलकुल ठीक लिखा है: "जो प्रेमभाव अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ उन्होंने प्रकट किया है, वह अलौकिक है, अविचल है और अनन्य है।" शुक्लजी ने तुलसी के इस प्रेम को पहचाना, उसे सराहा, उसे केशव-बिहारी के 'प्रेम' से एकदम भिन्न माना, यही उन्हें हिन्दी का महान् आलोचक बनाता है, तुलसी में वेद-शास्त्रों की व्यवस्था ढूंढ़ना नहीं। शुक्लजी की महत्ता इस बात में है कि उन्होंने इस प्रेम का लोकवादी रूप पहचाना, कर्मक्षेत्र से उसका सम्बन्ध बतलाया, उसे व्यक्तिवादी प्रेम, अहम् के संकुचित वृत्त में चक्कर काटने वाले प्रेम से भिन्न कहा। उनका यह दावा बिलकुल सही है: "यह प्रेम मार्ग निराला नहीं है, जीवन यात्रा के मार्ग से अलग होकर जाने वाला नहीं है। यह प्रेम कर्मक्षेत्र से अलग नहीं करता, उसमें बिखरे हुए काँटों पर फूल बिछाता है।"

जो प्रेम काँटों पर फूल बिछाता है, वह स्त्रियों और शूद्रों के लिए दण्ड-विधान नहीं कर सकता। रामायण में शूद्रों के बारे में जो उक्तियाँ मिलती हैं, उन्हें सही बताने में शुक्लजी को काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। उन्होंने यह तर्क दिया है: "शूद्र शब्द जाति की नीचता मात्र से अभिप्राय नहीं है; विद्या, बुद्धि, शील, शिष्टता, सभ्यता सबकी हीनता से है।" आगे भी लिखा है: "शूद्र शब्द को नीची श्रेणी के मनुष्य का—कुल, शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि सबमें अत्यन्त न्यून का—बोधक मानना चाहिए। इसकी न्यूनताओं को अलग-अलग न लिखकर वर्ण विभाग के आधार पर उन सबके लिए एक शब्द का व्यवहार कर दिया गया है।" लेकिन रामायण में यह भी लिखा है:

पूजिय बिप्र सीलगुन हीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रवीना।

शुक्लजी इस पंक्ति के सामने पड़ने पर यही कह पाते हैं: "जातीय पक्षपात से उस विरक्त महात्मा को क्या मतलब, जो कहता है:

लोग कहैं पोचु सो न सोचु न सँकोचु मोरे
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।

शुक्लजी का तर्क कमजोर पड़ता है लेकिन उसकी कमजोरी ही उनकी शह-जोरी है। यह तर्क साबित करता है कि स्वयं शुक्लजी को इस तरह की उक्तियों से ज़रा भी सहानुभूति न थी। वे या तो शूद्र शब्द का लोक-प्रचलित अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ करते थे या तुलसी की दूसरी उक्तियाँ उद्धृत करते थे जिनमें उन्होंने

जाति-पाँति की अवज्ञा दिखलाई है। यह इस बात का भी प्रमाण है कि शुक्लजी पर ब्राह्मणवादी होने का आरोप निराधार है।

स्त्रियों की निन्दा के बारे में तर्कशास्त्री शुक्लजी कहते हैं: "सब रूपों में स्त्रियों की निन्दा उन्होंने नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनी के रूप में, दाम्पत्य रति के आलंबन के रूप में की है; माता, पुत्री, भगिनी आदि के रूप में नहीं। इससे सिद्ध है कि स्त्री जाति के प्रति उन्हें कोई रोष न था। अतः उक्त रूप में स्त्रियों की जो निन्दा उन्होंने की है, यह अधिकार तो अपने ऐसे और विरक्तों के वैराग्य को दृढ़ करने के लिए और कुछ लोक की अत्यन्त आसक्ति को कम करने के लिए।" ऐसा लगताहै कि गोस्वामीजी को नारी के माता, भगिनी और पुत्री रूप से कोई परहेज न था; दाम्पत्य रति के आलंबन रूप बनने से ही उन्हें वैराग्य में विघ्न पड़ता दिखाई देता था। इससे भी सुन्दर तर्क यह है: "स्त्रियों को जो स्थान-स्थान पर बुरा कहा है, उसका ठीक तात्पर्य यह नहीं कि वे सचमुच वैसी ही होती हैं; बल्कि यह मतलब है कि उनमें आसक्त होने से बचने के लिए उन्हें वैसा मान लेना चाहिए।" शुक्लजी ने मानो तय कर लिया है कि रामचरितमानस में जो भी उक्तियाँ मिलेंगी, उनका समर्थन करेंगे ही। समर्थन करना आसान न था, यदि शुक्लजी अपनी सहृदयता को दर-किनार कर देते। लेकिन स्त्रियों के प्रति उन्हें गहरी सहानुभूति थी। दरबारी कवियों पर उनके कोप का यह भी एक कारण था कि वे नारी के व्यक्तित्व का सम्मान न करते थे। उन्होंने रामचरितमानस में नारी के प्रति निन्दासूचक वाक्यों को किसी तरह सही ठहराने के लिए कहीं तुलसी के वैराग्य का सहारा लिया है, कही उन्हें सिद्धान्त-वाक्य न मानकर अर्थवाद मात्र समझने पर जोर दिया है! फिर भी काफी संकोच के साथ—जैसे तुलसी ने राम के बालिवध पर शंका प्रकट की थी—उन्होंने लिख ही डाला: "पर उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इस युक्ति का आलंबन करना गोस्वामीजी ऐसे उदार और सरल प्रकृति के महात्मा के लिए सर्वथा उचित था, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं—निंदा से उनका जी दुख सकता है।"

शुक्लजी के जनवादी अन्तःकरण का यह एक और प्रमाण है। धर्मसंकट में पड़ने पर वह तुलसी का पक्ष छोड़कर स्त्रियों का पक्ष लेना ही ज्यादा उचित समझते हैं। अपने वैराग्य की रक्षा के लिए गोस्वामीजी स्त्रियों का जी दुखायें, यह आचार्य शुक्ल को सहन नहीं है। स्त्रियों के लिए समान अधिकारों की घोषणा करते हुए शुक्लजी देवियों को यह भी सलाह देते हैं कि संन्यासिनी बनो तो तुम भी अपनी बहनों को वैराग्य का उपदेश देते हुए "पुरुषों को इसी प्रकार 'अपावन' और 'सब अवगुणों की खान' कह सकती" हो! इस तर्क का आनन्द लेते हुए शुक्लजी और आगे बढ़कर कहते हैं: "पुरुषों-पतंगों के लिए गोस्वामीजी ने स्त्रियों को जिस प्रकार दीपशिखा कहा है, उसी प्रकार स्त्री-पतंगियों के लिए वह पुरुष को भाड़ कहेंगी।"

लेकिन क्यों पुरुष भाड़ बनें और क्यों स्त्रियाँ पतंगों के लिए दीपशिखा बनें? गोस्वामीजी नारी को दाम्पत्य-रति का आलंबन बनाने के विरुद्ध कब हैं? दाम्पत्य-

रति तो धर्म विहित है; गोस्वामीजी तो विवाह के पूर्व ही नायक-नायिका का प्रेम दिखाकर कथा को 'रोमैंटिक टर्न' देते है। शुक्लजी ने वाल्मीकि और तुलसी के प्रेम-चित्रण की तुलना करते हुए बताया है कि वाल्मीकि में तो सीता-राम के प्रेम का परिचय विवाह के बाद मिलता है लेकिन गोस्वामीजी ने एक दूसरी काव्य-परम्परा का अनुसरण करते हुए कथा को "प्रेमाख्यानी रंग (रोमैंटिक टर्न) देने के लिए···धनुषयज्ञ के प्रसंग में 'फुलवारी' के दृश्य का सन्निवेश किया।" उसके बाद "बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी" का दाम्पत्य-रति वाला चित्र भी प्रस्तुत किया। कथा को यों रोमैंटिक टर्न देने वाले कवि के समर्थन में वैराग्य-रक्षा की दलील कितनी कमजोर है, यह देखा जा सकता है। यदि कोई कहे कि शृंगार की यह व्यंजना सीताजी को लेकर है जो जगज्जननी हैं, तो उत्तर यह होगा कि 'सहज अपावन नारि' का उपदेश भी उन्हीं को दिया गया है। यदि वह अपावनता की बात सीताजी के लिए नहीं, उनके बहाने और सब देवियों के लिए है, तो वह शृंगार-व्यंजना भी सीताजी के लिए नहीं, उनके बहाने और सब देवियों के लिए है जो वैराग्य के लिए और भी भयंकर है।

"कोटि मनोज लजावन हारे" आदि पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए शुक्लजी ने लिखा है: "पवित्र दाम्पत्य-रति की कैसी मनोहर व्यंजना उन्होंने सीता द्वारा उस समय कराई है" इत्यादि। यदि दाम्पत्य-रति पवित्र हो सकती है तो फिर स्त्रियों के दाम्पत्य-रति का आलंबन बनने से परहेज क्यों? वैराग्य की रक्षा के लिए उन्हें कोसा क्यों जाय?

"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी···" की पंक्ति के बारे में शुक्लजी "ताड़न" की व्याख्या यों करते हैं: वह "ढोल शब्द के योग में आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिए लाया गया है।" लेकिन यह व्याख्या सन्तोषजनक न लगने पर शुक्लजी ने यह भी जोड़ दिया है: "स्त्री का समावेश भी सुरुचि-विरुद्ध लगता है, पर बैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।" यदि बैरागी कहकर तुलसी को माफी देनी है तो उन्हें लोकधर्म का संस्थापक, समाज-व्यवस्था का रक्षक क्यों कहा?

तुलसी को बैरागी समझकर बख्शने की जरूरत नहीं है। महाकवि तुलसी जीवन के प्रति उदासीन नही हैं; वह राम में अनुरक्त हैं, राम के मानवीय गुणों में अनुरक्त हैं, राम से बढ़कर उनके मानवभक्तों में अनुरक्त हैं। तुलसी के समाज में स्त्रियों को वही दर्जा दिया गया था जो वर्णव्यवस्था में शूद्रों का था और शूद्रों का दर्जा पशुओं का था। तुलसी का महत्त्व इस विषम समाज-व्यवस्था को ढहने से बचाने में नहीं है, न उन्होंने उसे बचाया, तुलसी का महत्त्व इसमें है कि उन्होंने अपने को समाज के इन्ही पतितों का एक अंग समझा, उनके अपमान को अपना अपमान समझा, उनके सम्मान के लिए, मानव-मात्र के लिए सुलभ भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। तुलसी की यह विशेषता है कि जो जितना ही समाज-व्यवस्था में गिरा हुआ है, उतना ही वह राम को प्रिय है, जितनी जल्दी राम उस पर कृपा

करने के लिए तैयार रहते हैं, उतनी जल्दी उच्च वर्णों के लोगों पर नहीं। इसलिए देवता अपने स्वर्ग में बैठे इन इतरजनों के भाग्य पर ईर्ष्या ही प्रकट कर सकते हैं। यहाँ कोल-किरात-निषाद-भीलनी-केवट आदि राम के दर्शन-मिलन का सुख पाते हैं। राम का स्वागत करने के लिए सबसे आगे स्त्रियाँ रहती हैं। क्या जनकपुर, क्या वन में, क्या लंका से लौटने पर, हर जगह पुरुषों से अधिक स्त्रियों को ही राम का सान्निध्य प्राप्त है :

राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरखान।
बढ़्यो कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥

शुक्लजी ने लिखा है कि भाई और पत्नी के साथ राम का वन में घूमना एक मर्मस्पर्शी दृश्य है, इसलिए गोस्वामीजी ने रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली तीनों में उसका अत्यन्त सहृदयता से वर्णन किया है। इसके बाद लिखते हैं : "ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करने वाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारने वाला होता है, यह बात समझकर मार्ग में उन्होंने ग्रामवधुओं का सन्निवेश किया है।" शुक्लजी के अनुसार गोस्वामीजी का ध्यान इस बात की ओर भी था कि स्त्रियाँ भी रामचरितमानस पढ़ेंगी या सुनेंगी और इसलिए विशेष रूप से उनके हृदय को स्पर्श करने के लिए उन्होंने ग्रामवधुओं का चित्रण किया है। गोस्वामीजी ने यह सब समझकर किया हो चाहे वैसे ही रस-प्रवाह में लिख गए हों, यह निश्चित है कि नारी समुदाय से उन्हें गहरी सहानुभूति थी।

स्त्रियों, शूद्रों आदि के प्रति तुलसी की भावना क्या थी, इसका प्रभाव इधर-उधर की दो-चार उक्तियाँ नहीं हैं वरन् कथावस्तु का निर्वाह और चरित्र-चित्रण है। तुलसी की कथा और उनके पात्र निन्दासूचक उक्तियों से ठीक उल्टी बात कहते हैं। और मूल वस्तुकथा और उसके चरित्र हैं, न कि इधर-उधर की उक्तियाँ। तुलसी के अन्य ग्रन्थों से रामचरितमानस का मिलान करने से और उसकी कथा-वस्तु और चरित्र-चित्रण के सन्देश पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्त्रियों, शूद्रों आदि के लिए ताड़ना आदि की बातें कही गई हैं, वे तुलसी की लिखी हुई नहीं हैं, प्रक्षिप्त हैं, उन्हें प्रमाण नहीं माना जा सकता। तुलसी की भक्ति सबसे पहले इन्हीं 'पतितों' के लिए है; जिन्हें कोई नहीं जाँचता, उन्हीं के लिए तुलसी के पतित-उधारन राम हैं। यदि तुलसी वेद-विहित कर्मों के प्रतिष्ठाता होते तो वे यह व्यंग्य-वचन न लिखते :

कौन धौं सोमयागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं बाजपेयी।

यदि वह स्त्रियों को ताड़ना का अधिकारी समझते, तो उनकी पराधीनता पर द्रवित होकर यह न लिखते :

कत बिधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।

यदि वह सामन्ती व्यवस्था को दृढ़ करने वाले होते तो वे राम को ईश्वर का अवतार न कहते, वरन् वह किसी सामन्त को ईश्वर का अवतार कहकर उसकी

बन्दना करते होते, वह इन सामन्तों के प्रशंसक कवियों के लिए क्रोध से यह न लिखते :

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना।

भक्ति-आन्दोलन एक सामन्त-विरोधी आन्दोलन था; उसके सर्वश्रेष्ठ सामन्त-विरोधी कवि तुलसी का ऐसा लिखना उचित ही था।

तुलसी की दीनता कल्पित नहीं है, राम को रिझाने के लिए उन्होंने दीनता का नाटक नहीं किया। वह अपनी क्षुद्रता दिखाने के लिए जब अपने को पतित आदि कहते हैं, वह भी राम के आगे वास्तविक है, जन-साधारण के आगे विनम्रता की व्यंजना। मुख्य बात यह कि तुलसी ने जो कष्ट सहे थे, वे वास्तविक थे, उन कष्टों से वही नहीं, उन-जैसे लाखों लोग भी पीड़ित थे। भुक्तभोगी ही लिख सकता था—"आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की।" जनसमाज की गरीबी और भुखमरी से व्यथित कवि ही लिख सकता था :

दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।

मध्यकालीन समाजव्यवस्था में जनता की गरीबी, भुखमरी, महामारी आदि का वास्तविक चित्रण करने वाले तुलसी उस युग के सबसे बड़े यथार्थवादी कवि हैं, इसमें सन्देह नहीं।

शुक्लजी ने काव्य-रचना में प्रबन्धों को बहुत महत्त्व दिया है। कविता में हृदय के उच्छ्वास ही नहीं प्रकट किये जाते, जीवन का चित्रण भी किया जाता है। संसार के सबसे बड़े कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, सूरदास, शेक्सपियर, दान्ते, मिल्टन, होमर, पुश्किन आदि प्रबन्ध और नाटकीय रचनाएँ लिखने वाले रहे हैं। सूर के पद भी भाव-चित्रण के लिए कथावस्तु और नाटकीय परिस्थितियों का सहारा लेते हैं। शुक्लजी ने रामचरितमानस की कथावस्तु का विवेचन करते हुए यह दिखलाया है कि गोस्वामीजी ने किस तरह विभिन्न घटनाओं का चतुराई से उपयोग करके रसात्मकता बढ़ाई है। उन्होंने परशुराम-संवाद विवाह के बाद नहीं, पहले ही रखा है जिससे "सीता पर उसका अनुरागवर्धक प्रभाव पड़ा ही था।" तुलसी ने कथा के सबसे मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचाना है, उनका उचित उपयोग किया है : राम का वनगमन, चित्रकूट में राम-भरत मिलन, लक्ष्मण के शक्ति लगना आदि। तुलसी ने अलंकारों का प्रयोग भी खूब किया है लेकिन "प्रबन्ध-प्रवाह के भीतर ही अलंकारों का विधान भी करते चलते हैं।" कला की उत्कृष्टता इस बात में है कि हर चीज कथाप्रवाह की सहायता के लिए है। रामचन्द्रिका को शुक्लजी ने 'फुटकर पद्यों का संग्रह' कहा है। रामचरित पर लिखने से ही कोई महाकवि नहीं हो जाता। कला के सम्बन्ध में शुक्लजी का यह दृष्टिकोण बिलकुल सही है। यह इस बात का एक और प्रमाण है कि शुक्लजी का दृष्टिकोण एकांगी समाज शास्त्रीय नहीं था।

शुक्लजी ने तुलसी-साहित्य में दोष दिखाये हैं, वे भी ऐसे हैं जो कलात्मक

सौन्दर्य में बाधक हैं। कवि पर धर्मोपदेष्टा और नीतिकार का हावी होना शुक्ल-जी को पसन्द नहीं है। "शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उसके बहुत-से प्रसंग और वर्णन खटकते हैं; जैसे पातिव्रत और भिन्न धर्म के उपदेश, उत्तरकाण्ड में गरुड़पुराण के ढंग का कर्मों का ऐसा फलाफल कथन। ऐसे स्थलों पर गोस्वामीजी का कवि का रूप नहीं, उपदेशक का ही रूप है।"

जहाँ-तहाँ शुक्लजी ने तुलसी के प्रकृति-चित्रण की तारीफ की है, लेकिन उस चित्रण से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वह सोचते रह जाते हैं: "ऋष्यमूक पर्वत नियराई"—इस प्रसंग में प्रकृति-चित्रण का कितना अवकाश था। गोस्वामीजी यह कलात्मक अवसर चूक गये। "आगे चले बहुरि रघुराई" वाली पंक्ति शुक्लजी को विशेष नीरस लगती थी और समूचे प्रबन्ध की सरसता के ही कारण उन्होंने ऐसी नीरसता को क्षम्य समझा है।

चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ दिखाते हुए उन्होंने राम और दशरथ की परस्पर विभिन्नता की बात उठाई है। दशरथ राम के पिता थे, इसलिए शुक्लजी उनके भी भक्त नहीं हो गये। दशरथ ने कैकेयी के वश होकर राम के साथ अन्याय किया, शुक्लजी यह भुला नहीं सकते। वरदान वाली बात उनके गले से नीचे नहीं उतरती। इस तरह का काम "स्त्रैण होने का ही परिचय देना है।" इसके विपरीत धीर-वीर राम का चरित्र है जो पिता की तुलना में और भी उज्ज्वल हो उठता है।

नायक प्रतिद्वन्दी में भी कुछ गुण होने चाहिए, कवि-कौशल का यह सूत्र शुक्ल-जी को मालूम है। उन्होंने रावण की कष्ट-सहिष्णुता, धीरता, राक्षसकुल के पालन आदि का विवेचन किया है। रावण पाप का अवतार नहीं है; इसीलिए कथा की रोचकता नष्ट नहीं होने पाती।

शुक्लजी ने भाषा पर महाकवि के असाधारण अधिकार के अनेक उदाहरण दिये हैं। उनकी भाषा के गठन में जो अनेक बोलियों के तत्त्व मिले हैं, उनका अध्ययन करने के लिए मूल्यवान सुझाव दिये हैं। शुक्लजी उन कवियों से सख्त नाराज हैं जो भाषा के साथ मनमाना व्यवहार करते हैं, वाक्य-रचना आदि के नियमों का ध्यान नहीं रखते। इन्हें कोसते हुए उन्होंने लिखा है: "हिन्दी का भी व्याकरण है, 'भाषा' में भी वाक्य-रचना के नियम हैं, अधिकतर लोगों ने इस बात को भूलकर कवित्त सवैयों के चार पैर खड़े किये हैं।" वह गोस्वामीजी से इस कारण विशेष प्रसन्न हैं कि उन्होंने वाक्यों की सफाई और वाक्य-रचना की निर्दोषता का ध्यान रखा है, वाक्यों में शैथिल्य नहीं आने दिया, मुहावरों का प्रयोग किया है, इत्यादि।

शुक्लजी तुलसी द्वारा अलंकारों के प्रयोग की विशेषता यह मानते हैं कि जो अलंकार नहीं पहचानते वे भी 'अर्थ ग्रहण करके पूरा आनन्द उठाते हैं।' अलंकारों की चर्चा करते हुए उन्हें बिहारी याद न आते, यह कैसे हो सकता था? इसलिए "एक बिहारी हैं कि पहले 'नायिका का पता लगाइए, फिर अलंकार निश्चित

कीजिए' और तब दोनों की सहायता से प्रसंग की ऊहा कीजिए, तब जाकर कहीं अर्थ से भेंट हो।"

काशी में रहने के कारण अलंकारशास्त्रियों के सम्पर्क में आना शुक्लजी के लिए अनिवार्य था। पुरानी परिपाटी की काव्य-चर्चा में अलंकार गिनना विशेष विद्वत्ता का चिह्न माना जाता था। शुक्लजी ने मानो इन अलंकारशास्त्रियों पर धाक जमाने के लिए अलंकारों की खूब छानबीन की है, सीताजी की "बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी" आदि चेष्टाएँ 'अनुभाव' होंगी या विभावांतर्गत 'हाव' होगी, इसका सूक्ष्म किन्तु अमार्मिक विवेचन किया है। कहीं-कहीं गोस्वामीजी ने ऐसी अलंकार योजना भी की है जो प्रभावोत्पादक नहीं है। इसके लिए शुक्लजी की दलील है कि रामचरितमानस की ओर सभी प्रकार के लोगों को आकर्षित करना था; इसलिए उन्होंने "अलंकार की भद्दी रुचि रखने वालों को भी निराश नही किया।" ! ! !

शुक्लजी की यह स्थापना कि प्रबन्ध-पटुता के कारण गोस्वामीजी ने अलंकारों का उपयोग भावोत्कर्ष के लिए किया है, बिलकुल सही है। लेकिन प्रबन्ध-पटुता की प्रशंसा करते हुए उन्होंने मुक्तकों को और गीतिकाव्य का महत्त्व कुछ कम करके आँका है या उसे भुला ही दिया है। तुलसी की रचनाओं में जो 'लिरिक' रचनाओं का सौन्दर्य है, तुलसी की आत्मीयता, तन्मयता, व्यक्तित्व की झलक, आत्मनिवेदन, स्वतःस्फूर्त गेयता—इन सबका मूल्य या तो उन्होंने पहचाना नही या उसके बारे में वह क्षमा प्रार्थना-सी करते दिखाई देते हैं। यह कहने के बाद कि काव्य का अतिरंजित या प्रगीत-स्वरूप मुक्तकों में ज्यादा पाया जाता है, वह तुलसी के लिए दावा करते हैं : "गोस्वामीजी की रुचि काव्य के अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप की ओर नहीं थी।" इतना लिखने के बाद उन्हें गीतावली का ध्यान आता है, इसलिए क्षमा-प्रार्थना करते हैं, "गीतावली गीतकाव्य है पर उसमें भी भावों की व्यंजना उसी रूप में हुई है जिस रूप में मनुष्यों को उनकी अनुभूति हुआ करती है या हो सकती है।" इसका अर्थ यह हुआ कि गीत-काव्य स्वाभाविक हो तो ठीक, अतिरंजित हो तो गलत; फिर क्षमा-प्रार्थना की जरूरत क्यों ? वास्तव में शुक्लजी गीतकाव्य को हेच मानते थे, तुलसी के महाकवि होने का दावा सबसे अधिक उनकी प्रबन्ध-पटुता के कारण किया था, इसीलिए गीतकाव्य के लिए क्षमाप्रार्थी हैं।

विनयपत्रिका की चर्चा करते हुए इसी ढंग से उन्होंने लिखा है : "विनयपत्रिका में अलबत तुलसीदासजी अपनी दशा का निवेदन करने बैठे हैं।" पक्ष की दलील यह है : "पर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि तुलसी की अनुभूति ऐसी नहीं जो एकदम सबसे न्यारी हो।" यह बात सूर आदि और गीतकारों के लिए भी कही जा सकती है।

इस सिलसिले में शुक्लजी ने कलियुग-वर्णन मे तात्कालिक देश-दशा का जो सम्बन्ध जोड़ा है, वह ध्यान देने योग्य है। 'विनय' में कलि की करालता से उत्पन्न

जिस व्याकुलता या कातरता का उन्होंने वर्णन किया है वह केवल उन्हीं की नहीं है समस्त लोक की है।" शुक्लजी ने इस स्थापना का विस्तृत विवेचन किया होता तो वे तुलसी की करुणा की और मार्मिक व्याख्या कर पाते। इस करुणा की ओर कम दृष्टि जाने के कारण वह कवितावली और विनयपत्रिका का उपयुक्त मूल्यांकन नहीं कर पाये और मानस के विवेचन में भी पात्रों के अनेक नैतिक गुणों काउद्घाटन नहीं कर पाये।

उनके कला-विवेचन में तुलसी के छन्द-कौशल पर प्रकाश नहीं डाला गया, यह कमी खटकती है। इन कमियों के बावजूद 'गोस्वामी तुलसीदास' इस विषय की श्रेष्ठ और मौलिक रचना है। उसकी मौलिकता इस बात में है कि शुक्लजी ने कला का आधार वास्तविक जीवन को माना है, भक्ति का आधार जीवन की स्वीकृति मानी है, रामचरितमानस को 'जीवनगाथा' के रूप में देखा है, उसमें जीवन की वास्तविक दशाओं, उसकी अनेकरूपता और स्वाभाविकता का विवेचन किया है, दरबारी कवियों से भिन्न और उनकी परम्परा के विरुद्ध तुलसी के लोक-साहित्य की पद्धति प्रमाणित की है, अलंकारों को प्रबन्ध और काव्यवस्तु का उत्कर्ष बढ़ाने वाला समझकर उनकी व्याख्या की है, तुलसी की भावुकता से परास्त होकर उन्हें प्रेम का उत्कर्ष दिखाने वाला महाकवि माना है, महाकवि की सहृदयता के आगे नियम और व्यवस्था एक ओर रखे रह जाते हैं, यह स्वीकार किया है। तुलसी में यह सब देखने और लिखने वाले आलोचक शुक्लजी ही थे। जैसे-जैसे हिन्दी आलोचना के ऊपर से लक्षण-ग्रन्थों का प्रभाव उठेगा और 'कला कला के लिए' आदि वादों से यह मुक्त होगी, वैसे ही शुक्लजी की स्थापनाओं का मूल्य हमारी निगाह में और भी बढ़ेगा और उन्हीं स्थापनाओं को विकसित करते हुए तुलसी का और भी विस्तृत अध्ययन सम्भव होगा।

दरबारी काव्य-परम्परा

रीतिकालीन कवियों के सीमित भाव-क्षेत्र, शृंगारप्रियता और साहित्यिक सुरुचि के अभाव की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने इतिहास में लिखा है : "इसका कारण जनता की रुचि नहीं; आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।" शुक्लजी ने यहाँ रीतिकालीन कविता का वर्ग-आधार बहुत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया है। जिसे रीतिकालीन कविता कहा जाता है, वह वास्तव में दरबारी कविता है और उसकी परम्परा संस्कृत से चली आ रही थी—लक्षण-ग्रन्थ, नायिका भेद, अलंकार, चमत्कारवाद, सूक्ति-प्रियता, अश्लीलता, हिन्दी रीतिकालीन कविता को ये सभी गुण विरासत में संस्कृत से मिले थे। इसलिए यह समझना कि देश में मुसलमानों का राज हो जाने से जनता की रुचि पतित हो गयी थी, सामन्तों की कुरुचि के लिए जनता को दोषी ठहराना है।

'देव और उनकी कविता' में डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं : "घोर सामाजिक और राजनीतिक पतन के इस युग में जीवन बाह्य अभिव्यक्तियों से निराश होकर घर की चहार-दीवारी में ही अपने को अभिव्यक्त कर सकता था—घर में इस समय न धर्म-चिन्तन था, न शास्त्र-चिन्तन, अतएव अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम था—काम। बाह्य जीवन की असफलताओं से आहत मन नारी के अंगों में मुँह छिपाकर विसुध-विभोर तो हो जाता था।" यहाँ सामन्तों की कुरुचि को जनता की कुरुचि कह दिया गया है ! यदि इस विशेष युग में निराशा के कारण लोग 'नारी के अंगों में मुँह' छिपाते, तो उस युग में, जब इस निराशा का कोई कारण न था, ऐसी विलास-प्रियता और नायिका-भेदी रुचि क्यों मिलती है ? रीतिकालीन कवि शृंगार की शराब में गम गलत करने वाले कवि न थे, न उनका काम-क्षेत्र घर की चहार-दीवारी तक सीमित था। डॉ. नगेन्द्र ने कामवासना को जीवन की मूल प्रवृत्ति मानकर, इस विषय में ऋग्वेद और फ्रायड को एक करके और समूचे युग को निराशा और पतन का युग कहकर दरबारी कविता के सामन्ती वर्ग-आधार

को छिपा दिया है, उन राजाओं-महाराजाओं को 'गुड कौन्डक्ट' का सर्टिफिकेट दे दिया है जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।

केशवदास आदि कवियों ने हिन्दी के कुछ मामूली पढ़े-लिखे पाठकों और अध्यापकों पर आचार्यत्व का रोब जमा रखा था। शुक्लजी ने इन दरबारी कवियों के कन्धों से आचार्यत्व की रामनामी उतार ली। उन्होंने दिखाया कि इन आचार्यों ने या तो भामह और उद्भट की नकल की थी या आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ की। बहुत-से लोगों ने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार अलंकार-ग्रन्थ रचे थे। इनके अनुवाद—विशेषतः केशवदास के—भोंड़े हुए हैं। किसी विषय की सम्यक् मीमांसा तो वे विस्तार से पद्य में कर ही नहीं पाये। मौलिकता का उनमें नितान्त अभाव है। पहले लक्षण फिर उनके उदाहरण लिखने की भद्दी परिपाटी उन्होंने जरूर चलाई।

रीतिकालीन कवियों ने हिन्दी काव्य-क्षेत्र संकुचित किया, जीवन की अनेक-रूपता का उनमें अभाव है। शुक्लजी के शब्दों में "वाग्धारा बँधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी।" शुक्लजी साहित्य में व्यक्तिगत दायरे से निकलकर लोक-जीवन को साहित्य का भावक्षेत्र बनाने के पक्ष में रहे हैं। लेकिन रीतिकालीन कवियों का व्यक्तित्व ऐसा निर्जीव था कि उन्हें लिखना पड़ा है: "कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया।" यदि इन कवियों में कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ दिखायी देतीं, तो भी पता चलता कि इनमें स्वाधीन चेतना अभी बाकी है।

रीतिकालीन कवियों ने अपनी काव्यसामग्री राजदरबारों और वहाँ के वातावरण से ली थी। वह साधारण जनता के जीवन से बाहर की थी। भक्त कवियों ने रानियों का भी वर्णन किया है तो साधारण स्त्रियों के रूप में; दरबारी कवियों ने साधारण स्त्रियों का वर्णन भी किया है तो उन्हें रनिवास की नायिका बना दिया है। शुक्लजी के अनुसार जायसी के पद्मावत में नागमती विरहदशा में अपना 'रानीपन बिलकुल भूल जाती है और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती है।" रीतिकालीन कवि अपनी नायिकाओं के लिए जनसाधारण के जीवन से दूर किस तरह की सामग्री जुटाते थे, इस पर शुक्लजी कहते हैं: "यदि कनक-पर्यंक, मखमली सेज, रत्नजटित अलंकार, संगमरमर के महल, खसखाने इत्यादि की बातें होतीं तो वे जनता के एक बड़े भाग के अनुभव से कुछ दूर की होतीं।" सूफियों, सन्तों आदि का प्रेम दरबारी कवियों के प्रेम से किस तरह भिन्न है, यह बतलाते हुए शुक्लजी जायसी की भूमिका में कहते हैं: "ऐसा प्रेम प्रिय को छोड़ किसी अन्य वस्तु का आश्रित नहीं होता। न उसे सुराही चाहिए, न प्याला; न गुलगुली गिलमें, न गलीचा।"

दरबारी कवियों की शृंगारी कविता में शुक्लजी को सबसे बड़ा दोष उसकी कृत्रिमता दिखाई देता है। उन्होंने नायिकाओं के सूखकर काँटा होने, मूर्च्छा, उन्माद आदि के अतिरंजित चित्रों की तीव्र आलोचना की है। इसके सिवा शृंगार के

चित्रण में ये कवि मर्यादा का बिलकुल ध्यान न रखते थे। तुलसी के प्रेम-चित्रण से इनके शृंगार-वर्णन की भिन्नता दिखाते हुए उन्होंने 'नायिकाभेद वाले कवियों' द्वारा 'लोकमर्यादा का उल्लंघन' होता बतलाया है। उन्हें 'रासलीला के रसिकों' से भी कोई शिकायत है तो यही कि वे मर्यादा का ध्यान नहीं रखते।

शुक्लजी की गम्भीर आलोचना में पाठको का मनोरंजन करने के लिए जहाँ-तहाँ हास्य का पुट भी है। इस हास्यरस के प्रधान आलम्बन हैं आचार्य केशवदास। तुलसी के पंचवटी वर्णन की चर्चा करते हुए उन्हें केशव का इसी सिलसिले में अलंकार-प्रदर्शन याद आ जाता है। केशव के वर्णन से तुलसी के विस्तृत और भावुक चित्रण की भिन्नता दिखाते हुए उन्होंने 'गोस्वामी तुलसीदास' में लिखा है: "केशवदास के समान नही किया है कि पंचवटी का प्रसंग आया तो बस 'सब जाति फटी दुख की दुपटी' करके अपना यह श्लेष चमत्कार दिखाकर चलते बने।" चलते बने!!! इन दो शब्दों में ही शुक्लजी ने केशव को चलता कर दिया है।

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै।

इस पंक्ति में उन्हें हास्यरस की विशेष सामग्री मिली है। पूछते हैं: "क्या बेर को देखकर भयानक प्रलयकाल की ओर ध्यान जाता है और आक को देखकर प्रलयकाल के अनेक सूर्यों की ओर?"

जायसी की भूमिका में पनघट-वर्णन की चर्चा करते हुए शुक्लजी को वह कथा याद आ जाती है जब पनघट पर बैठे केशवदास को स्त्रियों ने बाबा कहा था और केशव ने 'केसन अस करी' वाला दोहा कहा था। लिखा है: "बूढ़े केशवदास ने पनघट ही पर बैठे-बैठे अपने सफेद बालों को कोसा था।"

केशव से उन्हें कई तरह की शिकायतें हैं। बुढ़ापे में भी उनका नायिकाभेदी दृष्टिकोण दूर न हुआ, यह एक है। भोंड़े अलंकारों से चमत्कार पैदा करने की कोशिश की, यह दूसरी है। इस चमत्कारवाद को शुक्लजी काव्य का बहुत बड़ा दोष मानते हैं। इससे स्वाभाविक भावोत्कर्ष की गुंजाइश नहीं रहती। 'सूरदास' में 'निरखत अंक स्यामसुन्दर के बार-बार लावति छाती' में अंक और श्याम के श्लेष की दाद देते हुए शुक्लजी कल्पना करते हैं कि केशव "ह्वै गई स्याम स्याम की पाती" के विषय पर किस चमत्कारवाद का नमूना पेश करते। गद्य में केशव की पैरोडी करते हुए शुक्लजी लिखते हैं: "यदि केशवदास के ढंग पर सूर भी यहाँ उक्त शब्द-साम्य को लेकर 'कृष्ण' और 'पत्री' की तुलना पर जोर देने लगते—कहते कि पत्री मानो कृष्ण ही है, क्योंकि वह भी श्याम है और उसके भी अंक (वक्षस्थल) है—तो काव्य की रमणीयता कुछ भी न आती।...केवल शब्दात्मक साम्य को लेकर यदि हम किसी पहाड़ को कहें कि वह बैल है क्योंकि इसे भी 'शृंग' है, तो यह काव्य-कला तो न होगी, और कोई कला हो तो हो। क्या जरूरत है कि शब्दों की जितनी कलाबाजियाँ हों, सब काव्य ही कहलावें?"

शुक्लजी काव्य-कला के पक्ष में हैं, कलाबाजी के नहीं। चमत्कारवादी कवियों के शब्दों के खिलवाड़ को वह काव्य-कला नहीं मानते; उसे उन्होंने कलाबाजी की

संज्ञा दी है। इस तरह अपने व्यंग्य से उन्होंने वर्तमानकाल के उन कवियों का भी विरोध किया है जो पुरानी कविता के प्रभाव से अब भी इस तरह का खिलवाड़ करते रहते हैं। अनुप्रासों की बहार दिखाने के लिए शुक्लजी के अनुसार, केशव ने मगध के पुराने जंगल के वर्णन में ऐसे पेड़ों के नाम गिन दिये हैं जो वहाँ नहीं होते। केशव से उन्हें सबसे बड़ी शिकायत यह है कि उनमें "हृदय का तो कहीं पता ही नहीं" है ('गोस्वामी तुलसीदास')। 'वीरसिंहदेवचरित' में केशव ने अपनी 'हृदय-हीनता' ही नहीं, प्रबन्ध रचना में भी पूरी असफलता दिखा दी है। रामचन्द्रिका के लिए शुक्लजी ने कई जगह लिखा है कि वह 'फुटकर पद्यों का संग्रह' मात्र है।

अपने इतिहास में उन्होंने केशव की भाषा की आलोचना की है। उसमें पद-न्यूनता, वाक्य-न्यूनता, फालतू शब्दों के प्रयोग आदि के दोष दिखलाये हैं। शुक्लजी ने केशव की जो बार-बार और कठोर आलोचना की है, उसका कारण उनके समय में और उनसे कुछ पहले भी केशव का मूल्य बहुत बढ़ा-चढ़ाकर आँकने की परम्परा थी। केशव को भाषा, छन्दों और अलंकारों का आचार्य कहा जाता था। उनका काव्य समझना या बिना समझे ही सराहना विद्वत्ता की खास निशानी समझी जाती थी। केशवदास को सूर और तुलसी के बाद जगह दी जाती थी जिसका परिणाम यह था कि हिन्दी के अन्य कवियों के साथ न्याय न होता था। शुक्लजी ने केशव की वास्तविकता प्रकट करके आलोचना के पुराने सामन्ती मानदण्डों को बदलने में बहुत बड़ी सहायता की। शुक्लजी द्वारा केशव की आलोचना ने लाला भगवानदीन और रावराजा श्यामबिहारी मिश्र आदि का युग समाप्त किया और हिन्दी आलोचना में नये युग का सूत्रपात किया।

शुक्लजी ने सिद्ध किया कि केशव की दुरूहता का कारण "मौलिक भावनाओं की गम्भीरता या जटिलता नहीं" है; उनकी दुरूहता का मुख्य कारण उनकी भाषा का ऊबड़-खाबड़पन है, उसमें वाक्य-रचना आदि व्याकरण के साधारण नियमों का उल्लंघन है। उस युग में, जब केशव के पाण्डित्य की धाक थी, शुक्लजी ने दृढ़ता से घोषित किया था कि "रामचन्द्रिका में प्रसन्न राघव, हनुमन्नाटक, अनर्घराघव, कादम्बरी और नैषध की बहुत-सी उक्तियों का अनुवाद करके रख दिया गया है।" कहीं-कहीं अनुवाद भी अच्छा नहीं हुआ और उक्तियाँ विकृत हो गयी हैं। इस तरह शुक्लजी ने हिन्दी के साधारण पाठकों के मन से केशव का आतंक हटाया और उन्हें तुलसी-सूर-जायसी-कबीर आदि का सही मूल्यांकन करने का मार्ग सुझाया।

शुक्लजी ने इतिहास में केशव के प्रकृति-चित्रण का विवेचन करते हुए 'दृश्यों की स्थानगत विशेषता (Local colour)' का प्रश्न उठाया है। हिन्दी-काव्य के लिए तो नहीं, हिन्दी आलोचना के लिए यह नयी बात थी। यथार्थवाद के पक्षपाती शुक्लजी के लिए यह स्वाभाविक था कि वह उक्ति के अनूठेपन से सन्तुष्ट न हों, प्रकृति-चित्रण में अलंकारों की सजावट पर मुग्ध न हों वरन् दृश्यों के वर्णन में स्थानगत विशेषता की माँग करें। लेकिन केशव के लिए "प्राकृतिक दृश्यों में कोई

आकर्षण नहीं था।" रमणीय स्थलों के वर्णन में उन्होंने शब्द साम्य के आधार पर श्लेष के 'भद्दे खेलवाड़' किये थे। प्रबन्ध-काव्य लिखने की योग्यता का उनमें अभाव था। उनके वर्णनों में रस नहीं है वरन् वे "वर्णन वर्णन के लिए करते थे।" कला कला के लिए' का यह रीतिकालीन रूप था। उनकी दृष्टि "जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर न थी" इसका कारण उनका दरबारी वातावरण था। "उनका मन राजसी ठाट-बाट, तैयारी, नगरों की सजावट, चहल-पहल आदि के वर्णन में ही विशेष लगता है।" प्रबन्ध-काव्य में जो सरस स्थल हो सकते थे, जहाँ भावोत्कर्ष की सुविधा थी, वहाँ केशव असफल हुए हैं, अपने चमत्कारवाद के फेर में रस-निर्वाह नही कर पाये। राम के वियोग-वर्णन में "बासर की सम्पति उलक ज्यों न वितवत" आदि लिखते हुए 'हीन और बेमेल' उपमान इकट्ठे कर गये हैं। राम के वन जाते समय मार्ग में लोगों से केशव ने जो कुछ कहलाया है, वह भावोत्कर्ष नहीं कहा जा सकता। वन जाते हुए राम के प्रसंग में भी केशव की काव्य-कला क्यों अपना उत्कर्ष नहीं दिखाती, इसका उत्तर देते हुए शुक्लजी ने दरबारी वातावरण को ही दोषी ठहराया है। राम के सौन्दर्य और उनकी सौम्य आकृति को देखकर "सहानुभूतिपूर्ण शुद्ध सात्विक भावों का उदय" भी हो सकता है, "इसका अनुभव शायद एक-दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखनेवाले नीतिकुशल दरबारियों के बीच रहकर केशव के लिए कठिन था।"'

शुक्लजी की यह उक्ति सिद्ध करती है कि उन्होंने बार-बार रीतिकालीन कविता के संकुचित वर्ग-आधार को स्पष्ट किया है, उससे सहानुभूति नहीं प्रकट की वरन् उसकी तीव्र आलोचना की है। जो सज्जन यह कहते नहीं थकते कि शुक्लजी का दृष्टिकोण सामन्तवाद का हिमायती है, वह एक-दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखनेवाले दरबारियों के बारे में शुक्लजी की मान्यता पर ध्यान दें।

शुक्लजी को केशव से कोई व्यक्तिगत चिढ़ न थी। उनकी समर्थ आलोचना पर यहाँ एकांगी होने का दोष हम नहीं लगा सकते। तुलसी और जायसी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने उनकी काव्यवस्तु और कलात्मक सौन्दर्य दोनों का विवेचन किया है; उसी तरह केशवदास की खामियाँ बतलाते हुए उन्होंने केशव की कथा-वस्तु और कला दोनों ही के मौलिक दोषों का उद्घाटन किया है। आलोचना चाहे विरोध में हो चाहे समर्थन में, शुक्लजी विषयवस्तु और रूप, काव्य के भावों और विचारों तथा कला, दोनों का ध्यान रखते हैं। केशव के मूल दोषों की चर्चा करते हुए उन दोषों का सामाजिक आधार बतलाते हुए शुक्लजी जिस बात को प्रशंसा के योग्य समझते हैं, उसकी प्रशंसा भी करते हैं। उन्होंने केशव की रसिकप्रिया में 'वाग्वैदग्ध्य' और 'सरसता' की सराहना की। रामचन्द्रिका में भी संवाद लिखने में केशव को विशेष सफलता मिली है, यह स्वीकार किया है। शुक्लजी की केशव-सम्बन्धी आलोचना हठधर्मी और पूर्वग्रहों से बिलकुल मुक्त है, इसका प्रमाण यह एक वाक्य है: "उनका रावण-अंगद संवाद तुलसी के संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुन्दर है।" अपने आदर्श कवि तुलसी से रीतिकालीन कृत्रिमता के

प्रतिनिधि कवि केशव को यहाँ बड़ा बताकर शुक्लजी ने चाहे तुलसी के साथ अन्याय किया हो लेकिन अपनी उदारता और हृदय की विशालता का परिचय अवश्य दिया है।

केशव के बाद अत्युक्ति और कृत्रिमता के लिए शुक्लजी ने बिहारी की आलोचना की है। जायसी से बिहारी की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है कि ऊहा द्वारा मात्रा में आधिक्य का निरूपण "काव्य के लिए सर्वत्र उपयुक्त नहीं।" ऊहा के विस्तार की मिसाल यह है : वह कुल का दीपक है, इस बात को लेकर कोई कहे, इससे उसके घर में तेल की बचत हो जाती है। जिन कवियों ने इस तरह ऊहा का विस्तार किया है, उनकी उक्तियों को शुक्लजी ने 'अस्वाभाविक, नीरस और भद्दा' कहा है। बिहारी के 'पत्रा ही तिथि पाइए' को उन्होंने ऐसा ही दोहा बतलाया है। ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य हो तो कृत्रिमता और बढ़ जाती है। जायसी की भूमिका में इसकी मिसालें उन्होंने बिहारी के विरहताप से दी हैं : "जैसे पड़ोसियों को जाड़े की रात में बेचैन करने वाला या बोतल में भरे गुलाब-जल को सुखा डालने वाला ताप।" जायसी के नख-शिख वर्णन को सरस बतलाते हुए बिहारी में भूषणों के दोहरे, तेहरे, चौहरे जान पड़ने को अस्वाभाविक और कृत्रिम कहा है।

बिहारी की रचनाओं का आधार मानव-जीवन की सहज अनुभूतियाँ उतना नहीं हैं जितना रीति-ग्रन्थ। इन काव्य-शास्त्रों के अनुसार कविता करने से कवियों की प्रतिभा किस तरह कुण्ठित हुई और उन्हें आधार न मानने से, मानवजीवन को ही अपना आधार बनाने से, तुलसी की काव्य-प्रतिभा कैसे उत्कर्ष पर पहुँची, यह तथ्य 'गोस्वामी तुलसीदास' में शुक्लजी ने इस वाक्य द्वारा प्रकट किया है : "बिहारी रीतिग्रन्थों के सहारे जबरदस्ती जगह निकालकर दोहों के भीतर शृंगार-रस के विभाग-अनुभव और संचारी ही भरते रहे।" शुक्लजी के समय में पुरानी परिपाटी के कवि और आलोचक नई कविता और नये कवियों पर यही आक्षेप किया करते थे कि इन्हें रीति-ग्रन्थों का पता नही है, उनकी अवहेलना की गई है, इत्यादि। रीति-ग्रन्थों का प्रभाव कविता पर कैसा पड़ा था, यह दिखाकर शुक्लजी ने इस तरह के कवियों और आलोचकों को उत्तर दिया था।

जैसे ये कवि थे, वैसे ही रीतिग्रन्थों का हवाला देकर इनकी दाद देने वाले आलोचक भी थे। जायसी की भूमिका में शुक्लजी ने 'अहाहा' और 'वाह वाह' वाली आलोचना को जल्दी ही बन्द करने का सुझाव रखा है। कहत सबै बेंदी दिए, आँक दसगुनों होत' में पुरानी चाल के आलोचकों ने गणित का चमत्कार देखा। "यह जग काँचो काँच सो, मैं समुझ्यो निरधार" में वेदान्त का पाण्डित्य देखा था। ऐसे आलोचकों को शुक्लजी सलाह देते हैं कि उन्हें "विचार से काम लेने और वाणी का संयम रखने का अभ्यास करना चाहिए।" रीतिकालीन कविता की सीमाएँ बतलाने के साथ-साथ शुक्लजी ने रीतिकालीन परम्परा की आलोचना की सीमाएँ भी जता दीं। इस तरह की आलोचना हिन्दी पाठकों की साहित्यिक

रुचि के संस्कार में बाधक थी। हिन्दी-साहित्य के पठन-पाठन में शुक्लजी से पहले उसी परिपाटी का बोलबाला था। विद्यालयों में पुरानी चाल की आलोचना नई पीढ़ी के शिक्षितवर्ग को गुमराह कर रही थी। शुक्लजी ने आलोचना-क्षेत्र में लोगों की रुचि बदलने, एक पूरी पीढ़ी को सामन्ती काव्यालोचना के प्रभाव से मुक्त करने, उसे स्वाधीन चिन्तन के नये मार्ग पर आगे बढ़ाने में सबसे अधिक काम किया। यह उनका युगान्तरकारी कार्य है, इसमें सन्देह नहीं। उस युग में जब हिन्दी के आचार्य बिहारी के दोहों की टीका करना अपने पाण्डित्य का श्रेष्ठ प्रदर्शन मानते थे, जब देव बड़े हैं कि बिहारी, इस विवाद को लेकर पत्रिकाओं में वितंडावाद चलता था और पुस्तकें तक लिख डाली गई थीं, शुक्लजी ने इन तमाम आचार्यों की ज़रा भी परवाह न करते हुए इनके संकुचित और कृत्रिम भाव-क्षेत्र की असलियत जाहिर कर दी। 'सूरदास' में बिहारी की पसीने में भीगती हुई नायिका के बारे में लिखते हैं: "उनकी नायिका को नायक के भेजे हुए पंखे की हवा लगने से उलटा और पसीना होता है। यह एक तमाशे की बात जरूर हो गई है।"

इतिहास में शुक्लजी ने बिहारी के 'अनुभावों हावों' की योजना को सुन्दर कहा है। उनकी सरसता की प्रशंसा की है। लेकिन यह सब उन्होंने रीतिकालीन कवियों को देखते हुए कहा है और रीतिकालीन कवियों में भी "देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का-सा गूँजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं जान पड़ता," यह लिखना वह नहीं भूले। बिहारी के दोहों में गागर में सागर भरने की कला की जो तारीफ की जाती है, उसके लिए शुक्लजी कहते हैं कि यह "बहुत कुछ रूढ़ि की स्थापना" से सम्भव हुआ। रूढ़ि से तात्पर्य नायिका-भेद की परम्परा से है। लिखा है: "यदि नायिका-भेद की प्रथा इतने जोर से न चल गई होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।" इसका अर्थ यह हुआ कि बिहारी की कला का आधार नायिका-भेद की परम्परा थी और उसमें दक्ष विद्वान् ही उनकी गागरों पर लोटपोट हो जाते थे। बिहारी की कला में महीन पच्चीकारी है लेकिन भव्यता, ओज और गाम्भीर्य नहीं हैं। बिहारी के प्रशंसकों की तुलना शुक्लजी ने उन लोगों से की है जो "किसी हाथीदाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घण्टों वाह-वाह किया करते हैं।" अन्तर इतना है कि बिहारी की भाषा में हाथीदाँत के बेलबूटों की नफासत नहीं है; उनके नायक-नायिकाएँ भी हाथीदाँत के काम की तरह निष्काम नहीं हैं।

शुक्लजी सभी रीतिकालीन कवियों के विरोधी नहीं थे, इसका प्रमाण उनकी मतिराम-सम्बन्धी आलोचना है। उनका विचार है कि मतिराम को सच्चा कवि-हृदय मिला था लेकिन अपने समय की विचारधारा का प्रभाव उन पर भी पड़ा। यदि वह दरबारों से अलग रहते और उनकी प्रतिभा को स्वतन्त्र विकास का मौका मिलता तो वह और बड़े कवि हुए होते। शुक्लजी इस सम्बन्ध में अपने इतिहास में लिखते हैं: "इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिए विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनु-

सार चलने पाते तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते, इसमें कोई सन्देह नहीं।" इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं, एक तो यह कि रीतिकालीन कविता का मूल्यांकन करते हुए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दरबारी वातावरण और नायिका-भेदी परम्परा के बावजूद कौन-से कवि जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों का चित्रण कर सके हैं, दूसरे यह कि रीति की बँधी लीकों पर चलने से अच्छे कवियों की भी प्रतिभा कुण्ठित हुई है, साधारण कवियों की तो बात ही क्या !

शुक्लजी के अनुसार मतिराम की कविता सरस है और उसकी सरसता कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है। उनकी शैली का विशेष गुण—जो उन्हें केशव से अलग करता है और जिसके कारण शुक्लजी की उन पर विशेष कृपा है—यह है कि उसमें शब्दाडम्बर नहीं है, फालतू शब्दों की भर्ती नहीं है। बिहारी के समान उनमें अतिशयोक्तियाँ नही हैं। शुक्लजी के शब्दों में "नायिका के विरहताप को लेकर बिहारी के समान मज़ाक इन्होंने नहीं किया है।" उनकी भाव-व्यंजना भी सीधी है, "बिहारी के समान चक्करदार नहीं।" शुक्लजी के लिए केशव और बिहारी रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि हैं, प्राचीन रूढ़िवाद के सब अवगुणों की खान हैं। इसलिए किसी कवि की श्रेष्ठता दिखाने के लिए शुक्लजी सहज ही केशव और बिहारी से उसकी भिन्नता दिखाने लगते हैं।

मतिराम ने दोहे भी लिखे हैं लेकिन शुक्लजी ने बिहारी के दोहों से मतिराम के दोहों की तुलना नहीं की। शायद दोहा-जैसा छोटा छन्द शुक्लजी को पसन्द नहीं था। मतिराम के सिलसिले में उन्होंने बिहारी के लिए लिखा है : "उन्होंने केवल दोहे कहे हैं, इससे उनमें वह नाद-सौन्दर्य नहीं आ सका है जो कवित्त सवैये की लय के द्वारा संघटित होता है।" केवल नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से मतिराम के दोहे बिहारी के दोहों से बढ़कर हैं और तुलसी ने चातक सम्बन्धी दोहों में और रामचरितमानस के पचीसों दोहों में जो भिन्न-भिन्न कोटि का नाद-सौन्दर्य पैदा किया है, वह कवित्त-सवैयों से किसी तरह घटकर नहीं है।

शुक्लजी मतिराम की तरह देव को सहज प्रतिभा का कवि नही मानते। पहले उन्होंने देव के आचार्यत्व को लिया है। उनकी सम्मति है कि रीतिकाल में कोई भी कवि आचार्य कहलाने लायक नहीं हुआ; देव भी उस स्थान के योग्य नहीं हैं। जिन लोगों ने देव को मौलिक चिन्तन का श्रेय दिया है, शुक्लजी के अनुसार उन्होंने ऐसा 'भक्तिवश' किया है। शुक्लजी ने देव की मौलिकता के मूल को खोज निकाला है; इसलिए उनके आचार्यत्व से प्रभावित होने से वह इन्कार करते हैं। पहले उन्होंने तात्पर्यवृत्ति को लिया है और बताया है कि नैयायिकाओं की तात्पर्यवृत्ति बहुत समय से प्रसिद्ध थी। तात्पर्यवृत्ति वाक्य के भिन्न पदों के "वाच्यार्थ को एक में समन्वित करने वाली वृत्ति" है। इसके बाद उन्होंने 'छल-संचारी' को लिया है और इसका उद्भव संस्कृत की रस-तरंगिणी बतलाया है। 'छल-संचारी' की उद्भावना को मौलिक कहकर देव की तारीफ करने वालों पर शुक्लजी दो कारणों से

नाराज हैं : एक तो यह कि देव की सूझ मौलिक नहीं है, दूसरे यह कि गिनाये हुए संचारियों से भावों की संख्या बहुत बड़ी है। जायसी की भूमिका में वह लिखते हैं : "आश्चर्य ऐसे लोगों पर होता है जो 'देव' कवि के छल नामक एक और संचारी ढूंढ़ निकालने पर वाह-वाह का पुल बाँधते हैं और देव को एक आचार्य समझते हैं।" रीतिवादी आचार्यों को मानो उन्हीं के घर में शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देते हुए शुक्लजी कहते हैं : "गोस्वामीजी की आलोचना में मैं कई ऐसे भाव दिखा चुका हूँ जिनके नाम संचारियों की गिनती में नहीं हैं।" गिनाये हुए संचारियों को उन्होंने उपलक्षणमात्र माना है। उनका दावा है कि संचारी और भी कितने हो सकते हैं और जो नये संचारी नहीं देख सकता, वह आचार्य कैसा ?

देव के अनुसार अभिधा उत्तम काव्य है, लक्षणा मध्यम है और व्यंजना अधम है। शुक्लजी का कहना है कि शब्द-शक्ति के निरूपण में हिन्दी के रीतिग्रन्थ आमतौर से कोरे हैं, इसलिए देव की स्थापना पर ज्यादा कहने का 'अवकाश नहीं' है। देव को 'बेनीफिट ऑफ दि डाउट' देते हुए उन्होंने अनुमान किया है कि व्यंजना से देव का मतलब 'पहेलीबुझौवलवाली वस्तुव्यंजना' से रहा होगा। शुक्लजी स्वयं अभिधा को उत्तम, लक्षणा को मध्यम और व्यंजना को अधम मानने के लिए तैयार नहीं थे। रीतिग्रन्थों में इस विषय का समुचित निरूपण नहीं हुआ, इसका दिलचस्प कारण यह है : "इस विषय का सम्यक् ग्रहण और परिपाक ज़रा है भी कठिन।"

देव में कवित्वशक्ति थी, मौलिकता भी थी (आचार्य की नहीं, कवि की मौलिकता), लेकिन उनकी प्रतिभा के विकास में "उनकी रुचि-विशेष प्रायः बाधक हुई है।" यह रुचि-विशेष क्या है ? यह रुचि वही दरबारी रुचि है जिसने मतिराम की प्रतिभा को भी एक हद तक कुंठित किया था। देव अनुप्रासों के प्रेमी थे, इसलिए पेचीदा मजमून बाँधते हुए "अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही मे उसका अंगभंग करके सारे पद्य को कीचड़ मे फंसा छकड़ा बना देती थी।" देव में लफ्फ़ाजी बहुत है, थोड़े-से अर्थ के लिए बहुत-से शब्दों का खर्च है। उन्होंने शब्दों को काफी तोड़ा-मरोड़ा भी है। यह कृत्रिमता भाषा तक सीमित नहीं है; उनका प्रेम-वर्णन भी काफी कृत्रिम है। 'सूरदास' में शुक्लजी ने लिखा है : "पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रचकर प्रेम-चर्य्या दिखाने का प्रयत्न किया; पर वह अधिकतर एक घर के भीतर के भोग-विलास की कृत्रिम दिनचर्या के रूप में है। उसमें न तो वह अनेकरूपता है, न प्राकृतिक जीवन की वह उमंग।" इस पर भी इतिहास मे उन्होंने स्वीकार किया है कि देव जहाँ भाव का निर्वाह कर पाये हैं, वहाँ रचना बहुत ही सरस हुई है। शुक्लजी काव्य की विषयवस्तु और उसके रूपों को अलग करके नहीं देखते; दोनों में विषयवस्तु को नियामक मानते हैं। इसीलिए देव की सरसता को भाव-निर्वाह पर निर्भर कहा। इसके विपरीत डॉ. नगेन्द्र यह मानते हुए कि "देव की भाषा में उचित व्यवस्था नहीं मिलती," कहते हैं : "उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य और संगीत की अपूर्व श्रीवृद्धि की है; उसको औज्ज्वल्य एवं कान्ति

आदि गुणों से अलंकृत किया है तथा उसकी शक्तियों का संवर्धन किया है—और इस प्रकार ब्रजभाषा की पूर्ण समृद्धि का श्रेय निस्सन्देह ही उनको दिया जा सकता है।" माधुर्य है, औज्ज्वल्य है, कान्ति है, समृद्धि है, भाषा फिर भी अव्यवस्थित है! डॉ. नगेन्द्र ने शुक्लजी की दृष्टि को 'वस्तुपरक' कहा है जो "भाषा के स्वरूप की व्यवस्था तथा स्वच्छता पर पड़ती है।" शुक्लजी के लिए भाषा की समृद्धि भावों की समृद्धि से अलग नहीं है। वह रूप को विषयवस्तु से, शब्द को अर्थ से अलग करके नहीं देखते। इसीलिए देव की सरसता वहाँ देखते हैं जहाँ भाव का निर्वाह देखते हैं। डॉ. नगेन्द्र के विवेचन में भाषा का मूल्यांकन भाव-निर्वाह का विचार करते हुए नहीं किया गया।

मतिराम की तरह पद्माकर में भी शुक्लजी को सहज कवि-प्रतिभा के लक्षण मिले हैं। उनकी कल्पना 'स्वाभाविक' है, मूर्त्तिविधान सजीव है, भाषा स्निग्ध और मधुर है और "एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है।" पद्माकर को अनुप्रासों से बड़ा प्रेम था लेकिन "यह प्रवृत्ति इनमें अरुचिकर सीमा तक कुछ विशेष प्रकार के पद्यों ही में मिलेगी।" अन्य रीतिकालीन कवियों से पद्माकर किस बात में भिन्न हैं? इस बात में कि वह अतिरंजित चित्रों द्वारा पाठक को प्रभावित न करना चाहते थे: "ये ऊहा के बल पर कारीगरी के मज़मून बाँधने के प्रयासी कवि न थे, हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा इनमें थी।" पद्माकर की भाषा में जहाँ-जहाँ लाक्षणिकता मिलती है, उसे शुक्लजी ने उनकी 'एक बड़ी भारी विशेषता' कहा है। जिससे मालूम होता है कि शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग को शुक्लजी एक गुण मानते थे।

शुक्लजी ने रीतिकालीन कवियों पर विस्तार से नहीं लिखा जैसे उन्होंने जायसी या तुलसी पर लिखा है। यदि वह लिखते तो किस रीतिकालीन कवि ने संस्कृत से कितनी और कैसी नकल की थी, यह रहस्य वह अवश्य प्रकट कर जाते। फिर भी चलते-चलते जहाँ-तहाँ इस विषय में उन्होंने जो कुछ लिख दिया है, उससे केशव आदि के आचार्यत्व का आतंक काफी दूर हो जाता है। शुक्लजी को आपत्ति केवल हिन्दी के रीतिग्रन्थों पर नहीं है; उन्हें संस्कृत रीतिग्रन्थों पर, जीवन और साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण पर भी आपत्ति है। जायसी की भूमिका में रत्नसेन के क्रोध की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है: "रस की रस्म के विचार से तो उपर्युक्त वर्णन पूरा ठहर जाता है;" साहित्य के आचार्यों ने अपने मुँह आप बड़ाई करने को रौद्ररस का अनुभव कहा है, वह भी मौजूद है लेकिन यह सामग्री होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि "रौद्ररस का परिपाक जायसी में नहीं है।" इसका कारण यह है कि रीतिग्रन्थों के सारे नियमों का पालन करने पर भी रस परिपाक नहीं होता क्योंकि "जायसी का कोमल भावपूर्ण हृदय उग्र वृत्तियों के वर्णन के उपयुक्त नहीं था।" यह रीतिग्रंथों के नियमवाद की सीमा हुई।

शुक्लजी संचारियों की गिनती गिनाने वाले आचार्यों और उनकी नकल करने वाले कवियों का विरोध हिन्दी में ही नहीं, संस्कृत काव्यक्षेत्र में भी करते हैं। वह

तुलसी में छोटे-छोटे संचारी भावों की मार्मिक व्यंजना को सराहते हुए अन्य कवियों में भावों की दीनता का कारण बतलाते हुए लिखते हैं: "उन्होंने ऐसे-ऐसे भावों का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नहीं गया है। संचारियों के भीतर वे गिनाए तो गए नहीं हैं, फिर ध्यान जाता कैसे?" यह रीतिग्रंथों मात्र की सीमा है, केवल हिन्दी रीतिग्रंथों की नहीं। शुक्लजी का आदेश है, रीतिग्रन्थों में गिनाए हुए संचारियों से सन्तोष न करके मानव-जीवन की ओर देखो। रीतिकाल की पराधीनता से साहित्य को मुक्त कराने का यह महत्त्वपूर्ण प्रयास था। तुलसी सभी रीतिकालीन कवियों से महान् हैं क्योंकि "गोस्वामीजी सब भावों को अपने अन्तःकरण में देखने वाले थे, केवल लक्षणग्रन्थों में देखकर उनका सन्निवेश करने वाले नहीं।"

संस्कृत नाटकों में हास्यरस का आलंबन आमतौर से विदूषक होता था। इस तरह हास्य के लिए भी एक निश्चित आलंबन का विधान कर दिया गया था, उसकी स्वाभाविकता और अनेकरूपता सीमित कर दी गई थी। तुलसी के हास्य की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने लिखा है: "इसके आलंबन का स्वरूप भी विदूषकों का-सा कृत्रिम नहीं है।" आलंबनों को सीमित करने और उनका स्वरूप कृत्रिम बनाने का काम हिन्दी कवियों ने कम, संस्कृत कवियों और आचार्यों ने ज्यादा किया था। शुक्लजी संस्कृत साहित्य मे जहाँ-जहाँ सामन्ती रूढ़ियाँ है उनकी सीमाएँ भी बतलाते गए हैं।

शुक्लजी ने काव्य को सुन्दर सूक्तियों तक सीमित रखने का जो विरोध किया है, वह विरोध हिन्दी-उर्दू तक सीमित नहीं है; उन्हें मालूम था कि बिहारी की बहुत-सी सूक्तियाँ संस्कृत से ली हुई हैं। इसी तरह उद्दीपन के लिए कुछ वस्तुओं की गिनती करने की प्रथा संस्कृत से चली आ रही थी, जिसका शुक्लजी ने विरोध किया है। अलंकारों से चमत्कार पैदा करने की पद्धति संस्कृत से चली आ रही थी। अलंकारों का उचित प्रयोग वह चमत्कार के लिए नहीं, भावोत्कर्ष के लिए मानते हैं। उनका विरोध उस तरह के चमत्कार से नहीं है जो भावोत्कर्ष में होता है। कहीं-कहीं शुक्लजी ने स्वयं अलंकार-निरूपण बहुत विस्तार से किया है, वह सम्भवतः अलंकारशास्त्रियों को परास्त करने के लिए। इस तरह के निरूपण ने कहीं-कहीं उनकी आलोचना को तूल दे दिया है और दूसरी आवश्यक बातों की चर्चा कम हो पायी है या छूट गई है। तुलसी के बाह्य-दृश्य-चित्रण पर लिखते हुए शुक्लजी को लगता है कि अलंकारशास्त्री उकता रहे होंगे कि अलंकारों की चर्चा क्यों नहीं हो रही। ऐसे उकताने वालों को लक्ष्य करके कहते हैं: "अलंकारों पर वाह-वाह न कहने पर शायद अलंकार-प्रेमी लोग नाराज हो रहे हों; उनसे अत्यन्त नम्र निवेदन है कि यहाँ विषय दूसरा है।" यानी तुम्हारी समझ से बाहर है, इसलिए जरा सब्र करो! अलंकार-प्रेमियों को लताड़ बताकर शुक्लजी ने उन्हें सावधान कर दिया है कि हैसियत से बाहर न बोला करें।

मूल बात यह है कि शुक्लजी कृत्रिमता और चमत्कारवाद के विरोधी हैं।

विषयवस्तु में कृत्रिमता, रूप में चमत्कार-प्रेम—यह विशेषता साधारणतः सभी दरबारी साहित्य की होती है, चाहे वह संस्कृत और हिन्दी का हो, चाहे फारसी और उर्दू का। शुक्लजी ने कृत्रिमता और चमत्कार-प्रेम की व्यापक आलोचना करके किसी भी भाषा के साहित्य को सामन्ती रूढ़ियों से मुक्त होने का रास्ता बतलाया है। जब तुलसी के लिए वह कहते हैं: "वे चमत्कारवादी नहीं थे," तब वह चमत्कारवादी धारा से साहित्य की वास्तविक रसवादी धारा को अलग करते हैं, वह साहित्य की वास्तविक प्रगतिशील और जनवादी धारा को सामन्ती और पतनशील धारा से अलग करते हैं। बिहारी के 'कनक कनक तें सौ गुनो' और रहीम के कुछ विशेष दोहों की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने जायसी की भूमिका में लिखा है: "ऐसे कथनों में आकर्षित करने वाली वस्तु होती है वर्णन के ढंग का चमत्कार।" यह चमत्कार आकर्षक होता है अवश्य लेकिन वैसे ही जैसे 'कोई तमाशा आकर्षित करता है।' यह चमत्कारवाद सच्चा काव्य नहीं है। चमत्कारवादी और रसवादी काव्य का लक्ष्य एक नहीं होता। शुक्लजी कहते हैं: "मन को इस प्रकार से ऊपर-ही-ऊपर आकर्षित करना, केवल कुतूहल उत्पन्न करना, काव्य का लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य है मन को भिन्न-भिन्न भावों में (केवल आश्चर्य में नहीं, जैसा चमत्कारवादी कहा करते हैं) लीन करना।" यहाँ सामन्ती साहित्य मात्र के चमत्कारवाद की सीमाएँ शुक्लजी ने दिखाई हैं, उससे काव्य के स्वाभाविक विकास में कैसे बाधा पड़ती है, यह स्पष्ट कर दिया है।

काव्य की विषयवस्तु में यह चमत्कारवाद किस तरह की कृत्रिमता पैदा करता है, इसका व्यंग्यपूर्ण वर्णन शुक्लजी ने 'गोस्वामी तुलसीदास' में किया है। लिखा है: "कहीं विरह-ताप से सुलगते हुए शरीर से उठे धुँए के कारण ही आकाश नीला दिखाई पड़ता है। कौवे काले हो जाते हैं। कहीं रक्त के आँसुओं की बूँदें टेसू के फूलों, नई कोंपलों और गुंजा के दानों के रूप में बिखरी दिखाई पड़ती हैं। कहीं जगत् कोडुबाने वाले अश्रु-प्रवाह के खारेपन से समुद्र खारे हो जाते हैं। कहीं भस्मीभूत शरीर की राख का एक-एक कण हवा के साथ उड़ता हुआ प्रिय के चरणों में लिपटना चाहता है। इसी प्रकार कहीं प्रिय का श्वास मलयानिल होकर लगता है, कहीं उसके अंग का स्पर्श कपूर के कर्दम या कमलदलों की खाड़ी में ढकेल देता है।"

नायक-नायिकाओं का यह संसार हिन्दी की ही निधि नहीं है, उससे मिलती-जुलती चीजें संस्कृत में भी हैं और फारसी और उर्दू के शायरों ने तो नाजुकखयाली की कमर ही तोड़ दी है। शुक्लजी की आलोचना इस तरह के सामन्ती भाव-जगत् की कृत्रिमता दिखाकर कवियों और आलोचकों को यथार्थवाद की भूमि पर बढ़ने की प्रेरणा देती है।

रीतिकालीन कवियों की आलोचना में शुक्लजी ने उनकी भाषा पर विशेष ध्यान दिया है। बीसवीं सदी में केशव-देव-बिहारी के समर्थक खड़ी बोली के कवियों पर ऊबड़-खाबड़ भाषा लिखने का आरोप लगाया करते थे। शुक्लजी ने

दिखलाया है कि दरबारी कवि अपना तमाम फुर्सत का वक्त भाषा को व्यवस्थित करने में भी न लगा सके। इतिहास में शुक्लजी ने लिखा है : "यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई जिससे भाषा में बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।" इस व्यवस्था के न होने का एक कारण यह भी है कि यह भारतीय सामन्तवाद का पतनकाल था। छोटे-छोटे राज्य एक-दूसरे से अलग साहित्य के संरक्षक बने हुए जातीय जीवन को एक करने में असमर्थ थे। खसबोयन आदि विकृत शब्दों के प्रयोग से शुक्लजी को विशेष अरुचि है और उन्हें इनका प्रयोग करने वालों की कविता "गँवारों की रचना-सी लगती है।"

कुछ लोग भाषा में कहावतों और मुहावरों के प्रयोग पर बहुत जोर देते हैं। भाषा के स्वाभाविक प्रवाह में कहावतें और मुहावरे अच्छे लगते हैं लेकिन कविता यदि कहावतों और मुहावरों का प्रदर्शन करने के लिए ही लिखी गयी हो, तो यह भी चमत्कारवाद का दूसरा रूप होगा। इसलिए यह धारणा ठीक नहीं कि जिस कवि की भाषा में जितने ही ज्यादा मुहावरे और कहावतें होंगी, वह उतना ही बड़ा कवि होगा। काव्य की उत्कृष्टता के लिए मुहावरों की गिनती गिनाना भी सामन्ती कविता का एक लक्षण है। जायसी की रचना में कहावतों और मुहावरों के स्वाभाविक प्रयोग की चर्चा करते हुए शुक्लजी कहते हैं : "मुहाविरों को अधिक प्राधान्य देने से रूढ़ पद-समूहों में भाषा बँधी-सी रहती है, उसकी शक्तियों का नवीन विकास नहीं हो पाता।"

शुक्लजी ने रीतिकालीन कवियों को आचार्य नही माना, उनके चमत्कारवाद को अवांछनीय बतलाया है, जहाँ वह दरबारी प्रभाव से बचते हुए सरस और स्वाभाविक कविता कर सके हैं, वहाँ उन्होंने उसकी सराहना की है। शुक्लजी का यह दृष्टिकोण रीतिकालीन कविता का सही मूल्यांकन करने के लिए अनिवार्य रूप से ग्राह्य है, इसमें सन्देह नहीं।

साधारण जनता और दरबारों की रुचि में भेद करते हुए शुक्लजी ने जिस तरह रीतिकालीन कविता के मूल्यांकन का सवाल उठाया है, उससे कुछ आलोचक असहमत हैं। डॉ. नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' की भूमिका में द्विवेदीयुग के आलोचकों, छायावाद के प्रतिनिधि कवियों और लेखकों और प्रगतिशील समीक्षकों द्वारा रीतिकाव्य की 'उपेक्षा' पर खेद प्रकट करते हुए अपना शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण यों पेश किया है : "मैंने शुद्ध साहित्यिक (रस) दृष्टि से ही इस कविता की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण और मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है—अन्य बाह्य मूल्यों को प्रयत्नपूर्वक बचाया है। और इस दृष्टि से आप देखेंगे कि यह काव्य न हेय है और न उपेक्षणीय। इस रसात्मक काव्य का अपना विशेष महत्त्व है।"

नगेन्द्रजी के इस वाक्य से एक बात स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि बीसवीं सदी के हिन्दी लेखक ज्यादातर रीतिकालीन परम्परा के विरोधी रहे हैं। इसका

अर्थ यह है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य कुल मिलाकर सामन्त-विरोधी मार्ग पर आगे बढ़ा है। इसीलिए नगेन्द्रजी ने रीतिकाल की उपेक्षा करने वालों में द्विवेदी युग के लेखकों, छायावादियों और प्रगतिवादियों, इन सभी को रखा है। रीतिकाल की इतनी 'उपेक्षा' (अर्थात् विरोध) होने के कारण उसे अब मिश्रबन्धु-पद्धति से हिन्दी-काव्य की सुनहली परम्परा के रूप में रखने का साहस कम लोगों को होगा। इसलिए उसका 'विशेष महत्त्व' दिखाने के लिए 'शुद्ध साहित्यिक' दृष्टि से उसका मूल्य आँकने की बात उठाई जा रही है।

नगेन्द्रजी का दृष्टिकोण उनकी इच्छा रहने पर भी शुद्ध साहित्यिक नहीं रह पाया, यह युग का प्रभाव है। शुक्लजी और उनके बाद की हिन्दी आलोचना में साहित्य के सामाजिक आधार को इतना महत्त्व दिया गया है कि उस प्रभाव से शुद्ध रस-दृष्टिवालों का बच निकलना भी सम्भव नहीं है। नगेन्द्रजी की पुस्तक का पहला अध्याय ही 'रीतिकाव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' है। यह बात दूसरी है कि इस पृष्ठभूमि मे ऐतिहासिक सचाई कितनी है।

डॉ. नगेन्द्र की इतिहास-सम्बन्धी मूल स्थापना यह है कि हिन्दी साहित्य का रीतिकाल मुगल साम्राज्य का ह्रासकाल है और यह मनुष्य के 'ऑलराउण्ड' ह्रास का भी काल है। सबसे पहले राज्य-व्यवस्था का ह्रास हुआ। दक्षिण में 'उपद्रव आरम्भ हो गये थे'। इससे अधिक दुख की बात क्या हो सकती थी कि दक्षिण की कुछ जातियाँ मुगल साम्राज्य से अलग होने का प्रयत्न करने लगी थी? "इधर पंजाब में सिखों का असन्तोष बढ़ रहा था। दक्षिण की दशा और भी खराब थी।" अंग्रेज इतिहासकारों ने सदा यही शिक्षा दी है कि उनके राज्य-विस्तार से पहले यहाँ अव्यवस्था थी; उन्होने आकर यहाँ शान्ति और व्यवस्था कायम की। यहाँ के सामाजिक जीवन में जातीय सगठन की क्षमता रखने वाली जो शक्तियाँ उभर रही थीं, उन्हें अंग्रेज इतिहासकारों ने कम देखा है। उन्ही के प्रभाव से नगेन्द्रजी ने भी लिखा है: "सम्वत् १७६४ के बाद भारतीय इतिहास घोर राजनीतिक पतन और अव्यवस्था का इतिहास है।"

इस पतन और अव्यवस्था से, लगता है, हमें अंग्रेजों ने उबारा। इसका प्रमाण यह है कि १८५७ का स्वाधीनता-संग्राम नगेन्द्रजी को पतन और अव्यवस्था की चरम परिणति मालूम होता है। आँखों पर सहसा विश्वास नहीं होता लेकिन ऊपर के वाक्य के बाद ही नगेन्द्रजी ने लिखा है: "यह अशान्ति और अव्यवस्था क्रमशः बढ़ती ही गई और अन्त में सं. १९१४ (अर्थात् सन् १८५७) के गदर में जाकर इसका पूर्ण पर्यवसान हुआ।"

व्यवस्था के ह्रास के साथ व्यक्तियों का ह्रास हुआ। "व्यक्तित्व का इतना घोर अकाल और किसी युग में नहीं पड़ा।" व्यक्तित्व के अकाल में कविता की फसल चौपट हो गई। हाँ, एक व्यक्तित्व हुआ था औरंगजेब का। लिखा है: "इस युग में उत्तरी भारत ने औरंगजेब को छोड़कर कोई भी प्रथम श्रेणी का व्यक्तित्व पैदा नहीं किया।"

इसके बाद बुद्धि का ह्रास हुआ। न केवल हिन्दुओं का, बल्कि मुसलमानों का भी बौद्धिक पतन हुआ। "इस समय हिन्दुस्तानियों का बौद्धिक धरातल बहुत नीचा हो गया था।" हिन्दुस्तानियों में आप मुसलमानों को शायद न गिनें, इसलिए नगेन्द्रजी ने अलग से भी स्पष्ट कर दिया है: "मुसलमानों का भी बौद्धिक ह्रास बड़े वेग से हो रहा था।"

हिन्दू और मुसलमान संयुक्त मोर्चा बनाकर जब बौद्धिक ह्रास में लगे हुए थे, तब जीवन-दर्शन का भी ह्रास हुआ। ठीक भी है, "जिस युग में राजनीतिक और आर्थिक पराभव अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया हो उस युग का दृष्टिकोण स्वस्थ कैसे हो सकता है?"

तब बचा क्या था? "एक बँधा हुआ रुग्ण जीवन शेष था।" और बुद्धि के नाम पर क्या बचा था? "केवल स्थूल भोग-बुद्धि ही बच रही थी।" आप कहेंगे, इन सब बातों का रीतिकालीन कविता से क्या सम्बन्ध है? सुनिये: "हम कह चुके हैं कि रीति-कविता शुद्ध सामन्तीय वातावरण की सृष्टि है।"

यह सब देखने-सुनने के बाद यह नहीं कहा जा सकता कि नगेन्द्रजी ने रीतिकालीन कविता का विश्लेषण शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से किया है। उन्होंने सामाजिक पृष्ठभूमि का बराबर ध्यान रखा है लेकिन न तो इस पृष्ठभूमि की समझ सही है, न उससे साहित्य का सम्बन्ध सही-सही दिखाया गया है। नगेन्द्रजी ने जिसे उपद्रव, अव्यवस्था आदि कहा है, वह अक्सर स्वाधीनता के लिए जनता के प्रयास भी थे, ये वह भूल गये हैं। आर्थिक पराभव की बात करते हुए वह यहाँ के बड़े-बड़े व्यापारियों और महाजनों को भूल गए हैं जिनमें से कुछ के बूते पर अंग्रेज उधार लेकर यहाँ व्यापार करते थे। वह यहाँ के उद्योग-धन्धों के विकास से बिलकुल बेखबर हैं जिन्हें १९वी सदी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजो ने पाशविक बर्बरता से तहस-नहस किया था। इसलिए नगेन्द्रजी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का इतिहास से बहुत कम सम्बन्ध है।

अपनी कल्पित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से उन्होंने यह नतीजा निकाला है कि यह घोर निराशा का युग था और कामिनी-सेवन के अलावा लोगों के लिए और कोई चारा न था। नगेन्द्रजी के लिए रीतिकालीन कविता "जैसे जीवन का एक विरामस्थल है जहाँ सभी प्रकार की दौड़धूप से श्रान्त होकर मानव नारी की मधुर अंचल-छाया में बैठकर अपने दुःखों और पराभवों को भूल जाना चाहता है।" दुखों और पराभवों की बात कहकर नगेन्द्रजी दरबारी कविता के प्रति सहानुभूति जगाने के लिए अपना पहला तर्क देते हैं। वह मानते हैं कि रीतिकालीन कविता का यह आधार 'सीमित' है, वह 'एकांगी' है, इसलिए आपको उनकी निष्पक्षता में सन्देह न होगा। फिर सिफारिश करते हैं: "घोर निराशा के इस युग में जीवन में किसी-न-किसी प्रकार ये कवि रस-संचार करते रहे; मैं समझता हूँ कम-से-कम इसके लिए तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिए।" तत्कालीन समाज तो अब है नहीं, इसलिए सिफारिश उस तक पहुँच नहीं सकती। नगेन्द्रजी

का समकालीन समाज अभी जरूर बना हुआ है और सिफारिश है भी उसी के लिए।

नगेन्द्रजी का दूसरा संकेत यह है कि इस युग में सामन्तीवर्ग का ही ह्रास नहीं हो रहा था, समस्त जनता का ह्रास हो रहा था। आजकल भी जब शासकवर्ग के सामने भ्रष्टाचार, घूसखोरी आदि की करामातें आती हैं तो वह जनता के नैतिक पतन की दुहाई देता है। नगेन्द्रजी 'जीवन' शब्द का कवित्वपूर्ण प्रयोग करके जनता और उसके सामन्ती शासकों का भेद मिटा देते हैं : "घोर अव्यवस्था से क्षत-विक्षत सामन्तवाद के भग्नावशेष की छाया में त्रस्त और क्षीण जीवन एक बँधी लीक पर पड़ा हुआ यन्त्रवत् चल रहा था।" क्षत-विक्षत था सामन्तवाद; बँधी लीक पर चल रहा था 'जीवन'। इसे 'रीतिकाव्य की भूमिका' के अन्तिम पृष्ठों में उन्होंने और स्पष्ट कर दिया है। रीति-परम्परा के लिए कहते हैं : "चिन्तामणि के समय तक उसे जनरुचि का भी बल प्राप्त हो गया;" "उनके समय से जनरुचि भी उनके साथ हो गई और रीतिग्रन्थों का ताँता बँध गया।" इस तरह दरबारी कवियों के पापों के लिए नगेन्द्रजी ने जनरुचि को उत्तरदायी ठहराया है।

नगेन्द्रजी ने 'रीतिकाव्य का शास्त्रीय आधार' नामक एक लम्बा प्रकरण लिखा है जिसमें ध्वनि, अलंकार, रस आदि के बारे में संस्कृत आचार्यों के मतों का परिचय दिया है। यह परिचय इसीलिए दिया है कि हिन्दी में रीतिकाव्य का आधार संस्कृत में मौजूद था। देव आदि के जिन आधार-ग्रन्थों का नाम शुक्लजी ने लिया था, उन्हें नगेन्द्रजी ने भी दोहराया है। अलंकार, नायिकाभेद आदि के निरूपण की परम्परा काफी पुरानी थी और शुक्लजी के अनुकरण पर—या उनके आतंक के कारण—आचार्यत्व के क्षेत्र में रीतिकालीन कवियों के लिए मौलिकता का दावा नगेन्द्रजी ने भी नहीं किया। रीतिकालीन कविता के लिए उन्होंने ठीक लिखा है कि "वह एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी;" उनकी यह उक्ति भी काफी सारगर्भित है कि "हिन्दी में रीति-परम्परा का आरम्भ तो उसके जन्मकाल से ही मानना पड़ेगा।" (हिन्दी के जन्म से नहीं, हिन्दी साहित्य के जन्म से कहना ज्यादा संगत होगा)। यदि यह सच है तो निराशा, बुद्धि का ह्रास, मुगल साम्राज्य का पतन, उपद्रव और अव्यवस्था—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के नाम पर नगेन्द्रजी ने यह जो भानमती का कुनबा जोड़ा था, उसका क्या हुआ? वास्तव में उस कुनबे की सार्थकता यही थी कि वह नारी की मधुर अंचल-छाया में बैठने की कल्पना को एक आधार दे दे, वरना ह्रासवादी व्याख्या का कोई महत्त्व नहीं है।

और रीतिकालीन कविता में नगेन्द्रजी ने जो यह गुण ढूंढ़ निकाला है कि उसमें "एक मधुर रमणीयता—मन को विश्राम देने का गुण—अवश्य है," वह वर्तमान समाज के मध्यवर्गीय कवियों के लिए ज्यादा सही है, दरबारी वैभव में रहने वाले सामन्तों के चाटुकार कवियों के लिए नहीं। नगेन्द्रजी मानते है कि 'ऑलराउंड' ह्रास के युग में केवल विलास की प्रगति हो रही थी। लिखा है : "अतिशय वैभव का यह युग अतिशय विलास का युग भी था।" एक तरफ नगेन्द्रजी

स्वीकार करते हैं कि यह वैभव और विलास का युग था; दूसरी तरफ यह भी कहते जाते हैं कि दुख और पराभव (आर्थिक पराभव भी) के कारण कवि नारी के आँचल की मधुर छाया तलाश करते थे। इन उलझी हुई बातों का कारण यह है कि दरबारी कवियों के प्रति सहानुभूति जगाने के लिए वह कारण ढूँढ़ रहे हैं और इस 'रिसर्च' में उन्हें अपनी कही हुई बातों के परस्पर सम्बन्ध का ध्यान नहीं रहता।

सामन्ती वातावरण से दरबारी कवियों को ज़रा अलग करके देखने की दबी-सी कोशिश उन्होंने की है। यह मानते हुए कि उन कवियों के लिए नारी भोगवस्तु थी, उन्होंने उनकी शृंगारिकता के लिए दावा किया है: "इसका स्वरूप प्रायः सर्वत्र ही गार्हस्थिक है।" यदि गार्हस्थिक जीवन का स्वरूप वही है जो नायिकाभेदी ग्रन्थों में मिलता है तो दरबारों, अन्तःपुरों और साधारण गृहस्थों के घरों में ज्यादा फर्क न रहा होगा।

नायिकाभेदी कवियों ने गार्हस्थिक जीवन के कैसे चित्र दिये हैं, इसकी मिसाल देव से ही देना ज्यादा ठीक होगा क्योंकि नगेन्द्रजी के अनुसार "देव रस-सिद्ध प्रेमी कवि थे," "प्रेम का उन्हें अत्यन्त गम्भीर अनुभव था।" ये मिसालें भी हम अपनी ओर से न छाँटेंगे वरन् नगेन्द्रजी के कुछ प्रशंसा-वाक्यों को उद्धृत कर देना ही काफी होगा। वह नायिका जो जड़ाऊ किनारी की साड़ी पहने 'डगर-डगर' दिवाली-सी चमकती चली आती है, नगेन्द्रजी के लिए 'नयनोत्सव की ही व्यंजना' करती है। झीना पट ओढ़े हुए सोती हुई एक और नायिका की बाँह की छबि द्वारा व्यंजित "ऐन्द्रियता कितनी मादक है, उसमें वासना की कितनी भीनी मधुगन्ध है!" मृगमद, चोवा, मखतूल और काजल बनाकर श्याम को अपने पास रखने वाली तीसरी नायिका के वर्णन में "सभी इन्द्रियों को जैसे शानदार दावत दी गई है।" और "ओछे उरोजन पै" अनुराग के अंकुर उठने पर "काम की प्राथमिक चेतना का कितना सूक्ष्म-सरस वर्णन है।"

और एक दृश्य देखिए। "रात्रि का समय है, नायक-नायिका पास बैठे हुए हैं—अन्तरंग सखियाँ भी उपस्थित हैं। नायक का मन आज कुछ उतावला हो रहा है।···विनोद कितना प्रच्छन्न और कितना सूक्ष्म मधुर है।"

गार्हस्थिक जीवन का स्वरूप !!

देव की विशेषता यह है: "खण्डिता के चित्र रीतिकाल में देव से अच्छे शायद ही किसी कवि ने अंकित किये हों।" और भी—"वास्तव में समस्त परकीया प्रसंग में ही कवि ने आवेग का बाँध तोड़ दिया है।" और इन परकीया-प्रसंग की कविताओं में नगेन्द्रजी ने क्या-क्या नहीं देखा—'गम्भीर अनुभूति का भार', 'रसानुभूति में एक विशेष तन्मयता', 'भावयोग की अवस्था', 'कविता की मूलात्मा' !!!

परकीया-प्रसंग में आवेग का बाँध तोड़ने वाले कवियों में गार्हस्थिक जीवन का स्वरूप ! देव ने स्वकीया नायिका की चाहे जितनी तारीफ की हो, उनके आवेग का बाँध टूटा है परकीया-प्रसंग ही में। लेकिन सवाल स्वकीया-परकीया का नहीं

है; सवाल है प्रेम का। नगेन्द्रजी ने प्रेम की जिस गम्भीर अनुभूति का दावा किया था, उसे वह देव में नहीं दिखा सके हैं। नयनोत्सव, इन्द्रियों की दावत, काम-चेतना का सरस वर्णन ! देव स्त्रियों को किस निगाह से देखते थे, यह उनकी इस उक्ति से अच्छी तरह प्रकट होता है :

काम अन्धकारी जगत, लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिये डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप ॥
तातैं कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद।
राचैं पागैं प्रेमरस, मेटैं मन को खेद।

कहने-सुनने का भेद है; कामिनी है एक ही। यह उक्ति अपवाद नहीं है, देव और दूसरे रीतिकालीन कवियों की धारणा का सही प्रतिबिम्ब है।

नगेन्द्रजी रीतिकालीन काव्य के उन प्रशंसकों में हैं जिनकी परम्परा निर्मूल करने के लिए शुक्लजी ने जीवन-भर संघर्ष किया था। उन-जैसे आलोचक उस परम्परा का प्रभाव फिर जमाना चाहते हैं जिसे हिन्दी-साहित्य की राष्ट्रीय और जनवादी धारा ने प्रायः निर्मूल कर दिया है। कभी शुद्ध साहित्य के नाम पर, कभी गार्हस्थिक जीवन के नाम पर, कभी प्रेम की अनुभूति के नाम पर सामाजिक जीवन की गतिशील धारा से दूर पड़े हुए ये सज्जन दरबारी कामक्रीड़ा और वैभव के सपनों से मन बहला रहे हैं। नगेन्द्रजी ने एक नया काम किया है, वह यह कि रीतिकालीन कविता के लिए उन्होंने मनोविज्ञान की दुहाई देना भी शुरू किया है ! यह बात पहले के आलोचकों को न सूझी थी।

उन्होंने नायिका-भेद के लिए एक आंशिक मनोवैज्ञानिक आधार ढूंढ़ निकाला है। वयभेद के अनुसार नायिकाओं के विभाजन का आधार क्या है ? इसमें कौन-सा मनोविज्ञान छिपा है ? "वय के साथ-साथ रति-प्रसंग के प्रति नायिका के दृष्टि-कोण में जो परिवर्तन होता जाता है वास्तविक महत्त्व उसका है।" वय के साथ क्या परिवर्तन होता है, किन स्त्रियों में होता है, उसकी छानबीन नगेन्द्रजी ने नहीं की। दरबारी कवियों की नायिकाओं—केवल उपभोग की वस्तुओं—के दृष्टिकोण को ही नगेन्द्रजी ने मनोविज्ञान का आधार माना है। काल या अवस्था के अनुसार नायिकाओं के अन्य प्रकृति-भेद करने के बारे में कहते हैं कि इस तरह से बनाये हुए वर्ग "सर्वथा मौलिक एवं सर्वमान्य हैं।" संस्कृत साहित्य में शृंगार को रसराज या एकमात्र रस मानने वालों के विवेचन को नगेन्द्रजी ने "अत्यन्त गम्भीर और मनोवैज्ञानिक" कहा है; उसके आधार को "काव्यशास्त्र और मीमांसा के सूक्ष्म तर्कों से परिपुष्ट" बतलाया है। परिणाम यह कि रीतिकालीन कविता में काम का स्वाभाविक चित्रण किया गया है : "वासना को उसमें अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी तुष्टि को निश्चल रूप से प्रेम रूप में स्वीकार किया गया है।"

काम का सबसे 'प्राकृतिक रूप' पशुओं में होता है, उनका जीवन शुद्ध जीवन है, उस पर मानव-सभ्यता की, नागरिकता की जरा भी छाप नहीं है। लेकिन अभी तक काम की इस प्राकृतिक अभिव्यक्ति के लिए किसी ने मनोविज्ञान की दुहाई

देना जरूरी न समझा था। यह डॉ. नगेन्द्र की सर्वथा मौलिक सूझ है। आनन्द से अहंकार की उत्पत्ति हुई, अहंकार से अभिमान की, अभिमान से रति की—इस तरह के विवेचन को मनोवैज्ञानिक कहने वालों के लिए संसार में अवैज्ञानिक कुछ भी नहीं है। भारतीय दर्शन का सारतत्व निकालते हुए नगेन्द्रजी कहते हैं कि "भारतीय दर्शन के अनुसार जीव की दो मौलिक प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं—राग और द्वेष।" इनमें द्वेष राग का उल्टा है, इसलिए राग मूल प्रवृत्ति हुई। "फ्रायड का मत बिलकुल यही है।" उसने भी जो दो प्रवृत्तियाँ मानी हैं, वे "वास्तव में राग और द्वेष की ही पर्याय हैं।" और वेद में तो काम की महिमा गायी ही गई है। इसलिए राग, काम, लिबिडो सब एक हैं। काम भावना "जीवन की मूल वृत्ति" है, इसलिए "वह स्वभावतः सबसे अधिक गम्भीर वृत्ति भी है!"

यह तो नगेन्द्रजी के मनोविज्ञान का सैद्धान्तिक रूप हुआ। अब उसकी रोशनी में नायिका-भेद की गहराइयों की थाह वह किस तरह लेते हैं, यह भी देखिए। 'मैन आगि' के मोम-जैसा मन पिघल जाने वाली नायिका के बारे में देव की उक्ति पर नगेन्द्रजी मनोविज्ञान का प्रकाश डालते हुए लिखते हैं: "यह प्रसंग रस-सिक्त तो है ही साथ ही, मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त सटीक है। प्रसिद्ध मनोवेत्ता फ्रायड ने एक ऐसी ही स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि बलात्कार के समय यदि कोई स्त्री परवश होकर आत्मसमर्पण कर देती है तो इसमें उसके सतीत्व पर शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह तो प्रकृति का आग्रह है। ऐसी परिस्थिति में, जहाँ उसका चेतन व्यक्तित्व बलात्कारी का विरोध करता है वहाँ उसका अवचेतन नारीत्व उसकी सहायता करता है। चेतन मन कठोर होकर आक्रान्ता को जितना ही दूर हटाने का प्रयत्न करता है, अवचेतन नारीत्व पिघलता हुआ उसकी ओर बढ़ता जाता है।"

इस 'मनोविज्ञान' के अनुसार कविता रचते, ऐसे गये-गुजरे रीतिकालीन कवि भी नहीं थे। इस 'मनोविज्ञान' के अनुसार साहित्य रचा जाता है अमरीका में जहाँ का सामाजिक जीवन हत्या और बलात्कार में सभी देशों से आगे बढ़ा हुआ है। डॉ. नगेन्द्र-जैसे आलोचक हिन्दी साहित्य की उस तलछट के प्रतिनिधि हैं जो दरबारी संस्कृति की धारा के बह जाने पर कुछ दिमागों में जमा हो गई है। आज उन्हें अपने अनुकूल वातावरण नहीं मिलता; इसलिए वेद-पुराण और आधुनिक मनोविज्ञान की दुहाई देकर वे अपनी समाज-विरोधी प्रवृत्तियों के लिए सफाई तलाश कर रहे हैं। इनका विवेचन अन्तर्विरोधों से भरा पड़ा है क्योंकि—चोर नारि जिमि प्रकट न रोई—ये नायिका-भेदी परम्परा के खत्म हो जाने पर खुलकर आँसू नहीं बहा सकते। वे एक साँस में उसकी ऐन्द्रियता, विलासिता और सीमित भाव-जगत् को भला-बुरा कहते हैं, दूसरी साँस में वासना की निश्छल अभिव्यक्ति, प्रेम की गम्भीर अनुभूति, मनोवैज्ञानिक गहराई—यह सब उसमें ढूंढ़ निकालते हैं। पच्छिम के मनोविज्ञान में जो कुछ घटिया है, पतनशील है, वही इन्हें प्रिय है। शुक्लजी ने भी आधुनिक मनोविज्ञान का अध्ययन किया था लेकिन उन्होंने उसके

पतनशील रुझानों का जोरों से खण्डन किया था। प्रसादजी ने भी प्राचीन साहित्य में काम शब्द के प्रयोग का अध्ययन किया था लेकिन वेद में प्रयुक्त काम शब्द और वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त होने वाले काम में भेद किया था। उस काम के व्यापक अर्थ से ही उन्होंने कामगोत्रजा कामायनी का सम्बन्ध जोड़ा था। लेकिन कहाँ प्रसादजी की कामायनी और कहाँ नगेन्द्रजी की (देव की नहीं) नायिका, जिसका अवचेतन मन बलात्कार के समय आक्रान्ता की ओर सहानुभूति पैदा करता है। नारी पर पाशविक अत्याचारों के लिए कैसी बढ़िया 'मनोवैज्ञानिक' सफाई है!

डॉ. नगेन्द्र-जैसे आलोचक दरबारी साहित्य की हिमायत करते हुए भारतीय दर्शन, भारतीय साहित्यशास्त्र की दुहाई देकर इन्हें भी बदनाम करते हैं। यदि भारतीय दर्शन और साहित्यशास्त्र दरबारों तक सीमित रहे होते तो यह प्रयत्न कुछ सार्थक भी होता। लेकिन शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण की दुहाई देकर जब ये आलोचक सामन्तवाद के पतनकाल के साहित्य का समर्थन करने चलते हैं, तब भारतीय दर्शन और साहित्यशास्त्र की प्रगतिशील परम्परा से वे पहले ही नाता तोड़ लेते हैं। इनके विपरीत शुक्लजी से हम सीखते हैं कि रीतिकालीन काव्य का विवेकपूर्ण विवेचन करते हुए किस तरह भारतीय चिन्तन के प्रगतिशील तत्त्वों को पहचानना चाहिए, किस तरह उन्हें वर्तमान युग में पुष्ट और विकसित करना चाहिए, किस तरह पच्छिम के मनोविज्ञान और साहित्य के पतनशील रुझानों का विरोध करना चाहिए, किस तरह उनके वैज्ञानिक और प्रगतिशील तत्त्वों को अपनाना चाहिए। शुक्लजी के आलोचना-साहित्य का अध्ययन हिन्दी साहित्य को अवांछित प्रभावों से मुक्त करने के लिए अब भी एक महान् साधन है। इसलिए इस तरह के आलोचक कहीं खुलकर, कहीं छिपकर शुक्लजी की मूल स्थापनाओं पर प्रहार करते हैं। इनके प्रहारों से उनका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, यह दूसरी बात है; वास्तव में इससे शुक्लजी का युगान्तरकारी महत्त्व सभी की आँखों के सामने और भी स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी गद्य का विकास और भारतेन्दुकाल

हिन्दी गद्य के विकास का सवाल हिन्दी भाषा के विकास, हिन्दू-उर्दू के परस्पर सम्बन्ध और भाषा के विकास में विभिन्न वर्गों की भूमिका आदि की समस्याओं के साथ जुड़ा हुआ है। शुक्लजी ने हिन्दी भाषा और हिन्दी गद्य के विकास को उस समाज के विकास के साथ देखने-समझने की कोशिश की है जिसकी भाषा हिन्दी है। चाहे भाषा का इतिहास हो चाहे साहित्य का, समाज से अलग करके हम उसे नहीं समझ सकते। शुक्लजी के लिए न तो 'शुद्ध' साहित्यशास्त्र है, न शुद्ध भाषा-शास्त्र। उनके दृष्टिकोण की यह विशेषता उन्हें भाववादी विचारकों से अलग करती है। वह उन विचारकों से भिन्न हैं जो भाषा और साहित्य को सामाजिक गतिविधि से दूर रखकर उनका अध्ययन करते हैं।

हिन्दी भाषा और गद्य के विकास को समझने के लिए शुक्लजी ने बोलचाल की भाषा, जनता के व्यवहार में आनेवाली भाषा पर अपनी निगाह जमाई है। भाषा का मतलब सबसे पहले जनता के कामकाज की भाषा है; साहित्य की भाषा और उस भाषा की विभिन्न शैलियाँ बाद को आती हैं। यह एक सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण शुक्लजी को उन खाई-खंदकों में गिरने से बचाता है जिनमें पड़े हुए हिन्दी और भारत की दूसरी भाषाओं के भी अनेक 'वैज्ञानिक' आसमान के तारे गिन रहे हैं। इस दृष्टिकोण की वजह से शुक्लजी ने भाषा के इतिहास को समझने के लिए उसके पुस्तकों में दर्ज रूप को काफी नहीं माना। जो कुछ किताबों में लिखा हुआ है, वह सभी व्यवहार में भी आता होगा, यह आवश्यक नही है। संस्कृत नाटकों में और स्वतन्त्र रूप से भी जिस 'प्राकृत' का व्यवहार किया गया है, उसे शुक्लजी ने चुपचाप लोक-व्यवहार की भाषा नहीं मान लिया है। जायसी की भूमिका में 'गढ़ी हुई' प्राकृत से जायसी और तुलसी की स्वाभाविक भाषा की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है : "जायसी और तुलसी ने चलती भाषा में रचना

की है, प्राकृत के समान व्याकरण के अनुसार गढ़ी हुई भाषा में नहीं।" (वक्तव्य, प्रथम संस्करण)

प्राकृतों की कुछ विशेषताओं का आधार बोलचाल की भाषाएँ न रही हों, यह बात नहीं है। ये विशेषताएँ—खास कर कुछ उच्चारण की विशेषताएँ—बोलचाल की विशेषताएँ हैं या उनसे बहुत मिलती-जुलती हैं लेकिन किसी भाषा का रूप उसके व्याकरण और मूल शब्द-भण्डार से निश्चित होता है। प्राकृतों का व्याकरण और शब्द-भण्डार इतना मिलता-जुलता है कि उन्हें अनेक भाषाएँ न कहकर एक ही भाषा कहना ज्यादा सही होगा। ऐसे युग में जब यातायात के साधन कम हों, परस्पर व्यवहार और मिलने-जुलने में आज से कहीं ज्यादा कठिनाई हो, भाषाएँ एक-दूसरे से और भी ज्यादा भिन्न होती हैं, थोड़ी-थोड़ी दूरी पर भी भाषा की विभिन्नता आज से ज्यादा होनी चाहिए। यदि ये प्राकृतें अलग-अलग जातियों की भाषाएँ होती तो उनमें आज मराठी, गुजराती, हिन्दी, बंगला आदि में जितनी विभिन्नता है उससे ज्यादा ही होती, कम न होती। लेकिन वास्तव में प्राकृतें एक-दूसरे के इतना निकट हैं जितना मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाएँ तो क्या, एक भाषा की बोलियाँ भी एक-दूसरे के निकट नहीं हैं। इसके सिवा प्राकृत या प्राकृतों का व्याकरण और मूल शब्द-भण्डार प्रायः वही है जो संस्कृत का है। प्राकृत और संस्कृत का भेद मुख्य रूप से उच्चारण का भेद है, व्याकरण और मूल शब्द-भण्डार का नहीं लेकिन भारत या विदेश की किन्हीं दो बहुत ही मिलती-जुलती—भौगोलिक दृष्टि से भी पास-पास बोली जानेवाली भाषाओं को ले लीजिए, यह साफ दिखाई देगा कि उनमें व्याकरण और मूल शब्द-भण्डार की अपनी विशेषताएँ हैं जो उनका अपना भाषागत रूप स्थिर करती हैं। इसलिए शुक्लजी की स्थापना सही मालूम होती है और उस पर विचार करने के बाद संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से एकाधिक मंजिल के बाद हिन्दी का विकास हुआ—यह धारणा छोड़नी होगी। सबसे ज्यादा ध्यान इस बात पर देना होगा कि खड़ी बोली, ब्रज, अवधी आदि का व्याकरण संस्कृत और प्राकृत से कितना मिलता है, उसकी अपनी विशेषताएँ क्या हैं, क्या उनका आधार भी संस्कृत का व्याकरण है, इत्यादि। हो सकता है कि व्याकरण और मूल शब्द-भण्डार पर विचार करने से हिन्दी और भी प्राचीन सिद्ध हो और वह संस्कृत-परिवार की तो मानी जाय लेकिन उसके व्याकरण के रूप, मूल शब्द आदि संस्कृत से निकले हुए न सिद्ध हों। इस विषय पर यहाँ विस्तार से लिखने का अवकाश नहीं है। भाषा सम्बन्धी खोज के लिए यह भी एक संभावित मार्ग है, इतना ही संकेत करना काफी होगा।

अपभ्रंश और खड़ी बोली के सम्बन्ध में शुक्लजी की यह धारणा है कि अपभ्रंश हिन्दी का ही पुराना रूप नहीं है लेकिन हिन्दी के रूप की उसमें झलक जरूर मिलती है। अपने इतिहास में गद्य के विकास के सिलसिले में उन्होंने लिखा है: "भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंश-काव्यों की जो परम्परा चलती रही उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूप की झलक अनेक पद्यों में

मिलती है।" अपभ्रंश और हिन्दी के व्याकरणों की तुलना करने से शुक्लजी की यह स्थापना सही मालूम होती है।

अपभ्रंश बोलचाल की भाषा नहीं थी, इस सम्बन्ध में लिखा है : "इस अपभ्रंश या प्राकृतभाषा हिन्दी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नहीं है जिस समय की इसकी रचनाएँ मिलती हैं।"

भाषा का लिखित साहित्य न मिलने से यह साबित नहीं होता कि वह भाषा बोली भी न जाती थी। लिखित साहित्य के आधार पर ही भाषा की प्राचीनता निश्चित नहीं की जा सकती। सामाजिक विकास के साथ, भाषा नये शब्द लेती है, कुछ शब्द छोड़ती है, समृद्ध होती है लेकिन उसके मूल व्याकरण और बुनियादी शब्द-भण्डार में बहुत ही कम परिवर्तन होता है। व्याकरण और मूल शब्द-भण्डार की विशेषताएँ हजारों साल तक कायम रहती हैं। इसीलिए भाषा सबसे पहले मौखिक व्यवहार का माध्यम है, यह याद रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में शुक्लजी अपने इतिहास में लिखते हैं :

"पर किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही नहीं था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ीबोली अपने देशी रूप में वर्तमान थी और अब भी बनी हुई है।"

खुसरो से पहले हिन्दी में मौखिक साहित्य रचा जाता रहा होगा, इस बारे मे शुक्लजी कहते हैं : "कोई भाषा हो, उसका कुछ-न-कुछ साहित्य अवश्य होता है—चाहे वह लिखित न हो, श्रुति-परम्परा द्वारा ही चला आता हो। अतः खड़ी बोली के भी कुछ गीत, कुछ पद्य, कुछ तुकबन्दियाँ खुसरो के पहले से अवश्य चली आती होंगी।"

साहित्य का माध्यम बनने से पहले कितनी ही शताब्दियों तक भाषा मौखिक रूप में प्रचलित रहती है; लिखित साहित्य ऐसे बहुत-से साधनों पर निर्भर रहता है जो भाषा के लिए नियामक नहीं हैं। इसलिए उसके मौखिक रूप पर ध्यान देते हुए हिन्दी की प्राचीनता पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता है।

भाषा किसी समाज के व्यवहार का माध्यम होती है; उस समाज के सभी लोग—उनका धर्म चाहे अलग-अलग हो—एक ही भाषा काम में लाते हैं। धर्म बदलने से या नये धर्म वालों के आ मिलने से भाषा नहीं बदल जाती। मध्य-कालीन भारत में पच्छिम से जब अनेक जातियों के आक्रमण हुए और उनमें से बहुत लोग यहाँ बस गए, राज्यभाषा फारसी बनी, तब हिन्दी और अन्य भाषाओं पर नये प्रभाव पड़े, उनमें बहुत-से शब्द आये लेकिन भाषाओं के मूल व्याकरण-रूपों में कोई कहने लायक तबदीली न हुई। आक्रमणों से, आक्रान्ता जातियों के घुलमिल जाने से, धर्म बदलने से, नये धर्मवालों के आकर बसने से भाषा के मौलिक रूप में परिवर्तन नहीं होता।

मध्यकालीन भारत में मुसलमानों के हमलों से, उनके यहाँ आकर बसने से—यानी अरबों, तुर्कों, ईरानियों, पठानों आदि के हमलों से या उनके यहाँ बस जाने

से—खड़ीबोली, ब्रज, अवधी आदि में कोई मौलिक परिवर्तन नही हुए, व्याकरण नहीं बदल गया, मूल शब्द-भण्डार दूसरा नहीं हो गया। हमारे यहाँ एक अवैज्ञानिक धारणा प्रचलित रही है कि मुसलमानों और हिन्दुओं के मिलने से एक नयी भाषा का जन्म हो गया, उर्दू मुसलमानों की भाषा है, खड़ीबोली मुसलमानों के आने से फली, इत्यादि। इस तरह की धारणाओं का इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ के हिन्दुओं की कोई एक भाषा नहीं थी, उनकी अनेक भाषाएँ थीं। यह याद दिलाना भी गलत न होगा कि अरब-हमलों से पहले भारत में हिन्दू धर्म के सिवा और दूसरे धर्म भी थे। इन धर्मवालों की भाषाएँ धर्म के हिसाब से अलग-अलग न थीं। अपने-अपने प्रदेशों में बसी हुई जातियाँ अपनी-अपनी भाषाओं का उपयोग करती थीं। किसी भी जाति में एक से ज्यादा धर्म होने पर एक से ज्यादा भाषाएँ न हो जाती थीं। इस तरह अरब, ईरान, तुर्किस्तान, पठान देश आदि के मुसलमानों का धर्म एक होने पर भी उनकी भाषा एक न थी; जैसे आज उनमें भाषागत भेद है, वैसे ही तब भी था और अब से ज्यादा ही था। इसलिए हिन्दुओं और मुसलमानों के मिलने से किसी नयी भाषा का बनना एक निराधार कल्पना है।

खड़ीबोली पहले एक सीमित क्षेत्र की भाषा थी, यह सभी जानते हैं। जैसे अवधी, बुन्देलखण्डी आदि जनपदीय भाषाएँ या बोलियाँ हैं, वैसे ही पहले खड़ी-बोली भी थी। अपने क्षेत्र के गाँवों में वह आज भी बोली जाती है जैसे अपने क्षेत्र के गाँवों में आमतौर से आज भी अवधी बोली जाती है। इस सीमित क्षेत्र से बाहर खड़ीबोली कैसे फैली? क्या यह मुसलमानों की विशेष भाषा थी और मुगल साम्राज्य के साथ उसका प्रसार हुआ?

पूर्वी बंगाल, मलाबार, पच्छिमी पंजाब, कश्मीर के मुसलमानों की भाषा कौन-सी है? क्या खड़ीबोली? नही, उनकी भाषा बंगला, मलयालम, पंजाबी और काश्मीरी है। जिस जातीय प्रदेश के मुसलमान होंगे, वहीं की उनकी भाषा भी होगी। हिन्दी भाषा-क्षेत्र में उनकी बोलचाल की भाषा वही थी जो दूसरों की थी। गाँवों में दूसरे किसानों की तरह देहाती मुसलमान भी अवधी, भोजपुरी, बुन्देलखंडी आदि बोलते थे जैसे कि आज भी बोलते हैं। इसलिए यह समझना कि मुसलमानों या मुगल साम्राज्य के कारण खड़ीबोली फैली, एक भ्रम है। सबसे पहले भारतेन्दु ने खड़ीबोली के प्रसार का सम्बन्ध व्यापार की बढ़ती और शहरों में पछाँह के व्यापारियों के बसने से जोड़ा था। 'हिन्दी भाषा' नाम के निबन्ध में भारतेन्दु ने बनारस शहर के अन्दर प्रचलित अनेक बोलियों का हवाला देने के बाद लिखा था: "जो हो, यह तो सिद्धान्त है कि जो यहाँ के शिष्ट लोग बोलते हैं वह परदेशी भाषा है और यहाँ पश्चिम से आई है।" यह 'परदेसी' भाषा पश्चिमोत्तर देश—यानी हिन्दी-भाषी प्रदेश—में किन व्यापारी जातियों के साथ आयी, इसका जवाब भारतेन्दु के इस वाक्य से मिलता है: "अब पश्चिमोत्तर देश में घर में बोलने की भाषा कौन है यह निश्चय नहीं होता क्योंकि दिल्ली प्रान्त के वा अन्य

नगरों में भी खत्रियों वा पछाही अगरवालों वा और पछाहीं जातियों के अतिरिक्त घर में हिन्दी कोई नहीं बोलते वरंच यहाँ तो कोस-कोस पर भाषा बदलती है।"*

शुक्लजी ने भारतेन्दु के इन सूत्रों को विकसित करते हुए व्यापारी जातियों के फैलने के साथ खड़ीबोली के प्रसार का सम्बन्ध इस तरह जोड़ा है : मुगल साम्राज्य के ह्रास के समय "दिल्ली के आसपास के प्रदेशों की हिन्दू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिए लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगीं।" शुक्लजी ने खड़ीबोली के प्रसार का सम्बन्ध व्यापारी जातियों के साथ ठीक जोड़ा है। लेकिन व्यापारियों में हिन्दू ही नहीं थे, मुसलमान भी थे। व्यापारियों के अलावा यहाँ के साधारण लोगों का एक जनपद में बसने का काम काफी दिन से चला आ रहा था। यही कारण है कि लखनऊ या बनारस के मुसलमान जिन जनपदों से आकर वहाँ बसे थे, वहाँ की बोलियाँ अब भी घरों में बोलते हैं।

व्यापार के समय खड़ीबोली के प्रसार की घटना मुगल-साम्राज्य के पतन से पहले की है। शुक्लजी ने ठीक लिखा है : "अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ीबोली भिन्न-भिन्न प्रदेशों में शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी।" अकबर और जहाँगीर के समय व्यापार की बड़ी-बड़ी मंडियाँ कायम हुईं, शेरशाह और उसके पहले से सामन्ती समाज के ढाँचे में पूँजीवादी सम्बन्ध पनप रहे थे, वे और मजबूत हुए। इसीलिए न सिर्फ दिल्ली और आगरे में, बल्कि 'भिन्न-भिन्न प्रदेशों में' खड़ीबोली शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा बनी। इस स्थापना के विपरीत शुक्लजी खड़ीबोली के गद्य के सिलसिले में जो पहले लिख गए हैं, वह सही नहीं है : "देश के भिन्न-भिन्न भागों में मुसलमानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ीबोली शिष्ट समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी।" न तो खड़ीबोली केवल हिन्दू व्यापारी जातियों के साथ फैली, न मुसलमानों के फैलने और दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ उसका सम्बन्ध है। खड़ीबोली के प्रसार का सम्बन्ध हमारे जातीय निर्माण से है, अवध, ब्रज आदि जनपदों के अलगाव टूटने से है, व्यापार की मण्डियाँ कायम होने से है और इस प्रक्रिया में हिन्दू-मुसलमान दोनों शामिल थे।

शुक्लजी ने बाजारों के साथ खड़ीबोली के प्रसार का सम्बन्ध जोड़ा, यह उनकी सूझबूझ का बहुत बड़ा प्रमाण है। वैज्ञानिक इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि सामन्तवाद के पतनकाल में, पूँजीवाद के उत्थानकाल में, बाजारों के कायम होने के साथ जातियों का निर्माण भी होता है। दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, पटना आदि शहर अकबर और जहाँगीर के समय यहाँ के प्रधान व्यापार केन्द्र थे। वे उद्योगधन्धों और संस्कृति के केन्द्र भी थे। इनकी बढ़ती के साथ खड़ी-

* कवि वचन सुधा, २ अक्तूबर, १८७२।

बोली बाजार की भाषा बनी, वह अपने सीमित क्षेत्र से बाहर आई और पूरब के इलाकों में भी फैली। शुक्लजी ने ठीक लिखा है: "अतः धीरे-धीरे पूरब के शहरों में भी इन पच्छिमी व्यापारियों की प्रधानता हो चली। इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की व्यावहारिक भाषा भी खड़ीबोली हुई।"

शुक्लजी ने खड़ीबोली के प्रसार का जो रहस्य यहाँ प्रकट किया है, वह भाषा-विज्ञान के अनेक विशेषज्ञों के लिए अब भी रहस्य बना हुआ है। अनेक विद्वानों की समझ में नहीं आया कि अवधी, भोजपुरी, मगही आदि से खड़ीबोली का सम्बन्ध क्या है। उनकी समझ में यह नहीं आया कि बड़े शहरों के बाजार की 'व्यावहारिक भाषा' खड़ीबोली हुई। वह कभी-कभी उसे नकली, अव्यावहारिक, पूरब और पच्छिम की लादी हुई भाषा समझते हैं। वह अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि के स्वतन्त्र विकास—विभिन्न जातियों की भाषाओं के रूप में उनके विकास—का सपना देखते हैं। कुछ दूसरे विद्वान् अंग्रेजों के आने से पहले व्यापारी-सम्बन्धों के अस्तित्व और प्रसार को ही नज़रंदाज करते हैं; वे इस सवाल को न तो उठाते हैं और न इसका जवाब देते हैं कि अकबर और जहाँगीर के समय दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस और पटना में व्यापार की मण्डियाँ क्यों कायम हुईं, ये शहर क्यों एशिया के नगरों में भारी व्यापार-केन्द्र बने, इनके बाजार में परस्पर व्यवहार की सामान्य भाषा क्या थी। हिन्दी-भाषी प्रदेश अब भी अनेक सूबों में बँटा हुआ है। हिन्दी-भाषियों को पिछड़ा हुआ और एक-दूसरे से बँटा हुआ रखने के लिए पूरब-पच्छिम के झगड़े खड़े करके और भी विभाजन की योजनाएँ बनाई गई हैं। यह सब देखते हुए शुक्लजी की स्थापनाओं का महत्त्व अच्छी तरह समझ में आ सकता है। उनकी स्थापनाओं के आधार पर ही हम हिन्दी-भाषियों की जातीय एकता, उनके जातीय निर्माण और संगठन और इस काम में खड़ीबोली की ऐतिहासिक भूमिका समझ सकते हैं।

शुक्लजी के सामने खड़ीबोली के प्रसार के ऐतिहासिक कारण स्पष्ट थे, इसलिए वह ग्रियर्सन आदि के इस प्रचार से सहमत न हो सकते थे कि हिन्दी गद्य का विकास—यानी गद्य में खड़ीबोली के हिन्दी रूप का विकास—अंग्रेजों की कृपा का फल था। न वह कुछ अंग्रेज भाषा-वैज्ञानिकों और उनके हिन्दुस्तानी अनुयायियों के इस प्रचार से सहमत हो सकते थे कि उर्दू से प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द निकालकर उनकी जगह संस्कृत के शब्द रखने से हिन्दी गद्य का विकास हुआ है। शुक्लजी ने दिखलाया कि खड़ीबोली के प्रचलित रूप के आधार पर ही हिन्दी गद्य का विकास हुआ। यह साबित करने के लिए उन्होंने लल्लूजी लाल से पहले के हिन्दी गद्य के नमूने दिये और यह भी दिखला दिया कि वे नमूने लल्लूजी लाल के गद्य से ज्यादा साफ-सुथरी हिन्दी की मिसाल थे।

हिन्दी प्रदेश के रहने वालों की जातीय भाषा हिन्दी है। अंग्रेजों के आने से पहले हमारे जातीय निर्माण का सिलसिला काफी आगे बढ़ चुका था; उसी के साथ खड़ीबोली के प्रसार का काम भी काफी आगे बढ़ चुका था। वास्तव में अंग्रेजों ने

ने अपनी भेद-नीति से हमारे जातीय निर्माण मे काफी अड़ंगे लगाये और भाषा के मामले मे दखल देकर हिन्दी-भाषी जाति को तोड़ने की काफी कोशिश की। शुक्लजी अपने इतिहास में लिखते हैं: "मुसलमानों के दिये हुए कृत्रिम रूप से स्वतन्त्र खड़ीबोली का स्वाभाविक देशी रूप भी देश के भिन्न-भिन्न भागों में पछाँह के व्यापारियों आदि के साथ-साथ फैल रहा था। उसके प्रचार और उर्दू-साहित्य के प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं। धीरे-धीरे यही खड़ीबोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय अंग्रेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय भारत में खड़ीबोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी।"

उर्दू के सवाल को हम आगे लेंगे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि शुक्लजी के अनुसार अंग्रेजी राज्य के प्रतिष्ठित होने के समय खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा "हो चुकी थी।" जातीय भाषा के प्रसार के लिए हम अंग्रेजों के देनदार नहीं हैं। इस प्रसार का सम्बन्ध शुक्लजी ने बार-बार व्यापारियों की कार्य-वाही से जोड़ा है।

शुक्लजी ने रामप्रसाद निरंजनी के गद्य की मिसाल देकर कहा है कि "मुंशी सदासुख और लल्लूजी लाल से ६२ वर्ष पहले खड़ी बोली का गद्य अच्छे परिमार्जित रूप में पुस्तकें आदि लिखने में व्यवहृत होता था।" दौलतराम के पद्म पुराण का अनुवाद देखकर शुक्लजी ने फिर लिखा कि यह ग्रंथ जैन समाज के लिए रचा गया था जो "बराबर व्यापार से सम्बन्ध रखने वाला समाज रहा है।" उससे एक और सबूत मिला कि खड़ीबोली 'अधिकांश शिष्ट जनता के बीच' अपने स्वाभाविक रूप में प्रचलित थी। यह सबूत इस दलील को काटता है कि हिन्दी गद्य अंग्रेजों की कृपा से विकसित हुआ। शुक्लजी जोर देकर कहते हैं: "अतः यह कहने की गुंजाइश अब जरा भी नहीं रही कि खड़ीबोली गद्य की परम्परा अंग्रेजों की प्रेरणा से चली।" इंशा की रानी केतकी की कहानी अंग्रेजों के आने से पहले लिखी गयी थी; "अतः यह कि अंग्रेजों की प्रेरणा से ही हिन्दी खड़ीबोली गद्य का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है।" सदासुखलाल ने भी साफ-सुथरी हिन्दी में गद्य लिखा था। वह दिल्ली के रहने वाले थे; उर्दू के भी लेखक थे, इन बातों का प्रभाव उनके गद्य लिखने पर पड़ा। खड़ीबोली दिल्ली वालों के घर की चीज थी; लखनऊ वगैरह में तो वह फैली। लेकिन "मुंशीजी ने यह गद्य न तो किसी अंग्रेज अधिकारी की प्रेरणा से और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखा।" उन्होंने उस भाषा में लिखा जो चारों ओर, पूरबी प्रान्तों में भी, प्रचलित थी।

इस तरह शुक्लजी ने अंग्रेजों के इस प्रचार का तर्क-संगत खण्डन किया कि उन्होंने कलकत्ते में हिन्दी-गद्य का पौधा लगाया था।

बोलचाल की भाषा का सूत्र पकड़े रहने से शुक्लजी इस भ्रम में नहीं पड़े कि हिन्दी-उर्दू दो स्वतन्त्र भाषाएँ हैं। उर्दू खड़ीबोली का ही एक रूप है, यह मान्यता उनकी अनेक उक्तियों से प्रकट होती है। इंशा के सिलसिले में लिखा है:

"खड़ीबोली उर्दू-कविता में पहले से बहुत कुछ मँज चुकी थी जिससे उर्दू वालों के सामने लिखते समय मुहावरे आदि आदि बहुतायत से आया करते थे।" खड़ीबोली मँज चुकी थी, इसका मतलब यह है कि उसका टकसाली रूप बहुत कुछ निश्चित हो चुका था। उर्दू वालों के सामने मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे, इसका मतलब यह है कि वे आमतौर से मुहावरेदार भाषा लिखा करते थे।

यहाँ खड़ीबोली गद्य के विकास की एक और कड़ी पर ध्यान देना चाहिए जो शुक्लजी के समय स्पष्ट न थी। यह कड़ी दकनी हिन्दी की है। इंशा, सदासुख और लल्लूजी लाल ही नहीं, मीर, गालिब और सौदा से भी बहुत पहले दक्खिन के लेखकों ने खड़ीबोली का गद्य विकसित किया था। इसमें ज्यादातर—और खास-तौर से वली से पहले की रचनाओं में—फारसी प्रचलित शब्दों के साथ संस्कृत के प्रचलित शब्द भी मिलते हैं, बहिष्कार की नीति के बदले व्यवहार की भाषा का रूप बहुत कुछ इस दकनी गद्य से मालूम हो सकता है।

भाखा शब्द मुसलमान किस अर्थ में इस्तेमाल करते थे यह बतलाते हुए शुक्लजी ने लिखा है: 'भाखा से खास ब्रज भाषा का अभिप्राय उनका नहीं होता था, जैसे अरबी-फारसी मिली हिन्दी को 'उर्दू' कहते थे उसी प्रकार संस्कृत मिली हिन्दी को 'भाखा'।" अरब-फारसी मिली हिन्दी उर्दू कहलाती थी, संस्कृत मिली भाखा। अन्तर शब्दों के चुनाव में था, न कि व्याकरण के मूल रूपों में। यहाँ भी शुक्लजी की स्थापना से यह जाहिर होता है कि यह बुनियादी तौर से हिन्दी-उर्दू को एक ही भाषा समझते थे।

बालमुकुन्द गुप्त की शैली की तारीफ करते हुए शुक्लजी ने लिखा है: "वे पहले उर्दू के अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिन्दी बहुत चली हुई और फड़कती हुई होती थी।" इसका मतलब यह हुआ कि उर्दू अरबी-फारसी से लदी हुई भाषा ही नहीं है, उसमें बोलचाल की हिन्दी का रूप भी रचा हुआ है जिससे फायदा उठाकर बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी को सँवारा। उर्दू में शब्द-चयन की दो परम्पराएँ हैं, एक परम्परा वह है जो शब्दावली को बोलचाल के नजदीक रखती है, दूसरी परम्परा वह है जो बोलचाल के शब्दों को, खासतौर से हिन्दी के प्रचलित शब्दों को, घटिया समझकर उनके बदले फारसी से उधार लिए हुए माल से अपना रूप सँवारती है। इस दूसरी परम्परा का कारण मुख्य रूप से वह दरबारी संस्कृति और सामन्ती दृष्टिकोण है जो आम जनता की चीजों को घटिया समझता है और उसकी समझ में न आने वाली चीजों को बढ़िया। उर्दू में अरबी-फारसी से बहुत ज्यादा शब्द लेने के कई कारण हैं। अकबर के समय और उसके बहुत पहले भी फारसी यहाँ की राजभाषा थी। सामन्ती युग में जातीय उत्पीड़न का यह भी एक रूप था। फारसी के राजभाषा होने से जितने लोग दरबार की तरफ मुँह किए थे, वे फारसी को श्रेष्ठ और वहाँ की भाषाओं को आमतौर से हीन समझते थे। दूसरा कारण खुद हिन्दी साहित्य के अन्दर सामन्ती प्रभावों का गहरा असर था। हिन्दी के बहुत से कवि कबीर, तुलसी, सूर, जायसी की परम्परा को न बढ़ाकर जहाँ-तहाँ

दरबारों में नायिका-भेद छाँटते रहे। जातीय साहित्य की परम्परा संतों में फली-फूली थी, न कि दरबारी कवियों में। हिन्दी साहित्य के अन्दर सामन्ती असर इस बात में भी देखे जा सकते हैं कि बहुत से लेखक संस्कृत को महान् और हिन्दी को हीन समझते थे, इन सामन्ती प्रभावों के कारण खड़ीबोली का एकमात्र साहित्यिक रूप विकसित न हुआ, अंग्रेजों के बाद भेदभाव और बढ़ा। सन् '५७ में हिन्दुओं और मुसलमानों को अपने खिलाफ मिलकर लड़ते देखकर अंग्रेजों ने इस भेदभाव को और गहरा किया। पुलिस और कचहरी का खास सम्बन्ध उन्होंने मुसलमानों और अरबी से लदी हुई उर्दू से जोड़ा और अलगाव-प्रेमी मुस्लिम नेताओं को बढ़ावा देकर यहाँ का जातीय जीवन छिन्न-भिन्न करते रहे। साम्राज्य-वादियों के जातीय उत्पीड़न का यह भी एक रूप था।

शुक्लजी ने कहीं-कहीं उर्दू मात्र को कृत्रिम कहा है, उसे मुसलमानों की भाषा कहा है, यह ठीक नहीं है। उर्दू लिखने वालों में बहुत से हिन्दू भी थे, यह सभी जानते हैं। उर्दू में बोलचाल का रूप मौजूद है और बहुत अच्छी तरह मौजूद है, यह भी लोग जानते हैं। सदासुखलाल, लल्लूजी लाल, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि हिन्दी गद्य के जन्मदाता उर्दू के अच्छे लेखक थे। उनके उर्दू लेखक होने का असर उनकी हिन्दी पर भी पड़ा और यह असर अच्छा था, यह भी लोग जानते हैं। अगर उर्दू कृत्रिम ही होती तो ये लोग उससे कुछ सीखने लायक क्या सीखते? और इनके बाद भी प्रेमचन्द, पद्मसिंह शर्मा आदि लेखक हिन्दी-उर्दू में समान-रूप से अच्छा क्यों लिखते?

हिन्दी-उर्दू विवाद को इतना जहरीला बना दिया गया है कि बहुत से लोग भूल गए हैं कि ये एक ही बोलचाल की भाषा के दो रूप हैं; इनका तमाम साहित्य —भला-बुरा जो कुछ है—एक ही जाति का साहित्य है। जैसे-जैसे लोग यह समझेंगे कि हिन्दी-उर्दू वाले एक ही प्रदेश के रहनेवाले हैं, एक ही कौम हैं, उनकी बोलचाल की भाषा एक है और इसलिए उनके साहित्य की भाषा को भी एक होना पड़ेगा, वैसे-वैसे यह अलगाव कम होगा। इस अलगाव को उर्दू वाले कम कर सकते हैं, वह मिली-जुली, साहित्यिक भाषा के विकास में बहुत मदद दे सकते हैं अगर उनके सामने तीन-चार बातें स्पष्ट हो जायें। पहली यह कि फारसी यहाँ सैकड़ों बरसों तक जबरन लादी हुई राजभाषा थी, उसके खिलाफ यहाँ के लोगों ने अपनी जातीय भाषाओं और संस्कृति को बचाने के लिए संघर्ष किया। यहाँ की भाषाओं पर फारसी के असर को—और फारसी के जरिए अरबी के असर को—हर जगह हिन्दू-मुस्लिम एकता का सबूत न समझना चाहिए। दूसरी यह कि अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों को कायम रखते हुए सिर्फ उन्ही से शब्द लेने का रुझान कम करना होगा, यह ध्यान रखना होगा कि यहाँ की भाषाएँ जिस तरह संस्कृत से शब्द उधार ले सकती हैं, उसी तरह अरबी से नहीं। दरअसल अगर फारसी से ही शब्द लिए जाते, फारसी के सभी शब्द ले लिए जाते तो भी हिन्दी उन्हें पचा जाती क्योंकि फारसी हमारे भाषा-परिवार के बहुत नजदीक है। कठिनाई पैदा

होती है अरबी शब्दों की वजह से और जितना ही उर्दू में अरबी से नये शब्द लिए जायेंगे, उतना ही वह जनता से दूर होगी। तीसरी यह कि उन्हें आसान उर्दू की परम्परा को आगे बढ़ाना चाहिए, मीर, सौदा, इकबाल की उस सरल उर्दू से, जो कभी-कभी सरल हिन्दी से जरा भी अलग नहीं है, सरल हिन्दी ही है, सीखना चाहिए, उस रीति को आगे बढ़ाना चाहिए। साथ ही मध्यकाल के सन्तों, प्रेममार्गी कवियों की शैली पर गौर करना चाहिए, उन्होंने फारसी से शब्द किस तरह लिए हैं, किस हिसाब से लिए हैं, बोलचाल से कितने शब्द लिए हैं, संस्कृत से कैसे शब्द लेते हैं, यह सब ध्यान में रखना चाहिए। चौथी यह कि वे अपना साहित्य नागरी अक्षरों में हिन्दी जानने वाली जनता तक पहुँचाएँ जिससे उन्हें पता लगे कि वह उसकी समझ में कितना आता है, वह उसे कितना पसन्द करती है, उसमें क्या सुधार चाहती है, वगैरह।

इन चार बातों पर अमल करने से उर्दू के लेखक खड़ीबोली के मिले-जुले एक ही साहित्यिक रूप को विकसित करने में मदद दे सकते है। ऐसा वे करेंगे, एक हद तक कर भी रहे हैं क्योंकि यह हमारे सामाजिक विकास ही की माँग है जिससे आँख नही चुराई जा सकती।

इसके साथ ही हिन्दी लेखकों के भी कुछ कर्तव्य हैं जिन पर ध्यान न देने से वह हिन्दी का अहित करेंगे। पहली बात यह कि उर्दू को कृत्रिम कहकर टाल देने के बदले उससे कुछ सीखने का दृष्टिकोण अपनाना ज्यादा अच्छा है। आज के हिन्दी लेखक भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त और प्रेमचन्द से कुछ बढ़िया हिन्दी नही लिखते। अगर उन जैसे महान् लेखक भी उर्दू से कुछ सीख सकते थे तो हम क्यों नही सीख सकते? दूसरी बात यह कि हिन्दी के प्राचीन साहित्य की विरासत को अपनी चीज माननेवाले सूर, जायसी और तुलसी की परम्परा से दूर हटते जा रहे हैं। हम संस्कृत शब्दों को उस तरह भाषा में नहीं खपा पाते जिस तरह तुलसी और सूर ने, या देव और मतिराम ने भी, खपाया था। हम तत्सम रूप को पण्डित समझते हैं, तद्भव रूप को अछूत। नतीजा यह है कि हम हिन्दी की अपनी विशेषताएँ भूलकर उसे संस्कृत के रास्ते ठेलना चाहते हैं। तीसरी बात यह कि संस्कृत से हमें भरसक ऐसे शब्द लेने या बनाने चाहिए जो हमारे उच्चारण के अनुकूल हों। अगर बोलने में कठिनाई हुई तो संस्कृत शब्दों की जगह फारसी, अंग्रेजी, किसी भी भाषा के शब्द चल निकलेंगे, वे बोलने में कठिन शब्द रखे रहेंगे। चौथी बात यह कि अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार न करके हमें उन्हें हिन्दी की सम्पत्ति समझकर उन्हें काम में लाना चाहिए; इससे भाषा का रूप नहीं बिगड़ता वरन् भाषा में नयी शक्ति पैदा होती है।

देश के बँटवारे के बाद काफी लोगों ने पारिभाषिक शब्दों के नाम पर सारे देश में समझे जाने लायक राष्ट्रभाषा गढ़ने के नाम पर हिंदी का रूप काफी बिगाड़ा है लेकिन उनकी ये तमाम कोशिशे बेकार जाएँगी क्योंकि हिन्दी वह भाषा है जो एक ओर संस्कृत, दूसरी ओर फारसी और तीसरी ओर अंग्रेजी, इन तीनों के

मिले-जुले दबाव को ठेलती हुई खपर उठी है। संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी का सहारा एक बात है, दबाव दूसरी बात है। दबाव बेकार होगा; भाषा अपने जातीय रूप के अनुसार ही फले-फूलेगी।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का उत्थानकाल हिन्दी-भाषी जनता के जातीय और जनवादी साहित्य का भी उत्थानकाल है। इसी युग में हिन्दी साहित्य को सामन्ती प्रभावों से मुक्त करके राष्ट्रीय स्वाधीनता, जातीय एकता और जनता की सेवा के नये रास्ते पर ले चलने की कोशिशें की गईं। सामन्ती प्रभाव एकाएक खत्म नहीं हो गये; खासकर कविता में वह काफी दिन तक जमे रहे। लेकिन गद्य में रूढ़िवाद का असर कम हुआ और जल्दी कम हुआ। गद्य का यह विकास आसानी से, बिना संघर्ष के नहीं हुआ; रूढ़िवादी विचारधारा गद्य का रूढ़िवादी रूप भी चाहती थी, प्रगतिशील विचारधारा गद्य के रूप को स्वाभाविक बोलचाल के ज्यादा नजदीक लाना चाहती थी। साहित्य की विषय-वस्तु ने उसके रूप पर असर डाला; रूप की तुलना में विषय-वस्तु ने अपनी नियामक भूमिका पूरी की। शुक्लजी ने इस नयी विषय-वस्तु का समर्थन किया, उसके लोकप्रिय रूप का समर्थन किया।

हिन्दी गद्य लिखने वालों के सामने दो मुख्य समस्याएँ थीं, एक तो यह कि ब्रज और अवधी के व्याकरण-रूपों से बचाकर उसका टकसाली रूप कायम किया जाय, दूसरी यह कि रूढ़िवादी अलंकारवाद से बचाकर उसे सहज और स्वाभाविक बनाया जाय। शुक्लजी ने दिखलाया है कि ब्रज, अवध आदि में खड़ीबोली का प्रसार तो हुआ लेकिन उसका एक-सा ही रूप हर जगह न बोला जाता था। "काशी पूरब में है पर यहीं के पण्डित सैकड़ों वर्षों से 'होयगा', 'आवता है', 'इस करकें' आदि बोलते चले आते हैं।" इससे पूरब में खड़ीबोली का सहज प्रसार साबित हुआ, साथ ही यह भी साबित हुआ कि यह प्रसार स्थानीय प्रभावों के कारण हर जगह एक-सी टकसाली (स्टैंडर्ड) भाषा को लेकर न हुआ था। लल्लूजी लाल की भाषा में एक तरफ तो ब्रज के प्रयोग हैं, ब्रजभाषा के व्याकरण के कुछ रूप हैं, दूसरी तरफ अलंकारवाद का भी जोर है। एक तरफ मुख जाय, सिर नाय, सोई, भई आदि जैसे प्रयोग हैं, दूसरी तरफ 'भाषा की सजावट' के लिए 'विरामों पर तुकबन्दी', जहाँ-तहाँ अनुप्रास भी हैं, वाक्य बड़े-बड़े हैं जिससे कि "लल्लूजी लाल का काव्याभास गद्य भक्तों की कथावार्ता के काम का ही अधिकतर है; न नित्य-व्यवहार के अनुकूल है, न संबद्ध विचारधारा के योग्य।" काव्याभास गद्य कहकर शुक्लजी ने लल्लूजी लाल की सारी कमजोरियाँ जाहिर कर दी हैं। यह दोष लल्लूजी लाल ही में नहीं, इंशा में भी था। वह भी होने लगी, रोने लगी, बरसने लगे, तरसने लगे के अनुप्रास बाँधा करते थे। इस तरह के चमत्कार को दूर करके ही व्यवहार भी भाषा का साहित्यिक रूप निखर सकता था। लल्लूजी लाल की भाषा में अलंकारवाद होते हुए भी मिठास थी, यह मानना होगा। ब्रजभाषा के व्याकरण-रूप लेना गलत था, लेकिन शब्दचयन ब्रजभाषा जैसा होने से उसमें

मिठास भी है। इंशा के लिए तो शुक्लजी ने खुद ही लिखा है कि कुछ विचित्रताओं के होते हुए भी "इंशा ने जगह-जगह बड़ी प्यारी घरेलू ठेठ भाषा का व्यवहार किया है।"

भारतेन्दु युग के लेखकों ने आमतौर से जिस शैली का विरोध किया उसके एक प्रतिनिधि उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन थे। इनके लेखों में "गद्य काव्य के पुराने ढंग की झलक, रंगीन इबारत की चमक-दमक बहुत कुछ मिलती है। बहुत-से वाक्यखंडों की लड़ियों से गुँथे हुए उनके वाक्य अत्यंत लम्बे होते हैं—इतने लम्बे कि उनका अन्वय कठिन होता था। पद-विन्यास मे तथा कहीं-कहीं वाक्य के बीच विराम-स्थलों पर भी अनुप्रास देख इंशा और लल्लूजी लाल का स्मरण होता है। इस दृष्टि से देखें तो प्रेमघन में पुरानी परम्परा का निर्वाह अधिक दिखाई पड़ता है।" यहाँ बहुत संक्षेप में शुक्लजी ने रूढ़िवादी शैली के दोष बतला दिये हैं। नया साहित्य अयथार्थवाद की ओर बढ़ रहा था, इसलिए लम्बे वाक्य, बीच-बीच में अनुप्रास और इबारत की चमक-दमक इस यथार्थवादी रुझान के विरुद्ध पड़ते थे। शुक्लजी ने आगे भी लिखा है कि पाठक कभी-कभी प्रेमघन के "एक-एक डेढ़-डेढ़ कालम के लम्बे वाक्य में उलझा रह जाता था।"

इस चमत्कारवाद का सम्बन्ध संस्कृत की गद्य-शैली से भी था। शुक्लजी ने जिस निर्भीकता से संस्कृत के चमत्कारवादी साहित्यशास्त्रियों का विरोध किया था, उसी निर्भीकता से उन्होंने संस्कृत गद्य के चमत्कारवादियों की सीमाएँ भी बतलाईं। ऐसे युग में और वह भी काशी में, जब देववाणी का हर लेखक हिन्दी साहित्यकारों से श्रेष्ठ और आलोचना से परे समझा जाता था,—शुक्लजी ने बाण और दंडी की गद्य-शैली के दोष दिखाकर साहस का ही काम किया। उन्होंने अपने इतिहास में गोविन्दनारायण मिश्र की रूढ़िवादी शैली का विवेचन करते हुए लिखा: "गद्य के सम्बन्ध में इनकी धारणा प्राचीनों के गद्य-काव्य की ही थी। लिखते समय बाण और दंडी इनके ध्यान मे रहा करते थे। पर यह प्रसिद्ध बात है कि संस्कृत साहित्य में गद्य का वैसा विकास नही हुआ। बाण और दंडी का गद्य-काव्य अलंकार की छटा दिखाने वाला गद्य था, विचारों को उत्तेजना देने वाला, भाषा की शक्ति का प्रसार करने वाला गद्य नहीं।" शुक्लजी ने बाण और दंडी की शैली की सही आलोचना की है लेकिन संस्कृत में इस शैली से भिन्न और तरह का गद्य भी है, यह भी उन्हें लिखना चाहिए था। लेकिन उस दूसरी तरह के गद्य का असर गोविन्दनारायण मिश्र जैसे लेखकों पर न पड़ रहा था। सामन्ती प्रभावों के कारण वे संस्कृत के उस गद्य से प्रेम करते थे जो सामन्ती संस्कृति का अंग था या उससे प्रभावित था। शुक्लजी की यह चेतावनी बिलकुल ठीक है: "गद्यकाव्य की पुरानी रूढ़ि के अनुसरण से शक्तिशाली गद्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।"

शुक्लजी ने हिन्दी को संस्कृत के शब्द-जाल से लादने का तीव्र विरोध किया है। उन्होंने गोविन्दनारायण मिश्र जैसे लेखकों के समास-अनुप्रास से गुँथे शब्द-

'गुच्छों' पर व्यंग्य किया है। शुक्लजी ने लिखा है : "जहाँ वे कुछ विचार उपस्थित करते हैं वहाँ भी पदच्छटा ही ऊपर दिखाई पड़ती है।" एक तो बेचारों के यहाँ वैसे ही विचारों का टोटा है, उस पर कहीं से दो-चार मिल भी गए तो पदच्छटा उन पर हावी रहती है। इसलिए इनका गद्य 'एक क्रीड़ा कौतुक मात्र' है। गोविन्द-नारायण मिश्र को उपसर्ग जोड़ने का भी मर्ज था; इस तरह "मिश्रजी-से लेखकों ने बिना किसी जरूरत के उपसर्गों का पुछल्ला जोड़ जनता के इन जाने-बूझे शब्दों को भी" समुचित, समुत्पन्न, समुच्चरित कर दिया। सौकर्य्य, सामीप्य' आर्जव आदि शब्द, शुक्लजी के अनुसार, ऐसे ही लोगों की प्रवृत्ति से लाए जाने लगे। गोविन्दनारायण मिश्र में एक ऐसी प्रवृत्ति देखकर जो हिन्दी का रूप बिगाड़ रही थी, शुक्लजी ने उनकी आलोचना की थी। भारतेन्दु-युग के प्रमुख लेखकों की गद्य-शैली ऐसे ही लोगों का विरोध करती हुई विकसित हुई थी। यह प्रवृत्ति अभी खत्म नहीं हुई। हिन्दी के कुछ आलोचकों में वह खासतौर से पाई जाती है। उप-सर्गों से उन्हें खास प्रेम है। यद्यपि वे ज्यादातर अंग्रेजी किताबों का अनुवाद ही करते हैं, फिर भी अपनी मौलिकता की धाक जमाने के लिए समुचित समुच्चरित-वादी शब्दच्छटा के नीचे अपनी विचार-छटा छिपाए रहते हैं।

भारतेन्दु ने जैसी सरस हिन्दी लिखी, वैसी बहुत कम लोग लिख पाते हैं, इसका एक कारण यह भी है कि उन्होंने हिन्दी के सहज रूप को पहचाना था और उसे संस्कृत के साँचे में ढालने की कोशिश न की थी। शुक्लजी ने संस्कृत-गद्य से प्रभावित हिन्दी लेखकों की शैली से भारतेन्दु की गद्य-शैली का अलगाव दिखलाते हुए लिखा है : "एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है। वस्तुवर्णन या दृश्य-वर्णन में विषयानुकूल मधुर या कठोर वर्ण वाले संस्कृत शब्दों की योजना की, जो प्रायः समस्त और सानुप्रास होती है, चाल-सी चली आई है। भारतेन्दु में यह प्रवृत्ति हम सामान्यतः नहीं पाते।" शुक्लजी ने यहाँ संस्कृत शब्दों के अनचाहे प्रयोगों की ओर खासतौर से ध्यान दिलाया है। हिन्दी का अपना रूप है, अपना स्वभाव है संस्कृत के ढाँचे से उसका स्वतन्त्र विकास हुआ है, यह बात भूलकर हिन्दी का विकास नहीं किया जा सकता।

हिन्दी और संस्कृत के सम्बन्ध की ओर शुक्लजी ने बार-बार ध्यान दिलाया है। एक ओर जहाँ उन्होंने यह कहा है कि हिन्दी संस्कृत-परिवार की ही भाषा है, अरबी-फारसी के मुकाबले उसका संस्कृत से शब्द लेना स्वाभाविक है, वहाँ उन्होंने संस्कृत से अलग हिन्दी की अपनी प्रकृति के विकास पर भी जोर दिया है। भारतेन्दु युग के लेखकों में जो सरसता मिलती है, उनका गद्य जो इतना स्वाभाविक और सजीव लगता है, उसका कारण यह है : "हरिश्चन्द्र-काल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। संस्कृत के ऐसे ही शब्दों और रूपों का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृताभ्यासी ही परिचित होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं, उनका प्रयोग वे बहुत औचट में पड़कर ही करते

थे। उनकी लिखावट में न 'उड्डीयमान' और 'अवसाद' ऐसे शब्द मिलते हैं, न औदार्य्य' 'सौकार्य्य', और 'मौर्ख्य' ऐसे रूप।"

भारतेन्दु और उनके युग के लेखकों की इस नीति का फल यह हुआ कि "उस काल में हिन्दी का शुद्ध साहित्योपयोगी रूप ही नहीं, व्यवहारोपयोगी रूप भी निखरा।" इधर हमारे शब्दच्छटावादी आलोचकों का यह हाल है कि उनकी लिखी हुई भाषा न तो संस्कृत है, न हिन्दी, न वह साहित्य के काम की है, न व्यवहार की। इसका कारण यह है कि इनका दिमाग सोचने के नाम पर कुछ अंग्रेजी वाक्यों का हिन्दी रूपान्तर करता है, लिखने के नाम पर वे ऐसे शब्द गढ़ते हैं जो हिन्दी में तो अजनबी हैं ही, संस्कृत में भी उनका वह अर्थ न होगा जो इन बुद्धिमानों के दिमाग में है। जिन हिन्दी लेखकों से इन्हे कुछ सीखना चाहिए, उन्हें ये उथला, सतही, एकागी, 'गाम्भीर्य्य शून्य' समझते हैं। इसलिए हिन्दी शब्दसागर की थाह लेने जाकर इनके हाथ 'मौर्ख्य' ही लग पाता है।

शुक्लजी ने भारतेन्दु के गद्य की दो शैलियाँ बतलाई हैं। पहली भावावेश की, दूसरी तथ्य-निरूपण की। पहली तरह की शैली में वाक्य छोटे होते हैं, "पदावली सरस बोलचाल की होती है" जिसमें फारसी-अरबी के प्रचलित शब्द भी आ जाते हैं। उनकी दूसरी शैली में कभी-कभी "संस्कृत पदावली का कुछ अधिक समावेश होता है।" इस दूसरी शैली की मिसाल देने के बाद शुक्लजी कहते हैं : "पर यह भारतेन्दु की असली भाषा नही है।" उन्होने उनकी असली भाषा का रूप उस शैली में ही माना है जिसमें संस्कृत पदावली का अधिक समावेश नहीं है। वास्तव में इसी तरह की हिन्दी ने हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु बनाया था।

भारतेन्दु ने भाषा का रूप काफी व्यवस्थित किया। उन्होंने सम्बद्ध वाक्य-रचना में कौशल दिखलाया; शब्दों के रूप भी प्राय: एक-से रखे। उन्होंने भाषा को सदासुखलाल के 'पंडिताऊपन', लल्लूजी लाल के 'ब्रजभाषापन' और सदल मिश्र के 'पूरबीपन' से मुक्त किया। भारतेन्दु ने हिन्दी के उस टकसाली रूप का विकास किया जिसे हम आज अपनी जातीय भाषा समझते हैं। यह बात भारतेन्दु-युग के सभी लेखकों के लिए नही कही जा सकती। बालकृष्ण भट्ट के गद्य में "पूरबी प्रयोग बराबर मिलते हैं।" प्रतापनारायण मिश्र "पूरबीपन की परवा न करके अपने बैसवारे की ग्राम्य कहावतें और शब्द भी कभी-कभी बेधड़क रख दिया करते थे।" भारतेन्दु में भी बनारस के कुछ खास प्रयोग मिलते हैं; स्थानीय प्रयोगों से उनका गद्य भी एकदम खाली नहीं है। लेकिन भारतेन्दु-युग आधुनिक हिन्दी गद्य के निर्माण का युग था। उसका महत्त्व भाषा को व्यवस्थित करने में उतना नहीं है जितना उसे बोलचाल के नजदीक रखते हुए साहित्यिक रूप देने में। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के पूरबीपन पर हजारों शुद्ध हिन्दी लिखने वालों का टकसालीपन निछावर है। भारतेन्दु युग के महान् लेखकों का गद्य अवध और ब्रज की धरती के बहुत ही नजदीक है; धूल भरे हीरे की तरह वह गद्य स्थानीयता के भीतर दमकता है। ये लेखक गद्य के लिए गद्य न लिख रहे थे, न भाषा सुधार

के लिए भाषा सुधार रहे थे। भाषा उनके लिए एक साधन थी, साध्य नहीं। वह हिन्दी गद्य के रूप में सामाजिक उत्थान का एक ऐसा प्रबल शस्त्र गढ़ रहे थे जो बिखरे हुए हिन्दी-भाषियों को एक करे और उन्हें स्वाधीनता, शिक्षा और अपने जनवादी अधिकारों के लिए लड़ना सिखाए। यदि आज के बहुत से पण्डितों की तरह वे हिन्दी को नए शब्दों से 'समृद्ध' करने पर तुल जाते तो दस-पाँच कोश वे भी बना डालते लेकिन वह साहित्य न रच पाते जो सदियों तक हिन्दी के विकास-पथ को आलोकित करता रहे।

भारतेन्दु ने भाषा को संवारने, उसका रूप स्थिर करने में बहुत बड़ा काम किया, लेकिन "इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया।" यही उनका मुख्य काम था; और सब काम इसके मातहत थे। साहित्य को नया मार्ग दिखाने के कारण वह साहित्य के रूप में—उसकी भाषा, शैली आदि—को भी निखार सके, उसे यथार्थवादी रुझान के अनुकूल स्वाभाविक और सरस बना सके। लोगों मे नई शिक्षा का प्रचार हो रहा था, "उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था।" उस युग के लेखकों ने इस फासले को दूर किया। साहित्य समाज के पीछे घिसटता हुआ नहीं चलता; वह जनता के आगे बढ़े हुए विचारों और भावों का प्रतिनिधि होता है। तभी वह जनता को संगठित करके, उसमें नया मनोबल जगाकर उसे नये कर्म-मार्ग पर बढ़ा सकता है। भारतेन्दु मे पहले "भक्ति, शृंगार आदि की पुराने ढंग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं।" शृंगार का मतलब था, नायिका-भेद। वह कभी की पुरानी पड़ गई थी। लेकिन भक्ति साहित्य, जिसे शुक्लजी ने वास्तविक जगत् के इतना निकट बतलाया था, वह भी इस युग की आवश्यकताओं के लिए काफी न थी। साहित्य युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर रचा जाना चाहिए; शाश्वत के नाम पर वह सामयिकता को तिरस्कार की निगाह से नहीं देख सकता। भारतेन्दु से पहले की हिन्दी—खड़ीबोली—का साहित्य इस विचार से पुराना पड़ चुका था; "देशकाल के अनुकूल साहित्य निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नही हुआ था।" बंगला में ऐसे नाटक और उपन्यास रचे जाने लगे थे "जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिम्ब होने लगा था। पर हिन्दी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया।"

यह था साहित्य में युगान्तर। इस तरह का युगान्तर कभी शुद्ध साहित्यिक नहीं होता। वह जीवन और साहित्य को जोड़ने वाला होता है, उनके विच्छेद को दूर करने वाला होता है। शुक्लजी के विरोधी आलोचक उन्हें एकांगी समाज-शास्त्री, 'आऊट ऑफ डेट' समझने वाले विद्वान् आज के साहित्य के लिए यह सवाल नहीं उठाते कि उसका हमारे सामाजिक जीवन से क्या सम्बन्ध है, वह

जीवन के पीछे घिसट रहा है, उससे तटस्थ, पुरानी रूढ़ियों से चिपका हुआ है या आगे बढ़े हुए विचारों और भावों का प्रतिनिधि बन रहा है। वे यह सवाल इसलिए नहीं उठाते कि वे खुद सामाजिक जीवन के पीछे घिसट रहे हैं, उससे तटस्थ हैं, आगे बढ़े हुए विचारों और भावों से सशंक हैं, रूढ़ियों को हृदय से चिपकाए हुए हैं और उनमें न तो हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परम्परा को समझने की बुद्धि है, न उसे आगे बढ़ाने की शक्ति।

"नूतन और पुरातन का वह संघर्ष काल था।" भारतेन्दु जैसे लेखकों ने इस संघर्ष में तटस्थ न रहकर नई और प्रगतिशील विचारधारा को आगे बढ़ाया, यह उनका युगान्तरकारी काम था। यह विचारधारा राष्ट्रीय स्वाधीनता, जातीय एकता और जनवादी संस्कृति के उत्थान की विचारधारा थी, वह मनुष्य को अपनी शक्ति का भरोसा दिलाने वाली विचारधारा थी, वह ईश्वर के भरोसे हाथ पर हाथ रखकर बैठने का उपदेश देने वाली विचारधारा न थी। भारतेन्दु-युग के साहित्य की मौलिकता इस बात में थी कि वह जनता के लिए रचा जा रहा था, दरबारों में सामन्तों और उनके मुसाहबों के मनोरंजन के लिए नहीं। उस पर सामन्ती प्रभाव भी थे, साम्राज्यवाद और सामन्तवाद से समझौता करने के रुझान भी उसमें हैं लेकिन वे उसके मुख्य रुझान नहीं हैं, उसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ साम्राज्य-विरोधी और सामन्तविरोधी हैं, रीतिकालीन परम्परा के विरुद्ध देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना की समर्थक हैं। भारतेन्दु अपने युग के अकेले लेखक न थे जिन्होंने नयी विचारधारा को अपनाया। उनके कुछ समकालीन लेखक अपनी विचारधारा में उनसे भी आगे बढ़े हुए हुए थे। ऐसे ही लेखकों में बालकृष्ण भट्ट थे। उनके लिए शुक्लजी ने लिखा है: "समय के प्रतिकूल पुराने बद्धमूल विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति के अनुकूल नये विचारों को जमाने में उनकी लेखनी सदा तत्पर रहती थी।" रूढ़िवादी विचारों को निर्मूल करना, समय के अनुकूल नये विचारों को जमाना—युग-निर्माता साहित्यकारों का यही कर्तव्य होता है। इस कर्तव्य के अनुकूल ही "भाषा उनकी [यानी बालकृष्ण भट्ट की] चरपरी, तीखी और चमत्कारपूर्ण होती थी।"

शुक्लजी ने भारतेन्दुकालीन लेखकों के 'सामान्य गुण' उनकी सजीवता या जिन्दादिली का जिक्र किया है। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह से भिन्न हरिश्चन्द्र-मंडल के लेखकों में उन्होंने चपलता, स्वच्छता और उमंग की तारीफ की है। इसका कारण यह नहीं था कि इन लेखकों ने मुसीबतों का सामना नहीं किया; मुसीबतें काफी थीं, व्यक्तिगत और समाजगत, दोनों तरह की। लेकिन शुक्लजी के शब्दों में "सबसे बड़ी बात स्मरण रखने की यह है कि उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक सम्बन्ध भारतीय जीवन के विविध रूपों के साथ पूरा-पूरा बना था।" उनके साहित्य की जड़ें जनजीवन में गहरे पैठी हुई थीं, इसीलिए मुसीबतों और कठिनाइयों के बावजूद वे उमंग और जिन्दादिली में ऐसा साहित्य रच सके जो मानवशक्ति में आस्था रखता है, जो देश के उज्ज्वल भविष्य में आशा

पैदा करता है।

हिन्दी के अनेक आलोचकों, रिसर्च-स्कालरों और डाक्टरों ने भारतेन्दु-युग के नवजागरण का श्रेय अंग्रेजों को दिया है, अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी राज को दिया है। 'भारतेन्दु की विचारधारा' नाम की एक पुस्तक के लेखक ने यहाँ तक लिखा है: "जिस समय भारतवर्ष अन्धकार के गर्त में डूबा हुआ था सौभाग्य से उस समय उसका पश्चिम की एक जीवित जाति के साथ सम्पर्क हुआ।" इस तरह का सम्पर्क 19वीं सदी के शुरू से ही 'ऐंग्लो-सैक्शन सभ्यता' एशिया के देशों से कायम कर रही थी और यह सम्पर्क "समस्त पूर्वी संसार को स्पंदित कर रहा था।" इस सम्पर्क में १८५७ के भारतीय स्वाधीनता-संग्राम से बाधा पड़ी; बाधा ही नहीं, लेखक के शब्दों में यह घटना "भविष्य में अंग्रेजों और भारतवासियों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए घातक सिद्ध हुई।" डलहौजी के सुर में सुर मिलाकर ये लेखक रेल, तार, डाक का गुणगान करते हैं; अंग्रेजों ने यह सब अपने हित के लिए किया और यहाँ के उद्योगधन्धों को तबाह किया, यह भूल जाते हैं। योरप के अनेक उप-निवेशवादियों में 'ऐंग्लो-सैक्सन सभ्यता की संदेशवाहक ब्रिटिश जाति' इन्हें और भी प्रातःस्मरणीय मालूम होती है। "इस दृष्टि से विश्व-इतिहास में ब्रिटिश जाति का नाम अमर रहेगा" !!! ब्रिटिश जाति के साथ इन जैसे ब्रिटिश-भक्त आलोचकों का नाम भी अमर रहेगा !

ऐसे आलोचकों के विपरीत शुक्लजी ने भारतेन्दु-युग के साहित्य का साम्राज्य-विरोधी पक्ष, उसका स्वाभाविक जन-जीवन से उत्पन्न होने वाला पक्ष उभारकर रखा है। उन्होंने दिखलाया है कि उस समय के लेखकों का जीवन "देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था।" उन पर अंग्रेजी शिक्षा का यह प्रभाव न पड़ा था कि "अपने देश का रूप-रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता।" वे सुधार करना चाहते थे, नया साहित्य रचना चाहते थे लेकिन "पश्चिम की एक-एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे।" वे प्रगति इस तरह करना चाहते थे कि "नवीन प्राचीन का ही प्रवर्धित रूप प्रतीत हो।" इसीलिए "जो मौलिकता इन लेखकों में थी वह द्वितीय उत्थान के लेखकों में न दिखाई पड़ी।" यह मौलिकता क्या उधार ली हुई थी? बाद के लेखकों के समय में तो अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार और भी हुआ लेकिन वह ज़िन्दादिली और वह मौलिकता फिर क्यों न दिखाई दी? यदि वह अंग्रेजी शिक्षा की देन होती तो घटने के बदले बराबर बढ़ती जाती; उसका एक युगव्यापी गुण के रूप में अभाव न दिखाई देता। वे लेखक जनजीवन के हर पहलू पर लिखते थे, स्त्री शिक्षा और देश की पराधीनता पर भी लिखते थे और होली, दीवाली, दशहरे पर भी लिखते थे जिस पर "जनता के जीवन का रंग पूरा-पूरा रहता था।" यह जनता के जीवन का रंग बिलायत से बनकर न आया था; उसका आधार ऐंग्लो-सैक्सन सभ्यता या ब्रिटिश जाति से सम्पर्क न था। शुक्लजी ने अनेक बार भारतेन्दु-युग की जिन्दादिली और मौलिकता से बाद के साहित्य की तुलना की है। उन्हें हर बार कहना पड़ा है: "यह सामाजिक

सजीवता भी द्वितीय उत्थान के लेखकों में वैसी न रही।" इसका कारण है। सामूहिक रूप से हिन्दी लेखकों का जन-जीवन से वह सम्पर्क न रह गया जो भारतेन्दु-युग के लेखकों का था। प्रेमचन्द, निराला, वृन्दावनलाल वर्मा जैसे लेखकों ने न केवल भारतेन्दु-युग की जनवादी परम्परा को कायम रखा, वरन् वे उसे आगे की मंजिलों तक भी ले गए, साहित्य में उन्होंने वे खूबियाँ पैदा कीं जो भारतेन्दु-युग में कम थीं या नहीं थीं। लेकिन इनके युग में जिन्दादिली या मौलिकता पूरे युग का गुण न था; जन-जीवन की पहचान और जनता से प्रेम युग के अधिकांश लेखकों की विशेषता नहीं रही। बीसवीं सदी में हिन्दी साहित्य पर पच्छिम की पूंजीवाद विचारधारा का असर गहरा हुआ, खुद भारतीय पूंजीवाद का असर उस पर पड़ना शुरू हुआ। साहित्य-संसार का संघर्ष रीतिकालीन परम्परा और राष्ट्रीय विचारधारा का ही संघर्ष न रहा; वह सामन्त, साम्राज्यवादी और पूंजीवादी विचारधारा तथा जनवादी विचारधारा का संघर्ष भी बना। बहुत से लेखक सामन्ती और साम्राज्यवादी असर से एक हद तक बचे रहे लेकिन पूंजीवादी विचारधारा के असर से न बच सके। यह असर इन बातों में दिखाई देता था : जन-जीवन की समस्याएँ छोड़कर रहस्यवाद, पुरातन-प्रेम, वेदना का संसार बसाने की प्रवृत्तियां, साहित्य के लोकप्रिय रूप, कला के जनसुलभ सौंदर्य, भाषा के सरल और मुहावरेदार रूप को छोड़कर दुरूहता, कठिन शब्द-योजना और थोड़े-से व्यक्तियों को ध्यान में रखकर साहित्य रचने की प्रवृत्तियाँ। जब इस तरह की प्रवृत्तियाँ काफी व्यापक प्रवृत्तियाँ बन जाएँगी, तब जिंदादिली कहाँ से आयेगी? भारतेन्दु-युग और बाद के साहित्य में जो अन्तर दिखाई देता है, उसका यह एक बहुत बड़ा कारण है।

भारतेन्दु-युग के लिए शुक्लजी ने लिखा है : "नूतन हिन्दी साहित्य का वह प्रथम उत्थान कैसा हँसता-खेलता सामने आया था, भारतेन्दु के सहयोगी लेखकों का वह मण्डल किस जोश और जिन्दादिली के साथ और कैसी चहल-पहल के बीच अपना काम कर गया, इसका उल्लेख पहले हो चुका है।"

हिन्दी आलोचना में भारतेन्दु-युग अब भी बहुत कुछ एक उपेक्षित युग बना हुआ है। कई लेखक उस युग के बारे में लिखते भी हैं तो पूंजीवादी विचारधारा के प्रभाव के कारण उसका सही जातीय रूप, उसकी क्रान्तिकारी भूमिका पहचान नहीं पाते। उस युग के लेखकों पर विस्तार से काम करने की जरूरत है, उनकी रचनाओं के संग्रह प्रकाशित करना जरूरी है। यह सब करने में शुक्लजी ने उस युग के अध्ययन का जो रास्ता दिखलाया है, वह हिन्दी आलोचना का राजमार्ग है। उसी पर चलते हुए हम इस युग का विस्तृत अध्ययन करके अपने साहित्य के इतिहास को भरा-पूरा बना सकते हैं, अपने सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी को समृद्ध कर सकते हैं।

शुक्लजी ने हिन्दी गद्य के विकास की स्वाभाविक परम्परा पर जोर दिया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि हिन्दी गद्य न तो उर्दू से अरबी-फारसी के शब्द निकाल-

कर और उनकी जगह संस्कृत के शब्द डालकर गढ़ा गया है, न वह अंग्रेजों की कृपा का फल है। उन्होंने भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों के गद्य की यह विशेषता बतलाई है कि उसका आधार बोलचाल की भाषा है जिसमें फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार नही किया गया, न उसमें संस्कृत पदावली की भरमार है। उन्होंने उर्दू के अरबी-फारसी लदे रूप का विरोध किया है लेकिन अनेक लेखकों को उर्दू से बहुत कुछ सीखते हुए भी बतलाया है। उन्होंने हिन्दी के प्राकृत रूप की रक्षा पर जोर दिया है, बेडौल समासों और भड़कीले संस्कृत शब्दों के प्रयोग की निन्दा की है। भाषा के सहज रूप का सम्बन्ध उन्होंने साहित्य की विषयवस्तु से जोड़ा है जो युग की आवश्यकताओं को पूरा करती थी, जो युग के आगे बढ़े हुए विचारों और भावों का प्रतिबिम्ब थी। उन्होंने भारतेन्दु-युग के नवजागरण का श्रेय अंग्रेजों को नही दिया—जैसे कि हिन्दी गद्य के विकास का श्रेय उन्होंने अंग्रेजों को नहीं दिया—वरन् उस युग के साहित्य पर जन-जीवन का रंग देखा है, उसकी मौलिकता की दाद दी है, उसकी जिन्दादिली को उसकी अपनी विशेषता कहा है।

यह एक सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। इससे भारतेन्दु-युग का महत्त्व समझने में मदद मिलती है; उससे हम प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करना सीख सकते हैं। शुक्लजी साहित्य का इतिहास लिखते हुए अपने सिद्धान्त कैसे लागू करते थे, उसकी एक बहुत अच्छी मिसाल उनका भारतेन्दु-युग सम्बन्धी विवेचन है।

*

नयी हिन्दी कविता और छायावाद

हिन्दी के आलोचकों को शुक्लजी से सबसे बड़ी शिकायत यह है कि वह छायावाद के विरोधी थे; शुरू में यह विरोध ज्यादा कट्टर था, लेकिन बाद में उन्होंने अपनी भूल बहुत कुछ सुधार ली।

शुक्लजी ने अपनी मूल स्थापनाओं में कोई परिवर्तन नहीं किया। उनकी पहली स्थापना यह थी कि अगोचर और परोक्ष से प्रेम नहीं हो सकता, इसलिए वह काव्य का विषय नही है। दूसरी स्थापना यह थी कि केवल कला या शैली सँवारने के लिए लाक्षणिकता का बहुत ज्यादा प्रयोग काव्य के लिए हानिकर है और उसका प्रयोगमात्र किसी को रहस्यवादी बनाने के लिए काफी नही है।

शुक्लजी ने छायावाद का विवेचन किस तरह किया है, यह देखने के लिए यह जानना जरूरी है कि उससे पहले की कविता के बारे में उनकी धारणा क्या थी। उन्होंने भारतेन्दु-युग की कविता की नयी विषयवस्तु का स्वागत किया। देशभक्ति को इस कविता का मूल स्वर बतलाया। लेकिन भारतेन्दु-युग में जैसा निबन्धों और नाटकों का विकास हुआ, वैसा कविता का नही। देशभक्ति के साथ राजभक्ति का स्वर भी मिला हुआ था। उसके रूप, शैली आदि में भी सरसता की कमी थी। शुक्लजी उसकी ये सब सीमाएँ जानते थे। इसलिए उन्होंने उस युग के निबन्धों की जिस तरह तारीफ की है, उस तरह कविता की नहीं। अपने इतिहास में उन्होंने लिखा है कि "काव्य को भी देश की बदलती हुई स्थिति और मनोवृत्ति के मेल मे लाने के लिए भारतेन्दु मण्डल ने कुछ प्रयत्न किया।" यह प्रयत्न सीमित था; वह जनता के हृदय को सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की ओर "थोड़ा प्रवृत्त करके रह गया।" इस प्रयत्न की सीमाएँ ये थी : उसमें न तो सकल्प की दृढ़ता थी और न न्याय के आग्रह का जोश था, न उलटफेर की प्रबल कामना का वेग। स्वदेश-प्रेम व्यंजित करने वाला वह स्वर अवसाद और खिन्नता का स्वर था, आवेश और उत्साह का नहीं। उसमें अतीत के गौरव का स्मरण और वर्तमान ह्रास का वेदनापूर्ण अनुभव ही स्पष्ट था। इसलिए देश-प्रेम "काव्य पर पूर्णरूप से

प्रतिष्ठित न हो सका।"

भारतेन्दु-युग के काव्य की ये सीमाएँ बहुत कुछ ठीक हैं। इनका एक कारण यह है कि कविता में जिस तरह रीतिकालीन परम्परा जमी हुई थी, उस तरह गद्य में नहीं। इसलिए भारतेन्दु-युग की क्रान्तिकारी चेतना सबसे अच्छी तरह निबन्धों में प्रगट हुई है। लेकिन भारतेन्दु-युग की कविता न तो नायिकाभेद तक सीमित है, न देशभक्ति तक। उसमें मानव-जीवन के और बहुत से पहलुओं का भी समावेश है। इसके सिवा उस युग में बहुत-सी व्यंग्यपूर्ण रचनाएँ भी की गईं जिनमें उस युग की विशेषता, उसकी जिन्दादिली पूरी तरह झलकती है। बहुत-सी कविताएँ जन-गीतों के आधार पर और उन्हीं की रीति पर भी लिखी गईं; इससे साहित्य के दूसरे अंगों की तरह कविता भी जन-संस्कृति के बहुत नजदीक आ गई। फिर भी शुक्लजी ने जिस माँग की ओर संकेत किया है—यानी कविता में संकल्प की दृढ़ता हो, अवसाद और खिन्नता के बदले आवेश और उत्साह हो, वेदना के बदले न्याय के आग्रह का जोश हो—वह बिलकुल सही है।

नयी कविता के तीसरे उत्थान से भारतेन्दु-युग की तुलना करते हुए शुक्लजी ने अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञता का भाव, देशभक्ति में राजभक्ति का स्वर मिलने, दया-मय भगवान को पुकारने, देशवासियों को कोसने आदि की सीमाओं का जिक्र किया है। "सरकार पर रोष या असन्तोष की व्यंजना उनमें नहीं मिलती।" यह बात आंशिक रूप से सत्य है। रोष और असन्तोष की व्यंजना हो, यह माँग सही है।

भारतेन्दु-युग की कविता में उग्र राजनीतिक चेतना के अभाव का कारण शुक्लजी ने उस समय के कमजोर राजनीतिक आन्दोलन को ठहराया है। लिखा है: "बात यह थी कि राजनीति की लम्बी-चौड़ी चर्चा-भर साल में एक बार धूम-धाम के साथ थोड़े से शिक्षित बड़े आदमियों के बीच हो जाया करती थी और क्रियोत्पादक प्रभाव देखने में नहीं आता था।" शुक्लजी ने यह बात भारतेन्दु-युग ही नहीं, द्विवेदी-युग के लिए भी कही है। उनकी आलोचना—सुधारवादी राज-नीतिक आन्दोलन की आलोचना—बहुत सही है लेकिन देश का राजनीतिक आन्दोलन थोड़े से शिक्षित बड़े आदमियों की चर्चा तक सीमित न था, उसके बाहर भी अनेक रूपों में जनता अंग्रेजों से लड़ रही थी; इसके सिवा भारतेन्दु-युग के बहुत से विचारक कांग्रेसी विचारधारा से बहुत आगे बढ़े हुए थे। उनकी राजनीतिक चेतना उस समय की ही कांग्रेसी विचारधारा से आगे बढ़ी हुई न थी, सन् '२० की कांग्रेसी विचारधारा से भी आगे थी। बालकृष्ण भट्ट ने कांग्रेस के जन्म को अंग्रेजी राज के लिए लाभदायी बतलाया था और क्रान्तिकारियों की खुली प्रशंसा करने पर जब उनसे जवाब तलब किया गया, तब उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया था। भारतेन्दु ने अंग्रेजी शिक्षा का रहस्य प्रकट किया था, उद्योग-धन्धों की शिक्षा की माँग की थी, स्वदेशी के व्यवहार का आन्दोलन किया था और देश में कल-कारखाने खोलने पर जोर दिया था। अनेक लेखकों ने अंग्रेजों के साम्राज्य-वादी युद्धों का तीव्र विरोध किया था, अकाल, महामारी और टैक्सों को अंग्रेजी

राज की न्यामतें कहकर अपना घोर असन्तोष प्रकट किया था।

शुक्लजी को द्विवेदी-युग की कविता से भी सन्तोष नहीं था। राजनीतिक आन्दोलन थोड़े ही शिक्षित बड़े आदमियों तक सीमित था, इसलिए "द्विवेदी-काल की देशभक्ति सम्बन्धी रचनाओं में शासन-पद्धति के प्रति असन्तोष तो व्यंजित होता था पर कर्म में तत्पर करने वाला जोश और उत्साह न था। आन्दोलन भी कड़ी आलोचना के आगे नहीं बढ़े थे।" शुक्लजी का कहना है कि याचना करने वाली राजनीति से उत्साहपूर्ण साहित्य की सृष्टि नहीं होती। यद्यपि उन्होंने एकाध जगह कवियों को आन्दोलनों तक सीमित रहने और उन्हीं के पीछे चलने के प्रति सावधान किया है, फिर भी यह बात साफ है कि वह साहित्य के लिए जन-आन्दोलनों का प्रभाव अच्छा समझते थे। उन्होंने सन् '२० से पहले की हिन्दी कविता की जो कमजोरियाँ बतलाई हैं, उनका कारण सामाजिक जीवन में ढूंढ़ा है, उनका कारण राजनीतिक आन्दोलन की कमजोरियाँ बतलाई हैं।

द्विवेदी-युग के बाद परिस्थिति कैसे बदल गयी, इस पर शुक्लजी ने एक बहुत ही सारगर्भित और प्रभावशाली पैरा लिखा है। साहित्य के सामाजिक आधार का विवेचन करने के लिए इसे हम आदर्श रूप में ले सकते हैं। शुक्लजी ने लिखा है: "आन्दोलनों ने सक्रिय रूप धारण किया और गाँव-गाँव राजनीतिक और आर्थिक परतन्त्रता के विरोध की भावना जगाई गई। सरकार से कुछ माँगने के स्थान पर अब कवियों की वाणी देशवासियों को ही स्वतन्त्रतादेवी की वेदी पर बलिदान होने को प्रोत्साहित करने में लगी।" इस तरह शुक्लजी ने इस बात का सामाजिक आधार बतलाया कि जो देश-प्रेम भारतेन्दु-काल में काव्य का विषय बना, वह क्यों "उत्तरोत्तर प्रबल और व्यापक रूप धारण करता आया।" यह समझना भूल होगी कि शुक्लजी साहित्य में देशभक्ति के विरोधी थे और उसका व्यापक होना उन्हे अखर रहा था। ऐसा समझने का कोई कारण नहीं; इसके विपरीत पहले की कविता में उन्होंने जो कमजोरियाँ बतलाई थीं, उन्हें देखकर हम कह सकते हैं कि उनकी सहानुभूति इन जन-आन्दोलनों के साथ थी और साहित्य मे वह उनका प्रभाव अच्छा समझते थे।

नये राजनीतिक आन्दोलन की दो विशेषताओ पर शुक्लजी ने जोर दिया है। एक तो यह कि "अब जो आन्दोलन चले वे सामान्य जनसमुदाय को भी साथ लेकर चले।" दूसरी यह—और शुक्लजी के शब्दों में "सबसे बड़ी बात यह हुई कि"—"ये आन्दोलन संसार के और भागों में चलने वाले आन्दोलनों के मेल में लाये गए, जिससे ये क्षोभ की एक सार्वभौम धारा की शाखाओं-से प्रतीत हुए।" शुक्लजी देश के स्वाधीनता-आन्दोलन का अन्तर्राष्ट्रीय रूप समझते थे, उसे दूसरे देशों के स्वाधीनता-आन्दोलन का साथी समझते थे, उन आन्दोलनों से अपने आन्दोलन का मेल में आना वह 'बड़ी बात' समझते थे, यह सब स्वीकार करना होगा और यह भी मानना होगा कि इस तरह का विश्लेषण हिन्दी के और आलोचकों ने—कम-से-कम शुक्लजी के समकालीन आलोचकों ने—नहीं किया।

जन-समुदाय को लेकर चलने से आन्दोलनों में गहराई आती है। "इससे उनके भीतर अधिक आवेश और बल का संचार हुआ।" आवेश और बल का स्रोत है जनता। उसे छोड़कर चलने वाले आन्दोलन थोड़े से शिक्षित बड़े आदमियों के आन्दोलन होते हैं और उनमें न आवेश होता है, न बल।

हिन्दुस्तान का नया स्वाधीनता-आन्दोलन रूस की समाजवादी क्रान्ति के बाद चला था। इस क्रान्ति ने साम्राज्यवाद का विश्व-प्रभुत्व तोड़ दिया था, अपने यहाँ सामन्ती और पूंजीवादी शोषण मिटा दिया था। इसलिए हमारे यहाँ के स्वाधीनता आन्दोलन पर समाजवादी विचारधारा की भी छाप पड़ी। योरप में 'लोक की घोर आर्थिक विषमता' से जो असन्तोष पैदा हुआ, उसके बारे में शुक्लजी ने लिखा है: "दूसरे देशों का धन खींचने के लिए योरप में महायन्त्र-प्रवर्तन का जो क्रम चला उससे पूंजी लगाने वाले थोड़े-से लोगों के पास तो अपार धनराशि इकट्ठी होने लगी, पर अधिकांश श्रमजीवी जनता के लिए भोजन-वस्त्र मिलना भी कठिन हो गया।" इस एक वाक्य में शुक्लजी ने योरप के पूंजीवाद का बहुत अच्छा विश्लेषण किया है। एक ओर तो अपार धनराशि का इकट्ठा होना और दूसरी ओर श्रमजीवी जनता के लिए भोजन-वस्त्र पाने में भी कठिनाई—यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

इस पूंजीवाद की दो प्रतिक्रियाएँ हुईं। "एक ओर तो योरप में मशीनों की सभ्यता के विरुद्ध टॉलस्टॉय की धर्मबुद्धि जगाने वाली वाणी सुनाई पड़ी जिसका भारतीय अनुवाद गांधीजी ने किया।" हम पहले देख चुके है कि शुक्लजी तोल्स्तोय-पन्थ को व्यक्तिगत साधना मानते थे, उसे मनुष्य के सामूहिक प्रयत्नों के विरुद्ध समझते थे। यहाँ उन्होंने गांधीवाद का सम्बन्ध बहुत साफ-साफ तोल्स्तोय-मत के साथ जोड़ दिया है। दूसरी प्रतिक्रिया यह हुई कि धर्मबुद्धि जगाने के बदले जनता ने क्रान्तिकारी संघर्ष का रास्ता अपनाया। "दूसरी ओर इस घोर आर्थिक विषमता की प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद और समाजवाद नामक सिद्धान्त चले जिन्होंने रूस में अत्यन्त उग्र रूप धारण करके भारी उलट-फेर कर दिया।"

यहाँ शुक्लजी ने रूस में होने वाले उलट-फेर का वैज्ञानिक कारण बतलाया है। उस उलट-फेर का कारण घोर आर्थिक विषमता थी, वह उलट-फेर उस घोर आर्थिक विषमता की प्रतिक्रिया थी। उसका कारण ईर्ष्या-द्वेष का भड़काया जाना न था।

वर्तमान समय में किसी जाति या संस्कृति का दुनिया से एकदम अलग रहना असम्भव हो गया है। जातियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। इससे उनकी जातीयता नष्ट नहीं होती वरन् उसे विकसित होने का और मौका मिलता है। शुक्लजी ने लिखा है: "अब संसार के प्रायः सारे सभ्य भाग एक-दूसरे के लिए खुले हुए हैं। इससे एक भूखण्ड में उठी हवाएँ दूसरे भूखण्ड में शिक्षित वर्गों तक तो अवश्य ही पहुँच जाती हैं। यदि उनका सामंजस्य दूसरे भूखण्ड की परिस्थिति के साथ हो जाता है तो उस परिस्थिति के अनुरूप

शक्तिशाली आन्दोलन चल पड़ते हैं। इस नियम के अनुसार शोषक साम्राज्यवाद के विरुद्ध राजनीतिक आन्दोलन के अतिरिक्त यहाँ भी किसान-आन्दोलन, मजदूर-आन्दोलन, अछूत-आन्दोलन इत्यादि कई आन्दोलन एक विराट परिवर्तनवाद के नाना व्यावहारिक अंगों के रूप में चले।" भारत के सामाजिक आन्दोलन यही की परिस्थितियों की उपज थे; फिर भी दूसरे देशों के आन्दोलन का प्रभाव उन पर पड़ा, इस प्रभाव से वे सशक्त हुए। इस तरह का प्रभाव अहितकर नहीं, हितकर हुआ। शुक्लजी ने जिस नियम की ओर संकेत किया है, वह अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का नियम है। साम्राज्यवादियों के विश्ववाद (कॉस्मोपॉलिटनिज्म) से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। विश्ववाद देशों और जातियों के परस्पर आदान-प्रदान का सिद्धांत नहीं है; वह एक जाति की स्वाधीनता और संस्कृति कुचलकर उसे साम्राज्यवादी प्रभाव-क्षेत्र में लाने का सिद्धान्त है। वह किसान-आन्दोलन या मजदूर-आन्दोलन जैसी चीजों को बढ़ावा देना दूर, उन्हें अपना जानी दुश्मन समझता है।

शुक्लजी ने भारत के किसान-मजदूर-आन्दोलनों का उल्लेख किया, नयी हिन्दी कविता में उनके प्रभाव का उल्लेख किया। लेकिन उस समय इन आन्दोलनों की शुरुआत हुई थी। हिन्दीभाषी प्रदेश में अक्सर इनके अगुआ कांग्रेसी नेता ही होते थे। उस समय के अनेक कवियों ने ताण्डव, प्रलय, ध्वंस आदि को लेकर शब्दों का बवण्डर खड़ा किया लेकिन उनकी कविता में गहराई न थी। शुक्लजी के सामने क्रान्तिकारी कवियो के रूप में बहुधा दिनकर, नवीन आदि आते थे जो उस समय काफी हुंकार-टंकार करने के बाद अब शरीफ दुनियादारों की तरह अपने धन्धे से लगे हुए हैं। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि इनके बारे में शुक्लजी ने लिखा: "'क्रान्ति' के नाम से परिवर्तन की प्रबल कामना हमारे हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रलय की पूरी पदावली के साथ व्यक्त की गई।" उन्होंने परिवर्तन ही परिवर्तन की पुकार के वास्तविक होने, उसके हृदय की पुकार होने में सन्देह प्रकट किया। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शुक्लजी क्रान्ति-विरोधी थे जैसे हुंकार-टंकारवाद से यह सिद्ध नहीं होता कि उसके कवि क्रान्तिकारी थे।

यहाँ पर भारतीय समाज के वर्ग-सम्बन्धों पर शुक्लजी की मान्यताएँ विचारणीय हैं। कुछ लोग इन मान्यताओं को प्रगतिविरोधी मानते हैं। उनका हवाला देकर वे शुक्लजी के विचारों में असंगतियों पर जोर देना आवश्यक समझते हैं। अंग्रेजी राज, व्यापारी, जमींदार और किसान वर्गों के बारे में शुक्लजी का कहना है: "राजकर्मचारियों का इतना बड़ा चक्र ग्रामवासियों के सिर पर ही चला करता है, व्यापारियों का वर्ग उससे प्रायः बचा रहता है। भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्गम बना दी गई है। व्यापार श्रेणियों को यह सुभीता विदेशी व्यापार को फलता-फूलता रखने के लिए दिया गया था, जिससे उनकी दशा उन्नत होती आई और भूमि से सम्बन्ध रखने वाले सब वर्गों की—क्या जमींदार, क्या किसान, क्या मजदूर—गिरती गई।"

यहाँ शुक्लजी ने राजकर्मचारियों के विशाल चक्र की बात कही है जो गाँव-

वालों के सिर पर चला करता है। इस चक्र से उन्होंने गाँववालों को तबाह होते कहा है। वह इस चक्र के विरुद्ध हैं, उससे गाँववालों की मुक्ति चाहते हैं; इसका अर्थ यह है कि उनका दृष्टिकोण सबसे पहले साम्राज्यविरोधी है। उसके प्रगति-विरोधी होने का यहाँ सवाल नही उठता।

इस चक्र के सहायक कौन है? सहायकों में वे व्यापारी हैं जिन्हे अंग्रेजों से सुविधाएँ मिली हुई है, जिनकी पूंजी विदेशी राज के सहारे फलती-फूलती है। इस तरह का वर्ग—अंग्रेजो की दलाली पर जीने वाला व्यापारी वर्ग—यहाँ रहा है, यह कौन नही जानता? शुक्लजी ने इसी वर्ग को विदेशी चक्र के नीचे प्रायः बचते हुए और फलते-फूलते हुए बतलाया है। यह वर्ग साम्राज्य-विरोधी मोर्चे मे नही आता। इसके साथ यह और कहना चाहिए कि भारत में व्यापारियों और उद्योग-पतियों का एक और दल रहा है जिसे साम्राज्यवादियों से सुविधाएँ नहीं मिलती रहीं, जो साम्राज्यवाद का दबाव ज्यादा सहता रहा है और इसलिए जिसे देश की आजादी से कमोबेश दिलचस्पी रही है।

लेकिन साम्राज्यवाद का एक सहारा यहाँ का सामन्तवाद भी रहा है। शुक्लजी ने जमीदारो को किसानो और मजदूरों के साथ रख दिया है। इससे क्या उनका जमीदार-प्रेम नही प्रकट होता? कुछ मित्रो ने शुक्लजी के वाक्यों से यही नतीजा निकाला है कि इससे उनका जमीदार-प्रेम प्रकट होता है।

शुक्लजी ने बड़े सामन्तो और छोटे या साधारण जमीदारो में भेद किया है। जिन जमीदारों को उन्होंने राजकर्मचारियों के चक्र और मुनाफाखोरों के जाल से तबाह होते देखा है, वे बहुत ही साधारण दर्जे के जमीदार है। खासतौर से अवध के गाँवों मे दो-दो पाई और डेढ़-डेढ़ पैसे के हिस्सेदार इन जमींदारों की बहुत बड़ी तादाद है। इनकी स्थिति खाते-पीते किसानों की-सी थी या कभी-कभी उससे भी गिरी हुई थी। शुक्लजी ने लिखा है: "नगर के मजदूर तक पान-बीड़ी के साथ सिनेमा देखते हैं, गाँव के जमीदार और किसान कष्ट से किसी प्रकार दिन काटते हैं।" शुक्लजी ने यह सच लिखा है या झूठ? गाँवों में दरअसल ऐसे 'जमींदार' हैं या उनके प्रति सहानुभूति पैदा करने के लिए उन्होंने ऐसा लिख दिया है? शुक्लजी ने बिलकुल ठीक लिखा है। जो लोग इलाहाबाद के बंगलों से बाहर निकलकर अवध के गाँवों मे घूमे होंगे, उन्हें हकीकत का पता होगा। मैं ऐसे काफी 'जमीदारों' को जानता हूँ जिनका गुजारा खेती से न चल पाता था (यह अब की बात नही, आज से तीस साल पहले की बात है) और जिन्हें मजबूर होकर शहर में किसी की चपरासगीरी करनी पड़ी या छोटी-मोटी नौकरियों के लिए घर-बार छोड़ना पड़ा।

इसलिए जमींदार शब्द से ही चौंककर शुक्लजी पर खफा होने की जरूरत नही। जमींदारों में वर्गभेद करते हुए उन्होंने लिखा है: "जमींदारों के अन्तर्गत हमें ९८ प्रतिशत साधारण जमींदारो को लेना चाहिए, २ प्रतिशत बड़े-बड़े ताल्लुकेदारों को नहीं। किसान और जमींदार एक ओर तो सरकार की भूमिकर-सम्बन्धी नीति

से पिसते चले आ रहे हैं, दूसरी ओर उन्हें भूखों मारने वाले नगरों के व्यापारी हैं जो इतने घोर श्रम से पैदा की हुई भूमि की उपज का भाव अपने लाभ की दृष्टि से घटाते-बढ़ाते रहते हैं।"

बीसवीं सदी में, और खासतौर से पहले महायुद्ध के बाद, महाजनों और मुनाफाखोरों ने गाँवों पर धावा बोला था। भारत में जमींदारी प्रथा की एक यह विशेषता हो गयी कि जमींदार अपनी जमीन से गैर-हाजिर रहे। गैरहाजिर जमींदारों की तादाद बराबर बढ़ती गयी थी। रजनी पामदत्त ने अपनी पुस्तक 'आज का भारत' में खेती के संकट का विवेचन करते हुए बतलाया है कि उद्योग-धन्धों में पूंजी लगाने की सम्भावनाएँ न होने पर बड़े-छोटे महाजन जमीन में पूंजी लगाते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि जमीन पर काम करने वाले जमीदारों की तादाद कम होती गई और गैर-हाजिर महाजन-जमींदारों की तादाद बढ़ती गई। भारतीय समाज का हर विद्यार्थी इस प्रक्रिया को समझता है। शुक्लजी ने जो साधारण जमीदारों को व्यापारियों और अंग्रेजी शासकों से तबाह होते दिखलाया है—और इन तबाह होने वालों से मुट्ठी-भर ताल्लुकेदारों को अलग किया है—वह वस्तुस्थिति का सही वर्णन है। इससे उनकी यही इच्छा साबित होती है कि साम्राज्यवाद से पीड़ित सभी वर्ग उसका विरोध करें, न कि यह कि साम्राज्यवाद को यहाँ कायम रहने दिया जाय। उपनिवेशों और पराधीन देशों में जमीदार-वर्ग का एक भाग साम्राज्य-विरोधी सग्राम में हिस्सा ले सकता है, यह चीन के स्वाधीनता-संग्राम से सिद्ध होता है। जिस समय चीनी जनता जापान के खिलाफ लड़ रही थी, उस समय माओत्से तुग ने जो संयुक्त मोर्चा बनाया था, उसमे बहुत-से जमींदार भी शामिल थे। इसलिए शुक्लजी ने साधारण जमीदारों के बारे मे जो कुछ कहा है, उससे यह साबित नहीं होता कि वे सामन्तवर्ग के समर्थक थे।

शुरू के अध्याय में हमने देखा है कि शुक्लजी का दार्शनिक दृष्टिकोण मूलतः वस्तुवादी है लेकिन संगत रूप से वस्तुवादी नही है, उसमें असंगतियाँ भी हैं। यही बात उनके साम्राज्य-विरोधी दृष्टिकोण के बारे में भी सही है। वह साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहते थे; उसके लुटेरे रूप को समझते थे, यह सही है। लेकिन इस सिलसिले में अलग-अलग वर्गों की भूमिका उनके सामने स्पष्ट न थी। उनके सामने यह स्पष्ट न था कि साम्राज्यवादी जहाँ एक ओर यहाँ के कुछ पूंजीपतियों को सुविधाएँ देते हैं, वहाँ सबसे ज्यादा भरोसा यहाँ के बड़े-बड़े सामन्तों का करते हैं, इनकी मदद से हिन्दू-मुसलमानों में फूट डालते हैं, अपने सबसे बड़े शत्रु किसान-मजदूर आन्दोलन को भरसक दबाते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने विरोधी सोवियत संघ के खिलाफ झूठा प्रचार करते हैं। ये बातें स्पष्ट न होने से शुक्लजी सोवियत संघ के खिलाफ झूठे प्रचार का खुद शिकार हुए, हिन्दू-मुस्लिम एकता का सुसंगत समर्थन करने के बदले वह कहीं-कहीं भाषा और साहित्य का विकास केवल हिन्दुओं और मुसलमानों से जोड़ने लगे, मजदूर-आन्दोलन की क्रान्तिकारी भूमिका समझने के बदले उसे शंका की दृष्टि से देखने लगे।

मजदूर-आन्दोलन के बारे में उन्होंने लिखा है: "योरप में जब देश-के-देश बड़े-बड़े कल-कारखानों से भर गए हैं और जनता का बहुत-सा भाग उनमें लग गया है तब मजदूर-आन्दोलन की नौबत आई। यहाँ अभी कल-कारखाने केवल चल खड़े हुए हैं और उनमें काम करने वाले थोड़े से मजदूरों की दशा खेत में काम करने वाले करोड़ों अच्छे-अच्छे किसानों से कहीं अच्छी है। पर मजदूर-आन्दोलन साथ लग गया।" भारत का मजदूर-आन्दोलन एक ओर पूंजीपतियों के शोषण से अपनी रक्षा करने के लिए लड़ा है, दूसरी ओर वह और भी आगे बढ़कर साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ा है। भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन में मजदूर वर्ग का एक शानदार इतिहास है। यह सही है कि यहाँ के मजदूर-आन्दोलन का मुख्य विरोध साम्राज्यवाद से रहा है, न कि देशी पूंजीवाद से और इसलिए वह योरप के मजदूर-आन्दोलनों का अन्धानुकरण नहीं कर सकता। लेकिन कल-कारखाने खुलेंगे तो मजदूर-आन्दोलन साथ लगेगा ही और यह देश की स्वाधीनता के लिए शुभ है, अशुभ नहीं। शुक्लजी के सामने मजदूरवर्ग की क्रान्तिकारी भूमिका स्पष्ट न थी, इसीलिए उन्होंने शंका प्रकट की है।

ये सब शुक्लजी के युग की सीमाएँ थीं, एक हद तक उनकी अपनी सीमाएँ थीं। आज के बहुत-से लेखक वे सीमाएँ तो अपनाए हुए हैं लेकिन शुक्लजी की मूलतः प्रगतिशील विचारधारा को पीछे छोड़ चुके हैं। जहाँ शुक्लजी अपने युग के साथ थे, बहुत जगह उससे आगे बढ़े हुए भी थे, वहाँ उनके विरोधी या उनसे उदासीन और तटस्थ रहने वाले खुद अपने युग से कोसों पीछे हैं। शुक्लजी से अपना यह भेद याद करके ही उन्हें शुक्लजी की असंगतियों पर कलम उठानी चाहिए।

शुक्लजी ने छायावाद का विरोध किया, इसके पीछे भी यथार्थ मानव-जीवन से उनका प्रेम था। वह साहित्य को परोक्ष-चिन्तन, रहस्यवाद, अटपटी और दुरूह शैली से बचाना चाहते थे; भाग्यवाद, निराशावाद और पच्छिमी कविता के पतनशील रुझानों से हिन्दी साहित्य की जातीय परम्परा की रक्षा करना चाहते थे। जहाँ छायावादी कवि रहस्यवाद और निराशावाद से बचकर यथार्थ जीवन का चित्रण कर सके हैं, वहाँ शुक्लजी ने बराबर उन्हें सराहा है, जहाँ वे इन गलत रुझानों से प्रभावित हुए हैं, वहाँ बराबर उनका विरोध किया है, अपने इतिहास के अन्तिम संस्करण में यह विरोध कायम रखा है।

छायावाद के विरोध की चर्चा करते हुए यह न भूलना चाहिए कि उन्होंने छायावाद से पहले की कविता में भी काफी दोष दिखलाए हैं। अपने इतिहास में उन्होंने हिन्दी के पद्यात्मक निबन्धों का जिक्र किया है जो पहले उत्थानकाल में तो 'बहुत कुछ भाव प्रधान' रहे लेकिन "आगे चलकर शुष्क और इतिवृत्तात्मक (Matter of fact)" होने लगे। यदि शुक्लजी का दृष्टिकोण उथले नैतिकतावादियों का होता तो वे उन भावशून्य पद्यों की तारीफ करते। उन्होंने ऐसा नहीं किया क्योंकि वह उन निबन्धों का भावप्रधान होना जरूरी समझते हैं। हिन्दी

कविता पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव को उन्होंने हमेशा अच्छा नहीं माना। हिन्दी के अपने छन्दों के बदले संस्कृत वृत्तों का प्रयोग बहुत कुछ उनके प्रभाव से हुआ। संस्कृत छन्दों के साथ "संस्कृत पदावली का समावेश बढ़ने लगा।" सरस्वती में जिस तरह की कविताएँ छपती रहीं या ज्यादा छपती रहीं—उनसे "इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लगने लगा।" स्वयं द्विवेदीजी की कविता की भाषा "बहुत अधिक गद्यवत्" हो गई। जैसी भाषा, वैसे भाव-विचार। "उनकी अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) हो गईं।" शुक्लजी किस तरह की कविता पसन्द करते थे, उसमें किस तरह का कलात्मक सौन्दर्य आवश्यक समझते थे, यह उनके इस वाक्य से स्पष्ट है: "उनमें (यानी द्विवेदीजी की कविताओं में) वह लाक्षणिकता, वह चित्रमयी भावना और वह वक्रता बहुत कम आ पाई जो रस-संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है।" काव्य में लाक्षणिकता, वक्रता और चित्रमयी भावना जरूरी है लेकिन किसलिए? रस-संचार की गति को तीव्र करने के लिए, केवल चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं। शुक्लजी रीतिकालीन चमत्कारवाद के प्रेमी नहीं, वह द्विवेदीजी के तथ्यवाद के हिमायती नहीं, वह छायावादियों की अतिशय लाक्षणिकता के भी समर्थक नहीं। उनका दृष्टिकोण इन सबकी अपेक्षा ज्यादा संतुलित है क्योंकि उनके कलात्मक विवेचन का आधार वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी की कविता है।

'भारत-भारती' और 'सरस्वती' में प्रकाशित अधिकांश कविताओं के बारे में उन्होने फिर लिखा है: "ये रचनाएँ काव्यप्रेमियों को कुछ गद्यवत्, रूखी और इतिवृत्तात्मक लगती थीं।" यह रुझान छायावाद के प्रसार के समय काफी कमजोर पड़ गया था। उसके बदले एक दूसरा रुझान आया जो अतिलाक्षणिकता पर जोर देता था। शुक्लजी चाहते थे कि साहित्य में रोमांटिक कविता या स्वच्छन्दतावाद का प्रसार हो लेकिन यह धारा स्वाभाविक हो, विषयवस्तु में रहस्यवाद और रूप में अटपटापन लिए हुए न हो। दूसरे उत्थान की कविता का विवेचन करते हुए उन्होंने 'नैसर्गिक स्वच्छन्दता' की माँग की है, अंग्रेजी रोमांटिक कविता ने साहित्य में जो पहले-पहल परिवर्तन किए, उनके 'मूल प्राकृतिक आधार' का उल्लेख किया है। वह सच्ची रोमांटिक कविता के लिए लोकगीतों को आधार बनाना जरूरी समझते थे। उन्होंने स्कॉटलैंड के कवि बर्न्स की बड़ी प्रशंसा की है जिसने लोकगीतों के आधार पर ऐसी रचनाएँ कीं जो समाज में खूब पसंद की गईं। अंग्रेज कवि कूपर ने कविता को रूढ़ियों से मुक्त किया लेकिन "स्वच्छंद होकर जनता के हृदय में संचरण करने की शक्ति वह कहाँ से प्राप्त करे, यह स्कॉटलैंड के एक किसानी झोंपड़ी में रहने वाले कवि बर्न्स (Burns) ने ही दिखाया था। "जो आलोचक बर्न्स की कविता पर मुग्ध हो, वह रोमांटिक धारा का विरोधी कैसे हो सकता है? लेकिन बर्न्स उन रोमांटिक कवियों में न था जो समाज से अलग कल्पना के शीश-महल में कैद रहते हैं। वह एक जनवादी कवि था; उसकी रचनाएँ जनता के हृदय

में संचरण करती थीं। और यह शक्ति उसे जनता से ही मिली थी। सच्ची रोमांटिक धारा जनजीवन के कितना निकट होती है, इस बारे में शुक्लजी बर्न्स की मिसाल देते हुए कहते हैं: "उसने अपने देश के परम्परागत प्रचलित गीतों की मार्मिकता परखकर देश-भाषा में रचनाएँ कीं, जिन्होंने वहाँ के सारे जनसमाज के हृदय में अपना घर कर लिया।" हिन्दी के छायावादी कवि बर्न्स से बहुत कम परिचित रहे हैं। कुछ अपवाद छोड़कर नयी हिन्दी कविता लोकगीतों के समृद्ध भंडार से अपने को दूर ही रखती आयी है।

शुक्लजी ने श्रीधर पाठक को स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तक कहा है। श्री रामनरेश त्रिपाठी को उनका अनुवर्ती बतलाया है, इसी तरह मुकुटधर पांडेय को भी 'नूतन, स्वच्छंद मार्ग' पर चलने वाला कवि कहा है। 'पल्लव' की 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'परिवर्तन' और 'बादल' आदि रचनाओं का हवाला देकर शुक्लजी कहते हैं: "यदि 'छायावाद' के नाम से एक 'वाद' न चल गया होता तो पंतजी स्वच्छन्दता के शुद्ध स्वाभाविक मार्ग पर ही चलते।" शुक्लजी जिस स्वच्छन्दतावाद के पक्ष में थे, वह काफी व्यापक धारा थी। वह अपने में 'आँसू' और 'उच्छ्वास' जैसी रचनाओं को भी समो लेने में आगा-पीछा न करती थी। तब शुक्लजी विरोध किस बात का करते थे? वह विरोध करते थे रहस्यवाद का, शैली की अति लाक्षणिकता का। आज हम छायावाद को इन दो विशेषताओं के दायरे में बन्द नहीं कर देते, उसके ऐतिहासिक विकास और उसकी अन्य विशेषताओं पर भी ध्यान देते हैं। लेकिन शुक्लजी के समय में छायावाद एक आन्दोलन था; उसमें प्रसाद-निराला-पंत ही न थे, और भी पचीसों कवि थे, जिनके नाम बहुत कुछ भुलाए जा चुके हैं। इस आन्दोलन की वे दोनों विशेषताएँ लोगों के सामने उभरकर आई थी जिन पर शुक्लजी ने अपनी निगाह जमाई थी। इसके सिवा खुद छायावादी कवि अपना बड़प्पन रहस्यवादी होने में समझते थे। प्रसादजी अपने आनन्दवाद और रहस्यवाद को एक ही चीज कहते थे। निरालाजी का अद्वैतवाद और उसकी विरोधी धाराएँ —मायावाद का खण्डन आदि—सब रहस्यवाद कहलाता था। पंतजी दर्शन में सबसे कच्चे लेकिन छायावाद की कमजोरियों के सबसे अच्छे प्रतिनिधि रहे हैं।

शुक्लजी ने छायावाद को सीमित अर्थ में लिया है। ऐसा करना उचित न था। किसी आन्दोलन के बारे में उसके नेता या आलोचक क्या कहते हैं, इसी से उसकी विशेषताएँ नहीं परखी जा सकतीं। छायावाद के नेता कुछ भी कहते रहे हों, उसकी जो भी व्याख्याएँ की जाती रही हों, महत्त्व की बात यह है कि छायावादी कवि लिखते क्या हैं, उनके साहित्य की मूल पूंजी क्या है, उसे उन्होंने किस रूप में जनता के सामने रखा है, इत्यादि। शुक्लजी ने इस तरह छायावाद का ऐतिहासिक विवेचन नहीं किया, लेकिन उसकी जिन विशेषताओं पर उन्होंने आक्रमण किया है, वे विशेषताएँ कल्पित नहीं, वास्तविक थी, यह मानना होगा और उनका यह आक्रमण सही था, यह भी मान लेने से ही कल्याण होगा।

शुक्लजी ने नयी कविता के लिए जो सबसे घातक विचारधारा समझी है,

वह रहस्यवाद की है। 'रहस्यात्मक कविताओं का कलरव' सुनकर श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'कुछ गीत रहस्यवादियों के स्वर में' गाए। उनके 'साकेत' में 'नई रंगत की वेदना' उसी प्रभाव के कारण है। रवीन्द्रनाथ की कविताओं में 'अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का रहस्यवाद' था। इसका प्रभाव हिन्दी कवियों पर भी पड़ा और जिस रास्ते पर वे चले, "वह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था।" रहस्यवाद से काव्य की विषयवस्तु संकुचित हुई। "असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यन्त चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्‌गारों तक ही काव्य की गतिविधि प्रायः बंध गई।" रहस्यवादी कविता का प्रचलित भाव-व्यापार—"हृत्तंत्री की झंकार, गौरव संदेश, अभिसार, अनन्त-प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पाँव आना"—शुक्लजी को वैसे ही कृत्रिम लगता है जैसे दरबारी कवियों का नायिकाभेदी संसार। वेदना का यह 'प्रकाण्ड प्रदर्शन' शुक्लजी को असह्य था।

उपनिषदों से लेकर योगमार्ग तक का हवाला देकर रहस्यवाद को भारतीय साबित करनेवाली दलीलों से शुक्लजी को संतोष नहीं होता। वह उसे विदेशी चीज कहते हैं, रहस्यवादियों पर अभारतीय होने का दोष लगाते हैं। योग, तन्त्र आदि में रहस्यवाद को वह साधनात्मक मानते हैं, 'प्रकृत भावभूमि' का मार्ग नहीं। कोई उपनिषदों में रहस्यवाद सिद्ध ही कर दे तो शुक्लजी उसे यह जवाब देते हैं: "संहिताओं और उपनिषदों को कभी किसी ने काव्य नहीं कहा।" वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक किसी कवि ने अज्ञेय और अव्यक्त को प्रियतम बनाया हो तो उसकी साखी मानी जा सकती है।

'काव्य में रहस्यवाद' नाम के प्रसिद्ध निबन्ध में शुक्लजी ने रहस्यवाद पर विस्तार से सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए हल्ला बोला है। शुरू में उन्होंने एक नोट दिया है जिसका उद्देश्य शायद निबन्ध का तीखापन कुछ कम करना है। इसमें वह कहते हैं कि "मैं 'रहस्यवाद' का विरोधी नहीं।" उसे कविता की एक 'शाखा विशेष' मानने के लिए वह तैयार हैं लेकिन उसे काव्य का सामान्य रूप मानने के लिए हर्गिज तैयार नहीं हैं। रहस्यवाद के लिए जो लम्बे-चौड़े दावे किए जाते हैं, उन्हें वह 'किसी सभ्य जाति के' साहित्य के लिए शोभा की बात नहीं समझते। यद्यपि उदारता के आवेश में शुक्लजी ने रहस्यवाद को काव्य की शाखा-विशेष मान लिया है लेकिन वास्तव में उनके लिए रहस्यवाद और असभ्यता में ज्यादा फासला नहीं है। रहस्यवादियों को ज्ञान का दावेदार बनते देखकर उन्हें असभ्य और पिछड़ी हुई जातियों के अन्धविश्वासों की बराबर याद आ जाती है।

अपने निबन्ध में वह रहस्य भावना को रमणीय और मधुर भी कह डालते हैं, उसे भी कवियों का एक 'मूड' मानने को तैयार हो जाते हैं, लेकिन उसे किसी वाद से जोड़कर 'काव्य का सिद्धान्तमार्ग' मानना उन्हें मंजूर नहीं है। जहाँ वाद की बात उठती है, वह रहस्यवाद को साम्प्रदायिक कहने लगते है; हिन्दी के रहस्यवादी कवियों से साम्प्रदायिक क्षेत्र से बाहर निकलकर वह 'प्रकृत काव्यभूमि' पर आने का अनुरोध करते हैं। हिन्दी के नये रहस्यवादियों को पछाड़ने के लिए शुक्लजी

जायसी और कबीर के परोक्ष-प्रेम को भी सराहने लगते हैं, उसे कई जगह अभारतीय कहते हुए यहाँ उसकी भारतीयता की दाद देते हैं। मुसलमान प्रेममार्गी कवियों के लिए वह कहते हैं, "वे सूफी 'रहस्यवाद' को भारतीय रूप देने में पूर्णतया सफल हुए थे। कबीर आदि निर्गुणपंथियों और जायसी आदि सूफी प्रेम-मार्गियों ने 'रहस्यवाद' की जो व्यंजना की है, वह भारतीय भाव-भंगी और शब्द-भंगी को लेकर।"

किसी भी विचारधारा का विरोध करने के लिए उसे अभारतीय कहना यहाँ के तर्कशास्त्रियों का खास दाँव है। वह दाँव शुक्लजी ने भी लगाया है। जायसी के परोक्षप्रेम को उन्होंने अभारतीय कहा, सूर और मीरा तक को अभारतीय सूफी मत से प्रभावित बतलाया, नये रहस्यवादियों का विरोध करने के लिए उन्होंने फिर अभारतीयता की दुहाई दी। लेकिन छायावादी कवि यों मानने वाले न थे। उन्होंने उपनिषदों आदि का हवाला देकर रहस्यवाद को भारतीय सिद्ध कर दिया। इस पर शुक्लजी ने पैंतरा बदला और रहस्यवाद को साधना की चीज मान लिया लेकिन काव्य की चीज न माना। बहुत संकट में उन्होंने उसे काव्य की शाखा-विशेष, कवियों का एक मूड भी स्वीकार कर लिया लेकिन उसे काव्य की प्रकृत भावभूमि न माना। उसे वह साम्प्रदायिक इसलिए भी कहते थे कि उन्होंने उसका विशेष सम्बन्ध ईसाई धर्म और शामी जातियों से जोड़ा था।

शुक्लजी के सामने रहस्यवाद का वर्ग-आधार स्पष्ट न था, इसलिए उसका विरोध करने के लिए उन्हें अभारतीयता के कमजोर तर्क का सहारा लेना पड़ा। उनके सामने मध्यकालीन कवियों, आधुनिक पच्छिमी कवियों और भारत के रोमांटिक कवियों के रहस्यवाद का अन्तर भी स्पष्ट न था। इसलिए सब पर उन्होंने एक साथ ही हल्ला बोल दिया था। मध्यकालीन कवियों का रहस्यवाद—भारत और योरप दोनों जगह—अक्सर जाति-प्रथा, सामन्ती भेदभाव, ऊंच-नीच के विचार और पुरोहितों के विरोध के साथ जुड़ा हुआ था। मध्यकालीन रहस्य-वाद का सम्बन्ध मुख्यतः किसानों, कारीगरों, अछूतों आदि से था। लेकिन आधु-निक योरप का रहस्यवाद पूंजीवादी विचारधारा का एक अंग था। उसका उद्देश्य वर्तमान सामाजिक जीवन की विषमताओं के प्रति उदासीन रहकर कल्पनालोक बसाना था। इस तरह वह साहित्य में यथार्थवाद का विरोध करने वाली एक प्रति-क्रियावादी विचारधारा बना। आधुनिक भारत में एक ओर रहस्यवाद का सम्बन्ध दुःखवाद, निराशावाद, व्यक्तिवाद आदि से रहा है जिनके फलस्वरूप वह साहित्य की यथार्थवादी धारा को कमजोर करता रहा है। इन सब विशेषताओं को भारतीय कहकर यहाँ के पूंजीवाद ने रहस्यवाद को खूब उछाला। दूसरी ओर उसका सम्बन्ध रूढ़िवाद और कर्मकाण्ड के विरोध से भी रहा है और यहाँ वह मध्यकालीन रहस्यवाद की विशेषताएँ लिए हुए है। फिर भी बीसवीं सदी में जन-आन्दोलन की बढ़ती के साथ रहस्यवाद समाज और साहित्य के लिए निरर्थक हो चुका था और यही कारण है कि छायावादी कवियों का सबसे कमजोर पहलू उनका

रहस्यवाद है ।

शुक्लजी ने जहाँ भारतीय-अभारतीय का झगड़ा छोड़कर सीधे भाववाद (आइडियलिज्म) पर हमला किया है और उसके मुकाबले में वस्तुवाद (मैटीरियलिज्म) का समर्थन किया है, वहाँ उनका तर्क अकाट्य है और इस युग के लिए सबसे मूल्यवान भी है। वह काव्य की अनुभूति को निराली अनुभूति नहीं मानते। यह अनुभूति प्रत्यक्ष जीवन की ही अनुभूति है, वह काल्पनिक नहीं, वास्तविक अनुभूति है। 'काव्यदृष्टि' से यह दृश्य जगत् ब्रह्म की नित्य और अनन्त कल्पना है लेकिन यह कल्पना 'अनन्त रूपात्मक' है, वह 'व्यक्त और गोचर' है, वह 'हमारी आँखों के सामने बिछी हुई है।" न तो जगत् परोक्ष है, न जगत् का ज्ञान और न उसमें रहने वालों की अनुभूति परोक्ष है। "हमारे हृदय का सीधा लगाव गोचर जगत् से है।" इसलिए गोचर जगत् छोड़कर सरस कविता लिखना असम्भव है। ज्ञान इसी जगत् का होता है, इन्द्रियबोध के आधार पर होता है। जिसे लोग रहस्य-ज्ञान कहते हैं, वह शुक्लजी के लिए ज्ञानातीत है। 'काव्य में रहस्यवाद' में अंग्रेजी की रहस्यवादी कविताएँ उद्धृत करने के बाद शुक्लजी ऐलान करते हैं, "यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि उक्त ज्ञानातीत (Transcendental) दशा से—चाहे वह कोई दशा हो या न हो—काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।"

योरप की कविता में अज्ञात के लिए प्रेम कहाँ से उमड़ा, इसका विवेचन करते हुए उन्होंने सीधे "जर्मन दार्शनिकों के 'प्रत्ययवाद' (Idealism)" का खण्डन किया है। शुक्लजी संसार की वस्तुगत सत्ता और इसलिए मनुष्य के ज्ञान की भी वस्तुगत सत्ता मानते हैं। वह 'प्रत्ययवाद' या भाववाद का यह दावा मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि मनुष्य को इन्द्रियों द्वारा जिन रूपों का बोध होता है, वे उसके मन के ही रूप हैं। 'कामायनी' की चर्चा करते हुए अपने इतिहास में शुक्लजी ने लिखा है : "प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषय-बोध ही होता है।" रहस्यवादियों की स्वप्नदशा भी विषय-बोध से परे नही होती। रहस्यवाद वाले निबन्ध में वह कहते हैं : "भावों के लिए आलम्बन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं; फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है।" शुक्लजी के लिए ज्ञानेन्द्रियों से परे ज्ञान की सत्ता नही है। इसी गोचर ज्ञान के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। यद्यपि शुक्लजी गोचर जगत् को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मानते हैं, फिर भी काव्य के लिए वह अगोचर ब्रह्म की ज़रा भी आवश्यकता नहीं समझते। यही वह वस्तुवाद की भूमि है जहाँ से वह रहस्यवाद या भाववाद के झूठे दावों का खण्डन करते हैं।

छायावादी कविता की रहस्यवादी विषय-वस्तु के अलावा वह उसके निराशावाद, अबुद्धिवाद, भाग्यवाद आदि का भी खण्डन करते हैं। बहुत ज्यादा रोने-धोने का सम्बन्ध अगोचर ब्रह्म की अनुभूति से नहीं है। उसके ठोस सामाजिक कारण हैं। यह निराशा वर्तमान समाज में व्यक्ति के अलगाव, उसके मनोबल की क्षीणता, जन-आन्दोलनों से उसकी दूरी या तटस्थता की सूचक है। यह निराशावाद हिन्दी

के मध्यवर्गी कवियों की अपनी विशेषता है। अपने इतिहास में शुक्लजी छायावाद में सचाई की कमी बतलाते हुए कहते हैं, "यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्वता कहकर प्रबल अभिलाष व्यंजित करे" तो इससे हमारा मनोरंजन हो सकता है, इसमें सचाई न होगी।

छायावाद की कला या उसके रूप पर शुक्लजी को कई आपत्तियाँ हैं। पहले तो वह उसे 'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त से प्रभावित देखते हैं, उस पर पच्छिम के प्रतीकवाद का असर देखते हैं; इसके सिवा रचनाओं में अन्विति का अभाव—भावों और विचारों में सम्बद्धता का अभाव—भी उन्हें खटकता है। कल्पना की नई दुनिया बसाना उन्हें निराधार क्रिया लगती है। कहीं-कहीं कवियों ने जो उपमानों के ढेर लगा दिए हैं, व्याकरण का ध्यान नहीं रखा, लाक्षणिकता का जरूरत से ज्यादा प्रयोग किया है, उसकी उन्होंने तीव्र आलोचना की है।

शुक्लजी ने कई जगह छायावाद को शैली मात्र कहा है। उनका तात्पर्य यह है कि बहुत से कवि सिर्फ लाक्षणिक शैली के सहारे छायावादी बन जाते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, उनका मूल विरोध रहस्यवादी विषयवस्तु से है, परोक्ष-प्रेम, अगोचर प्रियतम और अनन्त की पुकार से है, शैली मात्र से नहीं। यह धारणा सही नहीं है कि शुक्लजी छायावाद को एक शैली मात्र समझते थे। ऐसा होता तो वे बार-बार रहस्यवाद पर आक्रमण न करते। उनके लिए छायावाद की दो विशेषताएँ हैं—विषयवस्तु में रहस्यवाद और रूप में अति लाक्षणिकता। इनका उन्होंने विरोध किया है। विषयवस्तु और रूप, भाव-विचार और कला—दोनों पर बराबर ध्यान देने के कारण ही शुक्लजी ने इन दोनों विशेषताओं का खण्डन किया। यह बात उन्होंने इतिहास में बहुत साफ शब्दों में लिख दी है: "छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है···'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में।"

छायावाद को इन दो अर्थों तक सीमित नहीं किया जा सकता। छायावाद हिन्दी-साहित्य की रोमांटिक धारा है। वह मूलतः रीतिकालीन परम्परा की विरोधी है। वह एक मानववादी धारा है जिसका एक कमजोर पक्ष रहस्यवाद भी है। आज अनन्त की ओर दौड़ने और अति-लाक्षणिक शैली के व्यवहार से हिन्दी के समर्थ कवि बच रहे हैं, यह बात शुक्लजी की आलोचना का समर्थन करती है। हिन्दी कविता का विकास रहस्यवाद के मार्ग पर नहीं हो रहा, न हो सकता है। शुक्लजी ने हृत्तन्त्री बजाने वालों को कुछ जोर से झकझोर दिया, यह ठीक किया। लेकिन छायावादियों पर वाद-विशेष से बँध जाने का दोष लगाते हुए वह स्वयं छायावाद को संकुचितवाद—रहस्यवाद—के अर्थ में लेते रहे। इसीलिए जब छायावादी कवियों की गैर-रहस्यवादी कविताएँ उनके सामने आईं तो उन्होंने उन्हें छायावाद से बाहर की चीज माना। "निरालाजी की रचना का क्षेत्र तो पहले से ही कुछ विस्तृत रहा।" इसका अर्थ यह है कि निरालाजी 'छायावाद' की

संकुचित भावभूमि से बाहर रहे। 'जुही की कली' और 'शेफालिका' में 'उन्मद प्रणय-चेष्टाओं के पुष्पचित्र' अगोचर जगत् से प्रेम साबित न करते थे, 'इस जगत् के बीच विधवा की विधुर और करुण मूर्ति' रहस्यवाद का प्रमाण न थी। इसी करुणा का सहज विकास करते हुए निरालाजी ने इलाहाबाद के पथ पर "एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्री के माथे पर के श्रम-सीकर दिखाए।" इस तरह की रचनाएँ छायावाद की संकुचित व्याख्या से मेल न खाती थीं, लेकिन शुक्लजी ने व्याख्या को और विस्तृत करने के बदले इन रचनाओं को ही छायावाद से बाहर की चीज समझा।

वाद-विवेचन छोड़ दें तो शुक्लजी ने अलग-अलग कवियों का जो मूल्यांकन किया है, वह बहुत कुछ सही ठहरता है। छायावादी कवियों में वह निरालाजी को सबसे बहुमुखी प्रतिभा का कवि मानते थे, यह उनके अनेक वाक्यो से प्रकट होता है। छायावादी कवि अपना कल्पनालोक छोड़कर जहाँ वास्तविक जगत् की ओर आ रहे थे, उसका स्वागत करते हुए शुक्लजी ने लिखा है, "इसी प्रकार निरालाजी ने, जिनकी वाणी पहले से भी बहुमुखी थी, 'तुलसीदास' के मानस-विकास का बड़ा ही दिव्य और विशाल रंगीन चित्र खींचा है।" उनकी शैली के बारे में भी लिखा है : "निरालाजी की शैली कुछ अलग रही। उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना आग्रह नही पाया जाता जितना पदावली की तड़क-भड़क और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य का।" शुक्लजी के हिसाब से क्या विषयवस्तु में और क्या काव्य के रूप में निरालाजी सबसे कम छायावादी थे। इसका अर्थ यह हुआ कि उनमें रहस्यवादी उड़ान और मर्म-पीड़ा के हास वाली शैली सबसे कम थी, वह हिन्दी साहित्य की यथार्थवादी धारा के सबसे निकट थे।

प्रसादजी के लिए शुक्लजी ने लिखा है कि शारीरिक व्यापारों पर उनकी दृष्टि ज्यादा जमती थी। उनके लिए रहस्यवाद एक पर्दा है जिसके पीछे वास्तविकता है 'मधुचर्या' की। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रसादजी सुख-सौन्दर्य के कवि हैं; परोक्ष-चिंतन बहाना-भर है। 'आँसू' में नियतिवाद और दुःखवाद के स्वर हैं; साथ ही कई जगह "वे आँसू लोकपीड़ा पर करुणा के आँसू से जान पड़ते हैं।" रहस्यवादी या छायावादी कवियों ने जहाँ भी लोक-जीवन पर लिखा है, शुक्लजी ने उसका कभी तिरस्कार नहीं किया वरन् उसका स्वागत किया है। रवीन्द्रनाथ के बारे में उन्होंने लिखा है : "उनकी रहस्यवाद की वे ही कविताएँ रमणीय हैं जो लोकपक्ष-समन्वित हैं।" (काव्य में रहस्यवाद)

प्रसादजी के 'लहर' कविता-संग्रह में शुक्लजी को यह देखकर सन्तोष हुआ कि उसमें चार-पाँच रचनाएँ ही रहस्यवाद की हैं। उन्हें प्रसन्नता हुई कि 'लहर' में प्रसादजी "वर्तमान और अतीत जीवन की प्रकृत ठोस भूमि पर" कल्पना का चमत्कार दिखाने की ओर बढ़े थे। 'कामायनी' में उन्होंने आनन्दवाद की प्रतिष्ठा देखी। इसका सम्बन्ध उन्होंने तांत्रिकों और योगियों की 'अंतर्भूमि-पद्धति' से जोड़ा है। प्रसादजी न योगवादी थे, न भोगवादी थे। उनका दर्शन संसार को शिव का

प्रत्यक्ष रूप मानता है और कामायनी लोक-कल्याण का प्रतीक है। प्रसादजी का 'ज्ञान' योगियों का 'ज्ञान' नहीं है, यह शुक्लजी की इस उक्ति से साबित होता है : "पीछे आया हुआ ज्ञान भी बुद्धिव्यवसायात्मक ज्ञान ही है (योगियों और रहस्य-वादियों का पर-ज्ञान नहीं)।" प्रसादजी ने एक खास तरह के ज्ञान, एक खास तरह के कर्म का विरोध किया है। वह ज्ञान और कर्म का समन्वय चाहते हैं और समन्वय लोक-कल्याण की भूमि पर होता है। लेकिन शुक्लजी का यह कहना सही है कि प्रसादजी ने कर्ममय जीवन के विशद चित्र नहीं दिए और उसे बहुधा यज्ञों, उद्योग-धन्धों और शासन-विधानों तक सीमित कर दिया है। शुक्लजी का विचार है कि कर्म की व्यापक भावना के अन्दर "उग्र और प्रचंड भाव भी लोक के मंगल-विधान के अंग हो जाते हैं।" प्रसादजी ने इस पक्ष को कम लिया है, यह बात सही है यद्यपि यह दोष उनके उपन्यासों और अनेक नाटकों में नहीं है।

शुक्लजी ने पंतजी की रहस्यभावना को स्वाभाविक कहा है, उसे सांप्रदा-यिकतावाद से प्रायः मुक्त बतलाया है। इस तरह प्रसाद-निराला-पंत, तीनों में रहस्यवाद अपने उस रूप में प्रकट नहीं हुआ जो शुक्लजी को सबसे ज्यादा अग्राह्य था (और पंतजी तब तक अरविन्द-आश्रम न गए थे!)।

'पल्लव' की भूमिका में पंतजी ने पुरानी कविता पर—सूर आदि संत कवियों की रचना पर भी—जो आक्षेप किए थे, उन्हें शुक्लजी ने प्रतिभा के उत्साह का बहुत बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन कहा है। अंग्रेजी कविता से भाव और प्रयोग लेने का दोष शुक्लजी ने पंतजी पर ही लगाया है, निराला या प्रसाद पर नहीं। आँसुओं को 'नयनों का बाल' कहना 'केवल चमत्कार और वक्रता के लिए' जान पड़ता है। पंतजी को आगे चलकर जैसे 'चिर' शब्द प्रिय हुआ, वैसे पहले 'बाल' शब्द प्रिय था। "बाल शब्द जोड़ने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है।" शब्दों का मनमाने लिंगों में प्रयोग, 'मर्मपीड़ा के हास' जैसे प्रयोगों में डबल-लक्षणा, उपमानों के ढेर लगाना जहाँ "बहुत से उपमान पुराने ढंग के खेलवाड़ के रूप में भी हैं", तिमिर चरते हुए शशि-शावक, कवि के उर में डेरा डालने वाले नक्षत्ररूपी शुचि उलूक—आदि पंत-काव्य की अपनी विशेषताएँ हैं। शुक्लजी पूछते हैं : "पर इतने उल्लू यदि डेरा डालेंगे तो मन की क्या दशा होगी?" यदि शुक्लजी 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' पढ़ने को जीवित रहते तो उन्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाता।

इन कमजोरियों के बावजूद पंतजी में जहाँ सहज रोमांटिक कल्पना मिली है, शुक्लजी ने उसकी दाद दी है। प्रकृति-चित्रण की प्रशंसा विशेष रूप से की है। लेकिन कलावाद के संस्कार के कारण पंतजी की दृष्टि व्यापक नहीं हुई, बादल के दर्शन से 'तप्त कृषकों के आशापूर्ण उल्लास तक' नहीं गई, इसकी शिकायत भी की है।

पंतजी ने दर्शन और अर्थशास्त्र के अनेक सूत्रों को पद्यपद्ध किया है—और सदा उनके मूलरूप की रक्षा भी नहीं कर पाए हैं—लेकिन उनका असली रूप सौन्दर्यवादी का ही है, उसे वह छोड़ नहीं पाए। सौन्दर्यवादी का रूप सदा सुन्दर नहीं होता, वह

व्यक्तिवाद और कृत्रिमता के दायरे में बन्द रहता है लेकिन पंतजी जब कोशिश करके लोकजीवन के नजदीक आते हैं तब भी मानो जुल्फें सँभालते हुए, पतलून की क्रीज का ध्यान रखते हुए। प्रगतिशील विचारधारा से कुछ दिन तक उनकी 'बौद्धिक सहानुभूति' का यही रहस्य है। शुक्लजी ने लिखा है: "कलावाद के प्रभाव से जिस सौन्दर्यवाद का चलन योरप के काव्यक्षेत्र के भीतर हुआ, उसका पंतजी पर पूरा प्रभाव रहा है।" यह बात सोलह आने ठीक है। पंतजी के अध्यात्मवाद और सौन्दर्यवाद में विशेष अन्तर नहीं है। एक आत्मा का शृंगार है तो दूसरा शरीर का; हैं दोनों शृंगार ही। मनुष्य के कर्ममय जीवन से दोनों दूर हैं। इस पर भी जहाँ पंतजी लोक-जीवन की ओर कदम उठाते दिखे हैं, शुक्लजी ने उसका स्वागत ही किया है।

नयी कविता के विवेचन में शुक्लजी ने द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता की सीमाएँ दिखाईं, संस्कृत छंदों और संस्कृत पदावली के व्यवहार को अनचाहा प्रभाव कहा, रहस्यवाद का खंडन किया, कविता से निराशावाद, भाग्यवाद, अति-लाक्षणिकता की शैली को दूर करने का आग्रह किया। यद्यपि छायावाद की व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं है और रहस्यवाद को अभारतीय कहने से उसका खंडन नहीं होता, फिर भी शुक्लजी ने छायावादी कवियों की लोकजीवन सम्बन्धी कविताओं का समर्थन किया, साहित्य में अगोचर के बदले गोचर जगत् पर बल दिया, छायावादी कविता का लोकगीतों की परम्परा से सम्बन्ध जोड़ते हुए सच्ची रोमांटिक भावभूमि पर आगे बढ़ने का सुझाव दिया। उनका यह विवेचन हिन्दी आलोचना के लिए ही नहीं, हिन्दी कविता की प्रगति के लिए भी बहुत उपयोगी है।

इतिहास, जातीयता और साहित्य के रूप

यहाँ हम तीन समस्याओं पर विचार करेंगे, हिन्दी साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन की समस्या, साहित्य के जातीय रूप और उसकी जातीय विशेषताओं की समस्या और नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि साहित्य के रूपों की समस्या। इन सभी पर शुक्लजी की कुछ विशेष मान्यताएँ हैं जिनमें से कुछ की ओर विद्वानों का ध्यान गया है और उनके खण्डन की भी कोशिश की गई है, कुछ की ओर ध्यान कम गया है या ज्यादातर आलोचक उनकी ओर उदासीन रहे हैं।

पहली समस्या इतिहास में काल-विभाजन की है। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखना आज भी सरल काम नहीं है। इसका सबसे बड़ा कारण आवश्यक सामग्री का उपलब्ध न होना है। हाथ की लिखी किताबें एक तरफ राजस्थान में पड़ी हैं तो दूसरी तरफ नेपाल में। इन पर जो खोज का काम हुआ है, वह बहुत कुछ असंगठित और अव्यवस्थित है। जो सामग्री उपलब्ध है, उसके छापने की भी कोई संगत व्यवस्था नहीं है। मध्यकाल तो दूर, आज से सत्तर साल पहले जो साहित्य रचा गया था, वह जहाँ-तहाँ पत्रिकाओं की जिल्दों में बन्द दीमकों के हवाले हो रहा है; वह भी रद्दी में बिकने से बच गया हो तो।

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में दूसरी कठिनाई यह है कि हिन्दी की अनेक बोलियों में समृद्ध साहित्य रचा गया है और इनमें से कई एक—जैसे अवधी, ब्रज और मैथिली—का साहित्य कम-से-कम परिमाण में इतना विशाल है, जितना योरप और भारत की कई भाषाओं का आधुनिक साहित्य न होगा। इस साहित्य का विस्तृत अध्ययन किए बिना हिन्दी साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के साथ अभी भाषा-विज्ञान और सांस्कृतिक इतिहास आदि की अनेक समस्याएँ जुड़ी हुई हैं जिन पर विस्तार से

विचार करने की जरूरत है। मिसाल के लिए राजस्थानी में जो साहित्य मिलता है, उसे हिन्दी साहित्य में लिया जाय या नहीं ? अपभ्रंश में रचा हुआ साहित्य पुरानी हिन्दी का साहित्य माना जाय या उससे स्वतन्त्र ? मैथिली और हिन्दी का क्या सम्बन्ध है ? मैथिली हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा है या उसकी एक बोली ? दकनी हिन्दी, फारसी लिपि में लिखी हुई हिन्दी, अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दी यानी उर्दू के साहित्य को हिन्दी साहित्य में लिया जाय या नहीं ? इस तरह की बहुत-सी समस्याएँ हैं।

शुक्लजी से पहले मिश्रबन्धुओं और अन्य विद्वानों ने जो खोज का काम किया था, उससे उन्होंने लाभ उठाया, उनके समय में जो खोज का काम होता गया वह उसकी जानकारी भी रखते रहे, इसके सिवा जायसी आदि पर उन्होंने खुद भी अनुसन्धान का काम किया। लेकिन शुक्लजी का महत्त्व, सबसे ज्यादा इतिहास के अध्ययन की एक व्यवस्थित पद्धति कायम करने में है, अनुसन्धान में नहीं। अनुसन्धान से कुछ ग्रन्थों की तिथियों में हेर-फेर हो सकता है, कुछ ग्रन्थ जाली साबित हो सकते हैं, कुछ नये ग्रन्थ सामने आ सकते हैं लेकिन यह हर किसी रिसर्चस्कालर का काम नहीं है कि वह इतिहास के अध्ययन की एक व्यवस्थित पद्धति भी कायम कर दे।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में हिन्दी साहित्य के पहले युग को आदिकाल कहा है। इसमें उन्होंने अपभ्रंश साहित्य पर विचार किया है और वीरगाथा काव्यों की प्रामाणिकता आदि का विवेचन किया है। इसके बाद उन्होंने दूसरे युग को पूर्व मध्यकाल कहा। इसमें निर्गुण, सगुणवादी भक्त कवियों और जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों का विवेचन किया है। तीसरा युग उत्तरमध्यकाल है जिसमें रीतिग्रन्थकारों को लिया है। चौथा युग आधुनिक काल है जिसमें आधुनिक गद्य के विकास, भारतेन्दु और द्विवेदीकालीन साहित्य और छायावाद आदि की चर्चा है।

इस व्यवस्था में शुक्लजी ने दो चीजें मिलाने की कोशिश की है, एक तो कालक्रम और दूसरी किसी साहित्यिक धारा की विशेषताएँ। इन दोनों बातों का अन्तर ध्यान में रखना चाहिए। हिन्दी साहित्य का व्यवस्थित अध्ययन करने में दूसरी बात का महत्त्व ज्यादा है, पहली का कम। कालक्रम के हिसाब से कोई रचना आगे-पीछे की साबित हो सकती है इससे यह साबित होना लाजमी नहीं है कि वह किसी साहित्यिक धारा के अन्तर्गत भी नहीं आ सकती।

शुक्लजी ने अपना इतिहास एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिखा था। यह आवश्यकता विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने वाले छात्रों और अध्यापकों की थी। इसका जिक्र उन्होंने अपने इतिहास के पहले संस्करण के वक्तव्य में किया है। 'हिन्दी शब्द सागर' समाप्त होने पर उसकी भूमिका के रूप में भाषा और साहित्य के विकास पर लिखना, यह दूसरी आवश्यकता थी और "एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा। इससे

साहित्य का इतिहास लिखने के लिए जितनी अधिक सामग्री मैं जरूरी समझता था उतनी तो उस अवधि के भीतर न इकट्ठी हो सकी।" बाद के संस्करणों में शुक्ल-जी ने और भी आवश्यक सामग्री से लाभ उठाकर अपने इतिहास को और भरा-पूरा बनाया।

शुक्लजी के बाद संक्षिप्त और सुबोध इतिहासों की बाढ़ आ गई। कुछ वृहत्काय इतिहास भी लिखे गए। इसमें ज्यादातर चोरी का माल है, शुक्लजी की निधि से माल लेकर टके सीधे करने का व्यापार है; बहुत कम लोगों ने नये सिरे से अध्ययन करके हिन्दी साहित्य के इतिहास में कुछ नया जोड़ने की कोशिश की है। विद्यार्थियों के लिए लिखना बुरा नहीं है लेकिन जहाँ इस लिखने का उद्देश्य ज्ञान-वृद्धि न होकर परीक्षा पास कराना भर होता है, वहाँ इतिहास-लेखन पैसा-कमाऊ व्यापार मात्र हो जाता है।

शुक्लजी अपने समय में तो इतिहास-लेखन में दिग्विजयी हुए ही थे, उनके

[redacted]

विवेकपूर्ण है।" विवेकपूर्ण होने की वजह से नये इतिहास-लेखकों की मौलिकता का दावा करने में काफी कठिनाई होती है।

इधर एक ताजा इतिहास शुक्लजी की ही अध्यापनभूमि में कार्य करने वाले विद्वान् विचारक और अनुसन्धानकर्ता आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है। जो लोग शुक्लजी को विवेकपूर्ण न मानते हों, वे कृपया द्विवेदीजी के इतिहास का ढाँचा और विषयवस्तु देखें और इस बात पर विचार करें कि द्विवेदीजी जैसे विद्वान् ने भी शुक्लजी की ही व्यवस्था स्वीकार की है या नहीं। आदिकाल से लेकर छायावाद तक द्विवेदीजी ने उन्हीं धाराओं के हिसाब से इतिहास लिखा है जिनका विवेचन शुक्लजी ने किया था। एक अन्तर है। द्विवेदीजी ने आदिकाल की तरह आधुनिक काल नाम तो रखा है लेकिन मध्यकाल नाम छोड़ दिया है। आदि है और आधुनिक है तो मध्य भी होना चाहिए, उसे छोड़ने का कोई संगत कारण नहीं दिखाई देता। इसके सिवा और युगों में जहाँ द्विवेदीजी ने उन्हीं साहित्यिक

धाराओं और प्रवृत्तियों को मुख्य माना है जिनकी चर्चा शुक्लजी ने की थी, वहाँ आदिकाल की मुख्य धारा उन्होंने स्पष्ट नहीं की। जैसे मध्यकाल में—यह नाम न लेते हुए भी—उन्होंने भक्ति और रीतिकाव्यों की चर्चा की है, वैसे आदिकाल के अन्तर्गत ऐसा कोई शीर्षक नहीं दिया।

शुक्लजी ने आदिकाल की मुख्य धारा वीरगाथाकाव्य मानी थी। इसलिए उन्होंने उसे वीरगाथाकाल भी कहा है। द्विवेदीजी के अनुसार "यह नाम वर्तमान ज्ञान के आलोक में बहुत उचित नहीं प्रतीत होता।" इसलिए उन्होंने कालक्रम के हिसाब से उसे आदिकाल तो कहा है, किसी धारा या साहित्यिक प्रवृत्ति के हिसाब से उसका नाम नहीं लिया। विषय-सूची पर नजर डालिए तो 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' (इस नाम की पुस्तक नहीं, 'हिन्दी साहित्य' के दूसरे अध्याय) में खुमान-रासो, बीसलदेवरासो, भट्ट केदार और मधुकर भट्ट, हम्मीररासो, पृथ्वीराज-रासो आदि की ही चर्चा मिलेगी। इन्हीं ग्रन्थों की चर्चा शुक्लजी ने भी की है। देखना चाहिए कि दोनों की चर्चा में क्या अन्तर है।

वीरगाथा-काव्य का विवेचन शुरू करते हुए शुक्लजी ने पहले ही बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो आदि जो काव्य "आजकल मिलते हैं वे सन्दिग्ध है" यह लिख दिया है। द्विवेदीजी ने भी उनका सन्दिग्ध होना स्वीकार करते हुए लिखा है : "कुछ हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने इस काल की कितनी ही ऐसी रचनाओं के नाम गिनाए हैं, जिनके विषय में अब सन्देह किया जाने लगा है। खुमानरासो, बीसलदेवरासो, हम्मीररासो, विजयपालरासो आदि ऐसी रचनाएँ हैं। शुरू-शुरू में इन्हें प्रामाणिक ग्रन्थ समझा गया था। यह विश्वास कर लिया गया था कि इन रचनाओं का सम्बन्ध जिन राजाओं के नाम के साथ है उन्हीं के समय में ये लिखी भी गई थीं पर अब इस विश्वास को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा है।"

यहाँ इतना और जोड़ देना चाहिए था कि शुक्लजी उन इतिहासकारों में नहीं हैं, जो इन्हें प्रामाणिक ग्रन्थ मानते थे। द्विवेदीजी के ऊपर बताये हुए सूत्र की लम्बी-चौड़ी व्याख्या करते हुए जिन विद्वानों ने शुक्लजी का खंडन किया है, वे यह भूल गए हैं कि इन ग्रन्थों को सन्देह की दृष्टि से देखने में द्विवेदीजी ने कोई मौलिक काम नहीं किया वरन् शुक्लजी का ही अनुसरण किया है।

खुमानरासो के बारे में शुक्लजी ने लिखा है : "इस समय खुमानरासो की जो प्रति प्राप्त है, वह अपूर्ण है और उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है।"

द्विवेदीजी ने इस वाक्य को थोड़ा सरल करके यों लिखा है : "आजकल खुमानरासो की जो प्रति मिलती है वह अपूर्ण है।"

शुक्लजी ने महाराणा प्रताप के वर्णन का उल्लेख करके उसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता का और भी जोरदार खंडन किया है।

द्विवेदीजी ने इसके रचयिता के बारे में लिखा है : "इसके लेखक का नाम दलपति विजय है।"

शुक्लजी को उसके रचयिता के बारे में इतना विश्वास नहीं था। इस बारे में

उन्होंने लिखा था : "यह समस्त वर्णन दलपति विजय नामक किसी कवि के रचित खुमानरासो के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है।" यह अनुमान ध्यान देने योग्य है। इतिहास की दृष्टि से अप्रामाणिक रचनाएँ आसमान से नहीं टपक पड़तीं। उनके पीछे किसी साहित्यिक धारा की परम्परा रहती है। शुक्लजी इस परम्परा का अस्तित्व सिद्ध कर रहे थे, विशेष रचनाओं की ऐतिहासिक प्रामाणिकता नहीं। इसीलिए अनेक ग्रन्थों को सन्दिग्ध और पृथ्वीराजरासो को शुद्ध जाली मानते हुए भी उन्होंने परम्परा के हिसाब से उस युग को वीरगाथाकाल कहा है। राजाओं के चारणों ने काव्य लिखे, वे बहुत कुछ राजकीय पुस्तकालयों में और कवियों के वंशजों के पास सुरक्षित रहे। उनमें हेरफेर होने पर भी जो परम्परा सिद्ध होती है, उसी के आधार पर उन्होंने इस युग को वीरगाथा काल कहा है। लिखा है : "उत्तरोत्तर भट्ट चारणों की परम्परा में चलते रहने से उनमें फेरफार भी बहुत कुछ होता रहा। इसी रक्षित परम्परा की सामग्री हमारे हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में मिलती है। इसी से यह काल वीरगाथाकाल कहा गया।"

इससे बिलकुल स्पष्ट है कि ग्रन्थों में फेरफार की खबर शुक्लजी को भी थी लेकिन उन्होंने वीरगाथाकाल नाम उस परम्परा के आधार पर दिया जिसकी खबर उनके कुछ परवर्ती इतिहासकारों को नहीं है।

खुमानरासो के सन्दिग्ध होने के बारे में शुक्लजी ने लिखा था : "यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमानरासो मिलता है, उसमें कितना अंश पुराना है।" और भी : "यह नहीं कहा जा सकता कि दलपति विजय असली खुमानरासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का।"

द्विवेदीजी ने इन्हीं धारणाओं का सार प्रकट करते हुए यह वाक्य लिखा है : "स्पष्ट ही यह ग्रन्थ उतना प्राचीन नहीं जितना समझा गया है।"

शुक्लजी की धारणाओं को दोहराने में कोई नुकसान नहीं लेकिन उनका ऋण भी स्वीकार करना चाहिए, खासतौर से जब सामग्री के अलावा वाक्य भी शुक्लजी के वाक्यों से मिलते-जुलते हों।

शिवसिंह सरोज का हवाला देते हुए शुक्लजी ने खुमानरासो के बारे में लिखा था : "शिवसिंह सरोज के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक एक काव्य ग्रन्थ लिखा था जिसमें श्रीरामचन्द्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था।"

इसी विषय पर द्विवेदीजी ने लिखा है : "खुमानरासो नामक पुस्तक के बारे में शिवसिंह सरोज में बताया गया है कि किसी अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नाम का काव्य लिखा था, जिसमें श्रीरामचन्द्र से लेकर खुमान तक के नरपतियों का वर्णन है।"

'शिवसिंह सरोज के कथनानुसार'—इस टुकड़े का सरल रूप 'खुमानरासो नामक पुस्तक के बारे में' आदि है। "अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक काव्य लिखा था" यह टुकड़ा दोनों जगह है, सिर्फ द्विवेदीजी के यहाँ 'नामक' का

सरलरूप 'नाम का' हो गया है। द्विवेदीजी ने 'लिखा था' के बाद एक कॉमा लगा दिया है जो उचित है क्योंकि शुक्लजी कॉमा के बारे में काफी लापरवाह जान पड़ते हैं। लेकिन "श्रीरामचन्द्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन"—यह टुकड़ा तो ठीक है, पर द्विवेदीजी के यहाँ 'युद्धों' की जगह 'नरपतियों' ने ले ली है (शायद युद्धों का सम्बन्ध वीरगाथा से है, इसलिए द्विवेदीजी ने उन्हें हटा दिया हो) और 'खुमान तक के युद्धों' की जगह 'खुमान तक के नरपतियों' लिखा गया है जो बेमानी है। 'तक के' की जगह 'तक' लिखा जाता तो ठीक था। शायद जल्दी में द्विवेदीजी 'के' हटाना भूल गए हैं। यह भी हो सकता है कि 'तक के नरपतियों' मुहावरेदार हिन्दी हो क्योंकि द्विवेदीजी ने आगे भी इसके सम पर एक और टुकड़ा बिठाया है —महारणा राजसिंह "तक के राजाओं का वर्णन है!"

बीसलदेवरासो के बारे में शुक्लजी ने लिखा है: "दिए हुए संवत् के विचार से कवि अपने चरितनायक का समसामयिक जान पड़ता है पर वर्णित घटनाएँ, विचार करने पर, बीसलदेव के बहुत पीछे की लिखी जान पड़ती हैं, जबकि उनके सम्बन्ध में कल्पना की गुंजाइश हुई होगी।" शुक्लजी ने भोज की लड़की से बीसलदेव के ब्याह की बात कल्पित ठहराई है क्योकि भोज का देहान्त बीसलदेव से सौ बरस पहले हो चुका था। भोज के सिवा माघ और कालिदास के नाम जोड़ने का भी उन्होंने उल्लेख किया है। बीसलदेवरासो की भाषा की जाँच करने के बाद शुक्लजी ने यह नतीजा निकाला है कि यह "पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप में कही जा सकती है।"

द्विवेदीजी भी शुक्लजी की तरह इसे 'सन्दिग्ध' रचना मानते हैं लेकिन शुक्लजी की तरह यह नही कहते कि "यह नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप अवश्य है।"

चन्द 'दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट्' के राजकवि कहे जाते हैं, इसलिए "इनके नाम में भावुक हिन्दुओं के लिए एक विशेष प्रकार का आकर्षण है।" इस आकर्षण की परवाह न करके शुक्लजी ने गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का समर्थन करते हुए पृथ्वीराजरासो को अप्रामाणिक माना है। उसमें चन्द के भी कुछ छन्द हो सकते हैं, इस बारे में शुक्लजी ने लिखा है: "यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर कुछ पद्य चन्द के भी बिखरे हों, पर उनका पता लगाना असम्भव है।" इस बात को द्विवेदीजी ने भी इन शब्दों में स्वीकार किया है: "यद्यपि रासो में प्रक्षिप्त अंश बहुत हैं तथापि इसमें चंद के कुछ-न-कुछ वचन अवश्य हैं जो काफी पुराने हैं।" द्विवेदीजी ने मुनि जिन विजय द्वारा प्रकाशित 'जयचन्द प्रबन्ध' का हवाला देते हुए अपने कथन का समर्थन किया है, उससे शुक्लजी का अनुमान और पुष्ट होता है।

रासो के मूल रूप को तूल देने का श्रेय दोनों विद्वानों ने 'भट्टभणन्त' को दिया है। शुक्लजी ने लिखा है: "पीछे जो बहुत-सा कल्पित 'भट्टभणन्त' तैयार होता गया उस सबको लेकर" रासो का आकार बढ़ाया गया है। द्विवेदीजी ने युद्धो के

प्रसंग का जिक्र करते हुए लिखा है, "अधिकतर भट्टभणन्त और गलत तिथियों का हिसाब ऐसे प्रसंग में आता है।"

आदिकाल में द्विवेदीजी ने भट्ट केदार और मधुकर का जिक्र किया है। इनके लिखे जो दो ग्रन्थ बताए जाते हैं, शुक्लजी ने उनके बारे में लिखा है, "ये दोनों ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं।" द्विवेदीजी भी कहते हैं : "ये पुस्तकें मिलती नहीं।"

जगनिक के बारे में शुक्लजी ने लिखा है : "ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के भाट थे जिन्होंने महोबे के दो वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीर-चरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था।"

इसका सरल रूप द्विवेदीजी के यहाँ इस तरह है : "कहते हैं कि कालिंजर के राजा परमाल (परमर्दिदेव) के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे, जिन्होंने महोबे के दो प्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल—के चरित्र का वीर-काव्य लिखा था।"

शुक्लजी ने स्पष्ट कर दिया है कि "जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नही है।" जो आल्हा कुछ हेरफेर के साथ गाँवों में सुनाई पड़ता है—खासतौर से बैसवाड़े में, क्योंकि शुक्लजी के अनुसार "बैसवाड़ा इसका केन्द्र माना जाता है" —वह जगनिक के काव्य के आधार पर रचा गया है। प्रचलित गीतों का संग्रह फर्रुखाबाद के कलक्टर चार्ल्स इलियट ने कराया था, यह बात शुक्लजी ने लिखी है। द्विवेदजी ने भी इसे दोहराया है। शुक्लजी का निष्कर्ष है : "देश और काल के अनुसार भाषा में ही परिवर्तन नही हुआ है, वस्तु में भी बहुत अधिक परिवर्तन होता आया है।" द्विवेदीजी भी मानते हैं कि "भाषा और कथानकों में बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है।"

हम्मीररासो के बारे में शुक्लजी का मत है कि शारंगधर का लिखा हुआ हम्मीररासो नहीं मिलता—"उसके अनुसरण पर बहुत पीछे का लिखा हुआ एक ग्रन्थ 'हम्मीररासो' नाम का मिलता है।" द्विवेदीजी का कहना है : "शारंगधर कवि के हम्मीररासो की रचना भी असन्दिग्ध नही हैं।"

शुक्लजी ने 'प्राकृत पिंगल-सूत्र' में हम्मीर सम्बन्धी पद्यों को मूल हम्मीररासो का माना है। यह सही है कि यह शुक्लजी का अनुमान है और उसे इतिहास की स्वीकृत घटना नही माना जा सकता। शुक्लजी ने इसकी चर्चा अपभ्रंशकाल वाले अध्याय में की है और वीरगाथा वाले अध्याय में उसे छोड़ दिया है। शुक्लजी ने हम्मीर सम्बन्धी दो पद्य दिए हैं। द्विवेदीजी ने उनमें से एक पद्य उद्धृत किया है, दूसरा नहीं। उनके उद्धृत किए हुए पद्य में 'जज्जल भणइ' आया है। द्विवेदीजी ने महापण्डित राहुल के मत का हवाला दिया है कि ये पद्य जज्वला कवि की रचना हैं। शुक्लजी ने जो दूसरा पद्य उद्धृत किया है उसमें 'पुर जज्जल्ला मंतिवर' यह टुकड़ा आया है। इसका अर्थ शुक्लजी ने यह लिखा है : "आगे मंत्रिवर जज्वल को करके" द्विवेदीजी ने राहुल मत का हवाला देते हुए यह नही लिखा कि इन पद्यों में जज्जल

को 'मंत्रिवर' भी कहा गया है।

हम्मीररासो की चर्चा का महत्त्व इतना ही है कि उससे भी वीरगाथा काव्य की परम्परा सिद्ध होती है। प्राकृतपिंगल-सूत्र में जो पद्य दिए गए हैं, वे शारंगधर के हों चाहे और किसी कवि के, मुख्य बात यह है कि इनसे भी उसी काव्य-परम्परा के अस्तित्व का समर्थन होता है। शुक्लजी ने इस काव्य-धारा की कुछ विशेषताएँ बतलाई हैं जो उसे अन्य दरबारी कविता से अलग करती हैं। ग्रन्थ ज्यादातर पश्चिम में लिखे गये हैं। इनमें वीररस के पद्य अक्सर छप्पय में है। इनकी भाषा पर प्राकृत की रूढ़ियों का गहरा असर है। खुसरो की भाषा के सिलसिले में शुक्लजी ने लिखा है : "उसका ढाँचा कवियों और चारणों द्वारा व्यवहृत प्राकृत की रूढ़ियों से जकड़ी काव्य-भाषा से भिन्न था।" वीरगाथा काव्यों की वीरता किस तरह की थी, यह शुक्लजी अच्छी तरह जानते थे। पच्छिम में जो गहरबार, चौहान, चन्देल आदि राज्य थे, "वे अपने प्रभुत्व की वृद्धि के लिए परस्पर लड़ा करते थे। लड़ाई किसी आवश्यकतावश नहीं होती थी; कभी-कभी तो शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिए यों ही मोल ली जाती थी। बीच-बीच में मुसलमानों के भी हमले होते रहते थे।" इसके सिवा इस सामन्ती वीररस का विशेष सम्बन्ध शृंगाररस से भी था। "किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या को हरकर लाना वीरों के गौरव और अभिमान का काम समझा जाता था।" बाद के सामन्त लड़ाई-भिड़ाई का काम बिलकुल छोड़कर कन्या-हरण का काम कुटनियों के सहारे किया करते थे या सामन्तों की कन्याओं के लिए लड़ने के बदले किसी गरीब प्रजा की बहू-बेटी भगा लाते थे। उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐसे रसिक ब्रजराजों का वर्णन अपने 'टूटे काँटे' नामक उपन्यास में किया है। जो लोग सामन्ती वीरता के कल्पित चित्र खींचा करते हैं, वे प्रजा के शोषण की बात तो भूल ही जाते हैं, प्रभाव-विस्तार और शौर्य-प्रदर्शन के लिए सामन्तों के युद्ध, कन्या हर लाने में वीरता के गौरव की बात भी भूल जाते हैं। अतिशयोक्ति सामन्ती काव्य का मुख्य अलंकार है। दरबारी शृंगार-काव्य की तरह वीरकाव्य में भी अत्युक्तियों की भरमार रहती थी। शुक्लजी ने लिखा है : "उस समय जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता या रणक्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था, वही सम्मान पाता था।" बाद के सामन्ती कवियों ने यह उमंगें भरने का काम भी छोड़ दिया था जिससे सामन्ती दरबारों का और भी पतन सूचित होता है।

वीरगाथा काव्य शुद्ध वीररस के काव्य न थे। उनमें "शृंगार का भी थोड़ा मिश्रण रहता था" यद्यपि शुक्लजी ने उसे गौण रूप से ही आता हुआ कहा है। लेकिन "जहाँ राजनीतिक कारणों से भी युद्ध होता था, वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी" —शुक्लजी की यह बात सही हो तो मानना पड़ेगा कि वीरगाथा काव्यों की मूल

प्रेरणा भोग-विलास की कामना ही थी। बीसलदेवरासो के लिए शुक्लजी ने लिखा है कि उसमें शौर्य के वर्णन के बदले शृंगार की अधिकता है। उन्हें उसके साथ 'रासो' शब्द का जुडा होना खटका है लेकिन कहीं कम, कहीं ज्यादा, ये सभी रासो थे तो भोग-विलास की इच्छा-पूर्ति के काव्य ही।

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वीरगाथा काव्य हिन्दी की एक विशेष धारा है, इस धारणा के प्रतिनिधि ग्रन्थ अधिकतर अप्रामाणिक हैं, लेकिन उनसे एक वीरगाथा काव्य की परम्परा का अस्तित्व सिद्ध होता है, इनकी अप्रामाणिकता का बहुत स्पष्ट उल्लेख आचार्य शुक्ल ने किया था, आदिकाल के अन्तर्गत श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हीं ग्रन्थों की चर्चा की है जिनकी शुक्लजी ने की थी और द्विवेदजी ने शुक्लजी की स्थापनाओं को ही नही दोहराया, कभी-कभी उनके वाक्यों को भी दोहराया है और अन्त में यह कि वीरगाथा काव्यों से किसी स्वर्ण-युग की कल्पना न करनी चाहिए वरन् कन्या-हरण, परस्पर युद्ध और शूरता के अतिरंजित वर्णन भी ध्यान में रखने चाहिए। विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ भी युद्ध हुए लेकिन इन सामन्ती काव्यों मे देश-रक्षा का भाव प्रायः नहीं है।

अब हम दूसरी समस्या लेते हैं। यह समस्या साहित्य के जातीय रूप और उसकी जातीय विशेषताओं की है। भाषा साहित्य का रूप है। हमारे साहित्य का जातीय रूप हिन्दी भाषा है। हिन्दीभाषी क्षेत्र में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं। इनमें खड़ीबोली हमारी जातीय भाषा बनी, बाकी बोलियाँ नही। शुक्लजी ने खड़ीबोली के प्रसार के मुख्य ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख किया और साहित्य में उसके विकास की रूपरेखा तैयार की। हिन्दीभाषी प्रदेश एक पिछडा हुआ प्रदेश है। यहाँ के लोगों में जातीय चेतना का प्रसार उस तरह नही हुआ जैसे बंगाल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु या आन्ध्र में। सामन्तवाद का गहरा असर, बड़ी-बड़ी ताल्लुकेदारियाँ, वर्णव्यवस्था की कट्टरता, हिन्दू-मुसलिम भेदभाव और अंग्रेजों की कूटनीति—इन सब कारणों से यहाँ का औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध रहा है। यहाँ व्यापार करनेवाले, उद्योगधन्धे चलानेवाले, ऊँची नौकरियों पर काम करने वाले भी प्रायः बाहर से आते रहे हैं। यहाँ के गरीब 'परदेस' जाकर कहीं दूध बेचते रहे या दरबानगिरी करते रहे। इसलिए कई प्रदेशो के कुछ शिक्षित कहलाने वाले लोग यहाँ वालों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। यही नही, यहाँ की भाषा और साहित्य को भी गँवारू और पिछड़ा हुआ समझने लगे। ऐसे लोगों की तादाद खुद इस प्रदेश के अन्दर कम नही है। कुछ तो अंग्रेजी का नाम-मात्र ज्ञान रखने वाले लोग हैं जो हिन्दी में अभाव देखते है और कुछ काम की बात उन्हें दिख भी गई तो उसे अंग्रेजी की देन समझते है। मैंने ऐसे कितने लोगों को यह कहते सुना है कि शुक्लजी ने अंग्रेजी से कुछ बातें लेकर हिन्दी आलोचना मे रखी है लेकिन वह भी पुरानपन्थी विक्टोरियन थे, अभी हिन्दी आलोचना में कहने लायक कोई काम हुआ नही है। इन अंग्रेजीदाँ विद्वानों के अलावा रघुपतिसहाय फिराक जैसे कुछ

उर्दूदाँ विद्वान हैं जिनका दिल हिन्दी साहित्य के लिए जितना ही उपेक्षा से भरा हुआ है, उनका दिमाग उसकी जानकारी से उतना ही खाली है। आठ-दस साल पहले फिराक को हिन्दी साहित्यिकों से बातचीत करने का शौक पैदा हुआ। इलाहाबाद के एक पत्र में उनकी बातचीत छपनी शुरू हुई और उसमें उन्होंने भारतेन्दु से लेकर निराला तक के साहित्य को घटिया और बचकाना बतलाया। शुक्लजी पर खास मेहरबानी करके उन्होंने फर्माया कि उनसे अच्छे निबन्ध कालेज के विद्यार्थी लिख लेते हैं। उनकी आलोचना के लिए यह राय जाहिर की कि कोई नयी चीज देना तो दूर, शुक्लजी जैसे आलोचकों में यह तमीज भी न थी कि ग्रियर्सन वगैरह की लिखी आलोचना समझ भी सकें!

फिराक ने सब बातें उर्दू लेखकों और पाठकों के प्रतिनिधि की हैसियत से कही हैं, यह मानना गलत होगा। लेकिन हिन्दी-साहित्य से बिना काफी परिचय हुए उस पर राय देने की आदत उर्दू के कई लेखकों में पाई जाती है, यह सही है। अभी भी रवैया हिन्दी-उर्दू की छुटाई-बड़ाई नापने का है, दोनों का साहित्य एक ही कौम का साहित्य है, यह समझ कम है। लेकिन हमें शिकायत उर्दू के लेखकों और पाठकों से नहीं है, वे जितना उर्दू को प्यार करते हैं और उसके साहित्य को रचने और सँवारने में तत्पर रहते है, उतना राष्ट्रभाषा का डंका पीटने वाले लोग नहीं। उनका उर्दू-प्रेम खड़ीबोली के ही एक रूप का प्रेम है, इसीलिए राष्ट्रभाषा प्रेमियों को उर्दू वालों से सीखकर हिन्दी को समृद्ध करने की कोशिश करनी चाहिए।

हिन्दी साहित्य की जातीय विशेषताओं और उसके सहज विकास के सबसे बड़े शत्रु वे हिन्दी वाले ही हैं जो रूढ़िवाद के गुलाम हैं और हिन्दी को तंग सामन्ती दायरे से बाहर निकलने नहीं देना चाहते। इनके लिए साहित्य का जो कुछ विकास होना चाहिए था, वह संस्कृत में हो चुका, हिन्दी में अगर कोई अच्छाई है तो यह कि वह संस्कृत के नजदीक है और तत्सम शब्दों की भरमार करके और भी राष्ट्रीय बनाई जा सकती है। इन लोगों का दिमाग संस्कृत ही नहीं, अंग्रेजी और फारसी के लिए भी पायन्दाज है। हिन्दी के ज्यादातर रूढ़िवादी हिन्दी के बारे में शोर मचाने के बावजूद हिन्दी साहित्य से अपरिचित हैं, उनके मन में हिन्दी के लिए जरा भी सम्मान की भावना नहीं है। वह अंग्रेजी और संस्कृत से आतंकित हैं यद्यपि जानते उनकी प्रगतिशील परम्पराओं को भी नहीं है।

आचार्य शुक्ल हिन्दी प्रदेश की पददलित और अपमानित जनता के सम्मान-रक्षक थे। विरोधियों से ज्यादा बहस में न पड़कर उन्होंने हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने हिन्दी के अलावा संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला आदि साहित्य का गंभीर अध्ययन किया और अपने मौलिक चिन्तन से हिन्दी आलोचना में युगान्तर पैदा कर दिया। इस कार्य में उनके मनोबल को दृढ़ करने वाली प्रेरणा जातीय सम्मान की भावना थी, इसमें सन्देह नहीं। एक पराधीन देश में जातीय सम्मान की भावना एक साम्राज्यविरोधी क्रान्तिकारी भावना है।

वह विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा और विकास के लिए जनता को संघर्ष करने की प्रेरणा देती है। इस भावना को दंभ और अहंकार का रूप देकर पूंजीवादी दल फायदा भी उठाता है, एक ही देश की जातियों को परस्पर लड़ाता है। इसलिए जातीय सम्मान की भावनाका सही विकास तब होता है जब एक ओर वह अपने ही रूढ़िवाद का विरोध करे और दूसरी ओर वह अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के साथ जुड़ी हो। शुक्लजी में ये दोनों बातें पायी जाती हैं। एक ओर तो वे दरबारी काव्य-परम्परा, चमत्कार आदि के कट्टर विरोधी है, दूसरी ओर उन्होंने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को विश्व-साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन का ही एक अंग बतलाते हुए इसे एक बहुत बड़ी बात कहा था।

भारत की सभी भाषाओं और उनके साहित्य पर सबसे पहले और सबसे ज्यादा दबाव अंग्रेजी भाषा और साम्राज्यवादी अंग्रेजों की संस्कृति का था। यहाँ पर अन्ध-विश्वासों को कायम रखने, सामन्ती अवशेषों को मजबूत बनाने और शिक्षा के नाम पर अंग्रेजी का आतंक जमाने और नौजवानों को अपने देश से विमुख करने मे सबसे ज्यादा प्रयत्नशील यहाँ के अंग्रेज शासक थे। इसलिए शुक्ली का वार सबसे पहले उन्हीं पर होता है। हम ऊपर देख चुके हैं, किस तरह उन्होने इस अंग्रेजी प्रचार का खंडन किया है कि हिन्दी गद्य का विकास अंग्रेजों की कृपा का फल था। शुक्लजी के विश्लेषण से सिद्ध हुआ कि हिन्दी गद्य का विकास यही के सामाजिक विकास का परिणाम था। इस तरह उन्होंने झूठे अंग्रेजी प्रचार का खंडन किया, जिस प्रचार से वे हिन्दी जनता के हितैषी होने का भ्रम फैला रहे थे, उसे दूर किया। मैकॉले और उससे प्रभावित हिन्दुस्तानियों के मन में यहाँ की भाषाओ के लिए उपेक्षा का भाव रहता था। इन लोगों ने जब अंग्रेजी में शिक्षा प्रचार का काम शुरू किया यानी अंग्रेजी राज के लिए अंग्रेजी पढ़े नौकर तैयार करने लगे तब यहाँ की भाषाओं को नीचा दर्जा दिया या उन्हें शिक्षा के ही अयोग्य समझा। इस परि-स्थिति की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने अपने इतिहास मे लिखा है: "देशी भाषा पढकर भी कोई शिक्षित हो सकता है, यह विचार उस समय तक लोगों का न था।" शुक्लजी उन देशभक्त लेखकों में थे जो यह सिद्ध करना चाहते थे कि देश-भाषा में शिक्षा जरूरी है और इसके बिना और सब शिक्षा अधूरी है।

अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में पहले हिन्दी के लिए किस तरह की उपेक्षा थी और वह कैसे दूर हुई, उसका रोचक वर्णन शुक्लजी ने गद्य साहित्य के प्रसार के सिल-सिले में किया है। भारतेन्दुकाल मे यह 'बहुत बड़ी शिकायत' रहा करती थी कि अंग्रेजी की ऊँची शिक्षा पाये हुए लोग हिन्दी की सेवा नहीं करते। द्विवेदी-युग में यह शिकायत कुछ दूर हुई और वह इस तरह : "उच्चशिक्षा-प्राप्त लोग धीरे-धीरे आने लगे, पर अधिकतर यह कहते हुए कि 'मुझे तो हिन्दी आती नही।' इधर से जवाब मिलता था, 'तो क्या हुआ ? आ न जायगी। कुछ काम तो शुरू कीजिए।" अंग्रेजों ने शिक्षित नौजवानों मे किस तरह गुलाम-जहनियत पैदा की थी, यह उसकी अच्छी मिसाल है। बुद्धिजीवी वर्ग को अपनी भाषा सिखाना आसान काम

नहीं था। बहुत-से अंग्रेजी पढ़े हिन्दी-सेवा के लिए बढ़ते थे, मानो उस पर उपकार करने के लिए, हिन्दी सीखने के लिए बिना जरूरी मेहनत किए हुए। इस पर शुक्लजी ने विनोद करते हुए लिखा है: "बहुत से लोगों ने हिन्दी आने के पहले ही काम शुरू कर दिया।" गलत-सही दो-चार चीजें लिख लेने पर वे लेखक बन जाते थे। "फिर उन्हें हिन्दी न आने की परवा क्यों होने लगी ?"

शुक्लजी ने जोर देकर लिखा है कि अंग्रेजी या संस्कृत या अरबी-फारसी जानने से हिन्दी की जानकारी नही हो जाती। हिन्दी का अपना जीवन है, अपनी विशेषताएँ है। इन्हें सीखे-समझे बिना कोई हिन्दी-लेखक नही बन सकता। उन्होने ऐसे लोगों को फटकारा है जो हिन्दी-लेखक होने की अपेक्षा अंग्रेजी, सस्कृत या अरबी-फारसी का विद्वान् कहने-कहलवाने में ज्यादा गौरव समझते थे। जो लोग भी हिन्दी का हित चाहते हैं और जिनमें जातीय सम्मान की भावना है, उन्हें शुक्ल-जी के ये वाक्य गाँठ बाँध लेने चाहिए। द्विवेदी-युग की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने लिखा है:

"इस कालखंड के बीच हिन्दी लेखकों की तारीफ में प्रायः यही कहा-सुना जाता रहा कि ये संस्कृत बहुत अच्छी जानते हैं, वे अरबी-फारसी के पूरे विद्वान् हैं, ये अंग्रेजी के अच्छे पण्डित हैं। यह कहने की आवश्यकता नही समझी जाती थी कि ये हिन्दी बहुत अच्छी जानते हैं। यह मालूम ही नही होता था कि हिन्दी भी कोई जानने की चीज है। परिणाम यह हुआ कि बहुत-से हिन्दी के प्रौढ़ और अच्छे लेखक भी अपने लेखो में फारसीदानी, अंग्रेजीदानी, संस्कृतदानी आदि का कुछ प्रमाण देना जरूरी समझने लगे थे।"

यह परिस्थिति अब भी बहुत कुछ कायम है। और यह तब तक पूरी तरह दूर न होगी जब तक हिन्दी-प्रदेश मे उद्योग-धन्धों का विकास न होगा, किसानों की हालत न सुधरेगी, जनता की निरक्षरता दूर न की जायगी और हिन्दीभाषी जनता अपना अलगाव दूर करके एक ही राज्य (या प्रान्त) में संगठित न होगी। जातीय संस्कृति के विकास का बहुत गहरा सम्बन्ध इन सब बातों से है। सामाजिक जीवन में जब तक ये तमाम साधन न होंगे, तब तक हिन्दी अपनी पूरी शक्ति से उन्नति न कर सकेगी।

शुक्लजी ने बताया कि कोश के सहारे अंग्रेजी का उल्था करके हिन्दी नहीं लिखी जा सकती। ऐसे लोग "हिन्दी और संस्कृत के शब्द-भर लिखते थे, हिन्दी भाषा नहीं लिखते थे।" इस रास्ते पर डॉ० नगेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, अज्ञेय, धर्मवीर भारती जैसे लेखकों ने अपनी आलोचना की भाषा में यह तरक्की की है कि उनके बहुत से शब्द न हिन्दी के होते हैं, न संस्कृत के। पहले अंग्रेजीदाँ लेखकों के वाक्य "अंग्रेजी भाषा की भावभंगी से परिचित लोग ही समझ सकते थे।" लेकिन इन विद्वानों के लिए यह भी नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि इलियट आदि इनके बहुत-से अंग्रेजी-अमरीकी धर्मगुरुओं की बात अंग्रेज और अमरीकी भी नहीं समझ पाते !

शुक्लजी ने हर बात में योरप की नकल करने का विरोध किया है। उनके रूपों को लेकर रूपवान बनने के बदले 'अपने स्वतन्त्र स्वरूप विकास' पर जोर दिया है। पच्छिम की चीजों का अध्ययन हम किस तरह करें, इसके बारे में उन्होंने लिखा है: "यदि हमें वर्तमान जगत् के बीच से अपना रास्ता निकालना है तो वहाँ के अनेक 'वादों' और प्रवृत्तियों तथा उन्हें उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का पूरा परिचय हमें होना चाहिए। उन वादों की चर्चा अच्छी तरह हो, उन पर पूरा विचार हो और उनके भीतर जो थोड़ा-बहुत सत्य छिपा हो उसका ध्यान अपने साहित्य के विकास में रखा जाये।" दूसरों से सीखते हुए अपने जातीय स्वरूप के विकास का यही रास्ता है। न तो अहंकार के मद में अपने को ही सब-कुछ समझना सही है, न अन्धे बनकर दूसरों की नकल करना सही है। अन्धे बनकर नकल करने को शुक्लजी ने ठीक ही अनाड़ीपन और जंगलीपन कहा है।

अंग्रेजी का गलत असर भाषा पर पड़ा। व्याकरण की तरफ लापरवाही के अलावा "अपनी भाषा की प्रकृति की पहचान न रहने के कारण कुछ लोग उसका स्वरूप भी बिगाड़ चले हैं। वे अंग्रेजी के शब्द, वाक्य और मुहावरे तक ज्यों-के-त्यों उठाकर रख देते हैं; यह नहीं देखने जाते कि भाषा हिन्दी हुई या और कुछ।" हिन्दी की अपनी प्रकृति है, उसको समझो, उसकी रक्षा करो, शुक्लजी ने बार-बार यही सीख दी है।

अंग्रेजी का दूसरा गलत असर उपन्यासों की विषयवस्तु पर पड़ा। यहाँ लेखकों का एक ऐसा दल पैदा हुआ जो "देश के सामान्य भारतीय जीवन से हटकर बिल-कुल योरपीय रहन-सहन के ढाँचे में ढले हुए एक बहुत छोटे-से वर्ग का जीवन-चित्र ही यहाँ से वहाँ तक अंकित करते हैं।" शुक्लजी के बाद ऐसे लेखकों की संख्या कुछ बढ़ी ही है, घटी नहीं। पहले अगर योरपीय रहन-सहन वाले एक छोटे वर्ग का चित्रण होता था—लेकिन होता था हिन्दी में—तो अब 'नदी के द्वीप' के प्राणी अपने प्रेम का इजहार भी अंग्रेजी कविताओं द्वारा करते हैं! ये सब लेखक प्रेमचन्द की जातीय परम्परा के विरोधी हैं। ये जातीय जीवन की धारा से दूर रेत पर सूखते हुए घोंघे हैं। प्रेमचन्द के लिए शुक्लजी ने लिखा था: "प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में भी निम्न और मध्यम श्रेणी के गृहस्थों के जीवन का बहुत सच्चा स्वरूप बराबर मिलता रहा।" इसीलिए जनता के सामान्य जीवन से दूर रहने वाले लेखकों के लिए शुक्लजी ने लिखा है: "देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करना हम अच्छा नहीं समझते।" शुक्लजी की यह बात सही है तो असली सामाजिक जीवन की उपेक्षा करने वाले और उसके बदले घटिया अंग्रेजी उपन्यासों की नकल पर रोमांस रचने वाले लेखकों की बराबर आलोचना की जायगी और यह कार्य आवश्यक और उचित होगा।

आधुनिक अंग्रेजी साहित्य में जो निराशा और दुःखवाद के रुझान हैं, उनका भी घातक प्रभाव कुछ हिन्दी लेखकों पर पड़ा है। कुछ लोग हिन्दी के अभावों की पूर्ति के लिए दुःखवाद की माँग भी करने लगे। ऐसे लोगों को फटकारते हुए शुक्ल-

जी ने लिखा : "बौद्धों के दुःखवाद का संस्कार किस प्रकार जर्मनी के शोपनहावर से होता हुआ हार्डी तक पहुँचा, यह भी जानना चाहिए।" शुक्लजी साहित्य में आशा, उल्लास, जीवन में आस्था, मानव-शक्ति में विश्वास के हामी थे, निराशा-वाद, पस्ती और रोने-झींकने के नहीं। आधुनिक हिन्दी साहित्य का पहला युग अपनी जिन्दादिली के लिए प्रसिद्ध था। उसे अपने जातीय गुण की तरह साहित्य में पल्लवित करना चाहिए, शुक्लजी की यही इच्छा थी।

शुक्लजी के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का प्रमाण यह है कि पच्छिम के शुद्ध कला-वादियों और निराशावादियों का विरोध करते हुए उन्होंने शेली और बर्न्स जैसे जनवादी कवियों की प्रशंसा की है। जहाँ अंग्रेजी के पतनशील कवियों का विरोध किया है वहाँ शेली की क्रान्तिकारी चेतना की दाद दी है, बर्न्स की सच्ची रोमांटिक भावधारा से सीखने पर जोर दिया है। उन्होंने जर्मनी के भाववादी सौन्दर्यशास्त्रियों का खंडन किया है (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६८४), साथ ही वहाँ के महान् कवि गेटे की प्रशंसा भी की है। अच्छे कवि कुछ खास तरह के मतवाले नही होते, इस प्रसंग में उन्होंने लिखा है : "योरप में गेटे और वर्ड्सवर्थ के समय तक 'मतवालेपन' और 'फक्कड़पन' की इस भावना का कवि और काव्य के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं समझा जाता था। जर्मन कवि गेटे बहुत ही व्यवहार-कुशल राजतीतिज्ञ था, इसी प्रकार वर्ड्सवर्थ भी लोक-व्यवहार से अलग एक रिंद नहीं माना जाता था।"

बंगाल के गलत प्रभाव से सावधान करते हुए शुक्लजी ने उसके सही प्रभाव का भी उल्लेख किया, वहाँ के साहित्यिकों से सीखने पर जोर दिया। बंगला से हिन्दी के कुछ लेखकों ने जहाँ अतिरंजित शैली और हिन्दी के लिए भोंडे शब्द लिये, वहाँ बंगला के प्रभाव से "बहुत ही परिमार्जित और सुन्दर संस्कृत पद-विन्यास की परम्परा हिन्दी में आई, यह स्वीकार करना पड़ता है।" बंगला कविता के रहस्य-वाद का विरोध करते हुए उन्होंने रवीन्द्रनाथ के लोकपक्ष का समर्थन किया है; "ऐतिहासिक उपन्यास किस ढंग से लिखना चाहिए, यह प्रसिद्ध पुरातत्वविद् श्री राखालदास वंद्योपाध्याय ने अपने 'करुणा', 'शशांक' और 'धर्मपाल' नामक उप-न्यासों द्वारा अच्छी तरह दिखा दिया।" शुक्लजी संकुचित राष्ट्रवादी नहीं थे। उन्होंने कहीं भी बंगाली होने से ही बंगालियों का विरोध नही किया, रहस्यवाद और संस्कृत-गर्भित शैली का विरोध करने के साथ उनकी कई विशेषताओं से सीखने पर भी जोर दिया है।

अरबी-फारसी शब्दों से लदी हुई उर्दू का उन्होंने विरोध किया है, साथ ही बाण और दण्डी की नकल पर चलने वाली गोविन्दनारायण मिश्र की हिन्दी का भी उन्होंने विरोध किया है। बालमुकुन्द गुप्त ने उर्दू से कुछ सीखा, यह उन्होंने स्वीकार किया। उन्होंने न केवल जायसी आदि पुराने कवियो को— जिनकी पुस्तकें फारसी लिपि में थीं— वरन् नजीर जैसे बाद के और खड़ीबोली के कवि की चर्चा भी अपने इतिहास में की। उनके इस संकेत पर हिन्दी-उर्दू का मिला-जुला और

विस्तृत अध्ययन करना जरूरी है।

इस तरह शुक्लजी ने हिन्दी की अपनी प्रकृति पहचानना सिखाया, अंग्रेजी, संस्कृत या फारसी की बदौलत हिन्दी का लेखक बनने से सावधान किया, अंग्रेजी के गलत रुझानों से बचते हुए उसकी प्रगतिशील धारा से सम्बन्ध जोड़ना सिखाया, भारत की दूसरी भाषाओं से नकल न करके उनकी उपयोगी विशेषताओं से सीखने का मार्ग दिखाया और सबसे बड़ा काम यह किया कि अंग्रेजी भाषा और संस्कृत के दबाव के आड़े आकर हिन्दी के जातीय सम्मान की रक्षा की और अपनी रचनाओं से उसे और भी समृद्ध किया।

तीसरी समस्या कविता, नाटक, उपन्यास आदि साहित्य के विभिन्न रूपों की है। इनमें शुक्लजी को सबसे प्रिय कविता थी। अपने इतिहास मे उन्होंने अधिकतर कवियों का ही विवेचन किया है; तुलसी, जायसी और सूर पर उनकी पुस्तकें और निबन्ध कवियों से ही सम्बन्धित हैं। उनके ज्यादातर सैद्धान्तिक विवेचन का आधार भी कविता है। किसी समय साहित्य शब्द काव्य का पर्यायवाची था। अब भी पूरब और पच्छिम की बहुत-सी आलोचना में काव्य को साहित्य और कला का पर्यायवाची मानकर उसका विवेचन किया जाता है। कहीं-कहीं साहित्य को कथासाहित्य तक सीमित करके सिद्धान्त-चर्चा करने का रुझान भी देखा जाता है। 'कविता क्या है?' जैसे निबन्धों में शुक्लजी ने कविता के बारे में जो बातें कही हैं, वे प्रायः सब-की-सब साहित्य के दूसरे रूपों या अंगों पर भी लागू होती है।

कविता में भी शुक्लजी प्रबन्ध-काव्य को श्रेष्ठ समझते थे। जायसी की भूमिका में प्रबन्ध और मुक्तक की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है: "यदि कोई इसके विचार का आग्रह करे कि प्रबन्ध मुक्तक इन दो क्षेत्रों में कौन अधिक महत्त्व का है, किसी क्षेत्र में कवि की सहृदयता और भावुकता की पूरी परख हो सकती है तो हम बार-बार वही बात कहेंगे जो गोस्वामीजी की आलोचना में कहआये हैं अर्थात् प्रबन्ध के भीतर आई हुई मानव-जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के साथ जो अपने हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा सके वही पूरा और सच्चा कवि है।"

शुक्लजी की धारणा यूनानी विचारक अरस्तू से मिलती-जुलती है। अरस्तू के लिए काव्य मानव-कर्मों की छवि है। मानव-कर्मों के चित्रण से काव्य में सहज नाटकीयता आ जाती है। यदि कविता केवल हृदय का उद्‌गार-मात्र नही है वरन् मानव-जीवन का व्यापक दर्पण है तो उसमें घटनाओं, चरित्रों, स्थानों आदि का चित्रण और वर्णन अवश्य होगा। इस तरह की कविता मुक्तक भी हो तो वह नाटकीय होगी। सूर और मीरा के पदों मे, तुलसी, रसखान, रहीम आदि के छन्दों में अधिकतर यही नाटकीयता पाई जातीहै। इसके साथ ही सूर और तुलसी में आत्मोद्‌गार भी हैं, न केवल पदों में वरन् जगह-जगह रामचरितमानस जैसे प्रबन्ध काव्य में भी। शुक्लजी ने प्रबन्ध-काव्य को श्रेष्ठ बताकर साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण रूप की ओर हिन्दी साहित्यकारों का ध्यान ठीक ही आकर्षित किया है। अंग्रेजी की रोमांटिक कविता के प्रभाव से कविता को आत्मोद्‌गार मानने का

चलन-सा हो गया था। पूंजीवादी विचारधारा में व्यक्तिवाद को जो प्रमुखता दी जाती है—जिसका अर्थ व्यक्तित्व का विकास नहीं होता क्योंकि यह विकास भरे-पूरे सामाजिक जीवन पर निर्भर है—उसका असर भी इस आत्मोद्‌गारवाद पर रहा है। शुक्लजी ने साहित्य के लोकपक्ष पर जोर दिया है, उसका यह सहज परिणाम है। फिर भी हर मुक्तक लिखने वाला व्यक्तिवादी ही हो, यह जरूरी नहीं है। आत्मोद्‌गार का लोकपक्ष हो सकता है; स्वान्तःसुखाय और लोकहिताय में कोई अनिवार्य शत्रुता नहीं है।

साहित्य के अन्य रूपों को देखते हुए हिन्दी में नाटकों का विकास कम हुआ है। शुक्लजी ने हिन्दी नाटकों की कुछ विशेषताएँ बतलाई हैं। हिन्दी-गद्य-साहित्य के विकास में नाटकों का भी हाथ रहा है। भारतेन्दु ने हिन्दी नाटकों में पुरानी पद्धति बहुत कुछ कायम रखते हुए उसमें आवश्यक सुधार भी किये। हिन्दी में रंग-मंच न होने से भारतेन्दु के बाद नाटकों का उचित विकास न हो सका। शुक्लजी यह जरूरी समझते थे कि नाटक अभिनय के योग्य हों।

बद्रीनारायण चौधरी के 'भारत सौभाग्य' की आलोचना उन्होंने अभिनय को ध्यान में रखते हुए की है। "पात्र इतने अधिक और इतने प्रकार के हैं, अभिनय दुस्साध्य ही समझिए।"

शुक्लजी ने विदूषकों के परम्परागत हास्य को कैसे कृत्रिम बतलाया था, यह हम पहले देख चुके हैं। इतिहास में गद्य-साहित्य की वर्तमान गति की चर्चा करते हुए उन्होंने विदूषक-हास्य की तारीफ भी कर दी है। यहाँ वह हास्य और करुणा का विरोध दिखलाने और हास्य को आनन्दात्मक सिद्ध करने के फेर में अपने यथार्थवादी आसन से डिग गये हैं। उन्होंने यहाँ तक लिख दिया है: "दया या करुणा दुःखात्मक भाव है, हास आनन्दात्मक। दोनों की एक साथ स्थिति बात ही बात है।" मानव-जीवन में करुणा और आनन्द का ऐसा विरोध नहीं दिखाई देता और शेक्सपियर जैसे नाटककारों की रचनाओं से भी यही सिद्ध होता है कि घोर करुण नाटक में भी हास्य गौण रूप में रह सकता है। प्रसादजी के नाटकों की आलोचना करते हुए शुक्लजी ने विदूषक की वैज्ञानिकता की धारणा वापस लेते हुए ठीक लिखा है: "एक बात बहुत अच्छी यह हुई है कि पुराने नाटकों में दरबारी विदूषक नाम का जो फालतू पात्र रहा करता था, उसके स्थान पर कथा की गति से सम्बद्ध कोई पात्र ही हँसोड़ प्रकृति का बना दिया जाता है।" यहाँ वह अपनी प्रकृत यथार्थवादी भूमि पर हैं। नाटक-रचना को स्वाभाविक बनाने के लिए यह जरूरी है कि 'फालतू पात्र' के बदले 'कथा की गति से सम्बद्ध' कोई पात्र रहे।

नाटक का उद्देश्य क्या है? हमारे यहाँ नाटक को भी काव्य कहा जाता रहा है। नाटक और काव्य के रूपों में अन्तर क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर शुक्लजी ने भारतीय साहित्यशास्त्र का हवाला देकर नाटक का लक्ष्य बतलाते हुए दिया है, "उसका लक्ष्य भी निर्दिष्ट शीलस्वभाव के पात्रों को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में डालकर उनके वचनों और चेष्टाओं द्वारा दर्शकों में रस-संचार कराना ही रहा

है।" नाटक और काव्य, दोनों ही का उद्देश्य रस-संचार कराना है। पात्रों का भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पड़ना नाटक और प्रबन्ध-काव्य दोनों ही की विशेषता है। लेकिन पात्रों के वचनों और चेष्टाओं द्वारा दर्शकों में रस-संचार करना नाटकों की अपनी विशेषता है। जैसे काव्य-चर्चा में, वैसे ही नाटक-चर्चा में शुक्लजी ने रस-सिद्धान्त को सूत्ररूप में ही लिया है, संस्कृत साहित्य में उसके विशेष विस्तार को स्वीकार नहीं किया। रीतिकाव्य की तरह नाटक लिखने के लिए भी लक्षण-ग्रन्थ रचे गये थे। वास्तव में काव्य से पहले नाटकों के बारे में ही लक्षण-ग्रन्थों की रचना हुई थी। (नाटक को भी काव्य माना गया, वह दूसरी बात है।) संस्कृत नाटकों पर रीतिग्रन्थों के प्रभाव का यह फल हुआ था: "पात्रों के धीरोदात्त आदि बँधे हुए ढाँचे थे जिनमें ढले हुए सब पात्र सामने आते थे। इन ढाँचों के बाहर शील-वैचित्र्य दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता था।" बाण और दण्डी के गद्य के अलावा यह दूसरी जगह शुक्लजी ने संस्कृत साहित्य की रूढ़ि-विशेष का खण्डन किया है। साहित्य में उन्होंने कितनी दृढ़ता से रीतिग्रन्थों का विरोध किया है, उसी का यह एक और प्रमाण है। साथ ही यथार्थवाद के नाम पर नाटकों से काव्यत्व हटा दिया जाये, यह भी उन्हें सह्य नहीं है। योरप में नाटक को जो शुद्ध गद्यात्मक बनाने की प्रवृत्ति रही थी, शुक्लजी उसे वांछनीय न समझते थे। नाटक में काव्यत्व की रक्षा भी हो और चरित्र-विधान भी यथार्थ हो, हिन्दी नाटकों के लिए उन्होंने यही मार्ग ठीक बतलाया है। "हमारे यहाँ के पुराने ढाँचों के भीतर शील-वैचित्र्य का वैसा विकास नहीं हो सकता था, अतः उनका बंधन हटाकर वैचित्र्य के लिए मार्ग खोलना तो ठीक है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके साथ ही रसात्मकता भी हम निकाल दें।"

शुक्लजी के लिए काव्यत्व की रक्षा का अर्थ यह न था कि नाटक के पात्र गद्य-काव्य ही में बातें करें और मौके-बेमौके गाना गाने लगें। प्रसादजी में इस तरह के दोष दिखलाते हुए उन्होंने लिखा है कि भावुकता की अधिकता से कथोपकथन कई स्थलों पर नाटकीय न होकर वर्तमान गद्य-काव्य के खण्ड हो गये हैं। "बीच-बीच में जो गाने रखे गये है वे न तो प्रकरण के अनुकूल हैं, न प्राचीन काल की भाव-पद्धति के।"

नाटक की कथावस्तु में समय के अतिशय विस्तार को भी उन्होंने अनुचित माना है। बीस-पच्चीस साल की अवधि नाटकों में न होनी चाहिए; जो पात्र युवक के रूप में नाटक के आरम्भ में दिखाई पड़े, वे नाटक के अन्त मे भी उसी रूप में सामने आते हैं। इससे दर्शक यह शंका कर सकता है कि पच्चीस साल मे ये क्या वैसे ही बने हुए हैं?

शुक्लजी ने कथावस्तु के गठन के सिलसिले में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है: "बहुत से भिन्न-भिन्न पात्रों से सम्बद्ध घटनाओं के जुड़ते चलने के कारण बहुत कम चरित्रों के विकास का अवकाश रह गया है।" यह एक ऐसा दोष है जो नाटकों के अलावा हिन्दी और अन्य भाषाओं के भी बहुत से उपन्यासों में पाया

जाता है। चरित्रों के विकास का अवकाश होना चाहिए, वरना वे चरित्र पाठकों को याद न रहेंगे, उनके अविकसित रहने से उपन्यास अधूरा लगेगा, पाठक को तृप्ति न होगी, वह लेखक की जल्दबाजी को कोसेगा। इसीलिए वर्तमान नाटककारों और उपन्यास-लेखकों के लिए शुक्लजी का सूत्र महत्त्वपूर्ण है।

शुक्लजी ने एक ओर जहाँ नाटक-रचना के पुराने बन्धन ढीले करके उसमें शील-वैचित्र्य लाने पर जोर दिया है, वहाँ नाटक का रूप विकृत न हो, नाटक नाटक ही रहे, यह भी जरूरी समझा है। पन्तजी की 'ज्योत्स्ना' शेली के ढंग पर लिखी गई है। लेकिन शेली में जहाँ "आधिदैविक शासन से मुक्ति और जगत् के स्वातन्त्र्य का एक समन्वित प्रसंग" है, वहाँ पन्तजी में "बहुत दूर तक केवल सौन्दर्य-चयन करने वाली कल्पना मनुष्य के सुख-विलास की भावना के अनुकूल" सामग्री जुटाती है। पन्तजी का यह मूल सौन्दर्यवादी—लोक-विमुख कलावादी—रूप है जिसका जिक्र शुक्लजी ने उनकी कविता के सिलसिले में भी किया था। "उसके उपरान्त आजकल की हवा में उड़ती हुई कुछ लोक-समस्याओं पर कथोपकथन हैं।" 'हवा में उड़ती हुई'—पंतजी के लोकवाद का उथलापन सूचित करने के लिए शुक्लजी की यह मार्मिक उक्ति है। वे लोक-समस्याएँ पन्तजी के लिए कितनी हवाई थीं, यह अब पूरी तरह साबित हो गया है। पन्तजी के सौन्दर्यवाद और हवाई लोकवाद के मेल से नाटक नहीं रचा जा सकता। 'ज्योत्स्ना' के लिए शुक्लजी कहते हैं: "सब मिलाकर क्या है, यह नहीं कहा जा सकता।"

रूढ़िवादियों और नैतिकतावादियों की तरह शुक्लजी ने उपन्यास को आलसियों का व्यसन और चरित्र बिगाड़ने का साधन नहीं समझा। वह उपन्यास को एक बहुत बडी शक्ति मानते थे, उसे समाज-सुधार का प्रबल अस्त्र समझते थे। साथ ही उन्होंने उपन्यास की वह विशेषता भी परख ली थी जो उसे साहित्य के अन्य अंगों से अलग करती है। नाटक, उपन्यास आदि निर्माण-कला में एक-दूसरे से भिन्न हैं, यह तो सभी जानते हैं और इस पर बहुत कुछ लिखा गया है लेकिन ये रूप मानव-जीवन को किस तरह प्रतिबिम्बित करते हैं, यह प्रतिबिम्ब सभी रूपों में एक-सा नहीं रह सकता, न रहता है, इसकी ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है: "वर्तमान जगत् में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न करते हैं।" उपन्यास की विशेषता है, विस्तृत प्रत्यक्षीकरण। उपन्यास में जितने विस्तार से समाज की गतिविधि का चित्रण किया जा सकता है, उतने विस्तार से न तो कविता में सम्भव है, न नाटक में। यही कारण है कि साहित्य में यथार्थवाद के विकास के साथ-साथ उपन्यास भी उसका मुख्य रूप बन गया है। यह एक सूत्र हुआ। दूसरा सूत्र यह है कि उपन्यासकार का कर्त्तव्य है कि व्यक्तिवाद के दायरे में चक्कर न लगाकर "भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो

रही हैं" उनका चित्रण करे। ऐसा न करने पर उपन्यास में विस्तृत प्रत्यक्षीकरण असम्भव है। वर्गों का उल्लेख आकस्मिक नही है। कथावस्तु और उद्देश्य के अनुसार उपन्यासों का विभाजन करते हुए उन्होंने एक किस्म यह बतलाई है : "समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों की परस्पर स्थिति और उनके संस्कार चित्रित करने वाले, जैसे प्रेमचन्दजी का 'रंगभूमि', प्रसादजी का 'कंकाल', 'तितली'।" प्रेमचन्द और प्रसाद के उपन्यासों में शुद्ध मानव-चित्रण के बदले वर्गों की परस्पर स्थिति पर विचार करना शुक्लजी की आलोचना-पद्धति के खिलाफ नहीं है, उसके अनुकूल है। जिन लोगों को वर्ग शब्द ही से मार्क्सवाद और रूस की गन्ध आने लगती है, वे शुक्लजी के वाक्य पर गम्भीरता से विचार करें। उनके वाक्य में संस्कार शब्द भी बड़े मार्के का है। संस्कारों के चित्रण के बिना वर्गों और उनके प्रतिनिधियों की संस्कृति समझ में नहीं आ सकती; उपन्यास गहराई से सामाजिक जीवन का चित्र नहीं दे सकता।

शुक्लजी का आग्रह है कि उपन्यासकार अपना ध्यान सर्वसामान्य जीवन पर केन्द्रित करें। थोड़े से लोगों के विशेष प्रकार के जीवन का चित्र देकर कोई बड़ा उपन्यासकार नहीं बन सकता। "देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करना हम अच्छा नहीं समझते।" इस कसौटी पर उन्होंने प्रेमचन्द के यथार्थ चित्रण की तारीफ की है; इसी कसौटी पर बँगला से अनुवादित उन उपन्यासों की तारीफ की है जिनमें "देश के सर्वसामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।" भारतीय उपन्यासों की यह प्रगतिशील और मौलिक प्रवृत्ति है। इसके विरुद्ध मुट्ठी-भर साधन-सम्पन्न व्यक्तियों की विकृत कामवासनाओं का चित्रण करने वाले उपन्यास कभी भी भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते।

शुक्लजी ने ऐतिहासिक उपन्यासों को रोमांटिक कल्पना का खेल नहीं माना; वे अतीत को गलत-सही ढंग से रँग-चुनकर पेश करने का साधन न बनने चाहिए। जिस युग का भी चित्रण करना है, लेखक को उसकी सामाजिक स्थिति और संस्कृति का ज्ञान जरूर होना चाहिए। उन्होंने लिखा है : "जब तक भारतीय इतिहास से भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन करने वाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करने वाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं।" भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति, अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन, सूक्ष्म ब्यौरों की उद्भावना—शुक्लजी ऐतिहासिक उपन्यास लिखना बहुत ही जिम्मेदारी का काम समझते थे। यहाँ भी उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रधान है; ऐतिहासिक उपन्यासों का मूल उद्देश्य सामाजिक स्थिति और संस्कृति का चित्रण है। कल्पना इस काम में सहायक होती है लेकिन सबसे पहले जरूरी है किसी भी युग का विशेष अध्ययन। इस कसौटी पर श्री वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों को परखते

हुए शुक्लजी ने लिखा है : "उन्होंने भारतीय इतिहास के मध्ययुग के प्रारम्भ में बुन्देलखण्ड की स्थिति लेकर 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी' नामक दो बड़े सुन्दर उपन्यास लिखे हैं। 'विराटा की पद्मिनी' की कल्पना तो अत्यन्त रमणीय है।" यहाँ शुक्लजी ने वर्माजी की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है, मध्ययुग का ज्ञान, बुन्देलखंड की स्थिति का विशेष ज्ञान और रमणीय कल्पना। वर्माजी के उपन्यासों की सजीवता का कारण बुन्देलखण्ड के जनजीवन और इतिहास की जानकारी और उससे प्रेम है, इसमें सन्देह नहीं। प्रेमचन्द के साथ वह युग के श्रेष्ठ भारतीय साहित्यकारों में हैं।

शुक्लजी ने उपन्यासों के मुकाबले कहानियों के विकास को "और भी विशद और विस्तृत" बतलाया है, इस विकास में "कवियों का भी पूरा योग रहा है," यह विशेषता बतलाई है। पच्छिमी कहानी-शास्त्र के आधार पर हिन्दी कहानियों की छानबीन करने वालों को सावधान करते हुए उन्होंने लिखा है : "उनके इतने रूप-रंग हमारे सामने आए हैं कि वे सब अब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते।"

उपन्यासों की तरह शुक्लजी निबन्धों को भी साहित्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे। "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।" कारण यह कि उपन्यास या कहानी की तरह लेखक पर कथावस्तु आदि का प्रतिबन्ध नहीं रहता। अंग्रेजी में जो लेखक अपने गद्य के लिए प्रसिद्ध हैं, वे प्रायः निबन्धकार हैं। अंग्रेजी गद्य को बहुत कुछ व्यवस्थित करने वाले ऐडीसन और स्टील निबन्ध-लेखक ही थे। इसी विचार से उन्होंने प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के लिए लिखा है कि उन्होंने "हिन्दी गद्य-साहित्य में वही काम किया है जो अंग्रेजी गद्य-साहित्य में ऐडीसन और स्टील ने किया था।" पच्छिम के व्यक्तिगत विशेषता वाले निबन्धों को कुछ शर्तों के साथ उन्होंने ग्राह्य माना है। व्यक्तिगत विशेषता का यह अर्थ न होना चाहिए कि "विचारों की शृंखला रखी ही न जाये" या 'लोकसामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे।" निबन्ध-लेखक को—वैज्ञानिक के विपरीत—"अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से" विचरने की सुविधा होनी चाहिए लेकिन कहने के लिए उसके पास कुछ महत्त्व की बात भी होनी चाहिए। "जहाँ गतिशील अर्थ की परम्परा नहीं," वहाँ निबन्ध अपना साहित्यिक रूप खोकर सिर्फ एक तमाशा बन जायेगा। शुक्लजी ने भारतेन्दु-युग में निबन्धों के विकास का उल्लेख करते हुए बाद को अच्छे निबन्ध न लिखे जाने पर खेद प्रकट किया है। हिन्दी में यदि कुछ अपनी विशेषताएँ लिये हुए निबन्ध-रचना का कार्य आगे बढ़ाना है, तो भारतेन्दु-युग के निबन्ध साहित्य का अध्ययन करके उस परम्परा का उद्धार करना जरूरी होगा।

साहित्य के रूपों के सिलसिले में आखिरी बात आलोचना के बारे में है। शुक्लजी स्वयं आलोचक थे, इसलिए इस विषय पर उन्होंने विस्तार से विचार

किया है। यहाँ उन्होंने रूढ़िवाद का बहुत ही स्पष्ट और तीव्र खण्डन किया है। बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों को उन्होंने नई आलोचना का जन्मदाता कहा है। शुक्लजी से पहले यह नई आलोचना बहुत ही अविकसित दशा में थी; जो आलोचना फली-फूली थी, वह रीतिकालीन परम्परा का ही विस्तार थी। शुक्लजी ने इस निर्जीव परम्परा के खण्डन की ओर विशेष ध्यान दिया। इसकी थोड़ी-सी चर्चा रीतिकाव्य वाले अध्याय में हो चुकी है। संस्कृत साहित्यालोचन की सीमाएँ बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि इसका उद्देश्य लक्षण ग्रन्थों के अनुसार गुण-दोष-विवेचन होता था। एक आचार्य दूसरे का खण्डन करना चाहता था तो उसके प्रशंसित पदों को दोष दिखाने के लिए उद्धृत करता था और जिन्हें खुद अच्छा समझता था उन्हें रस, अलंकार आदि का उदाहरण बनाता था। "साहित्य-दर्पण-कार ने शृंगार रस के उदाहरण में 'शून्यं वासगृहं विलोक्य' यह श्लोक उद्धृत किया, रस-गंगाधर-कार ने इस श्लोक में अनेक दोष दिखलाए और उदाहरण मे अपना बनाया श्लोक भिड़ाया।" संस्कृत-आलोचना में जहाँ इस तरह की रूढ़ियाँ हैं, वहाँ उनसे बाहर विशद सैद्धान्तिक चर्चा और अनेक कवियों की प्रतिभा की मार्मिक व्याख्या भी है। इस सिलसिले में अभिनवगुप्त, मम्मट और मल्लिनाथ का नाम लेना काफी होगा।

हिन्दी रूढ़िवादी आलोचना के बारे में उनका यह मत ज्यादा सही है कि "मिश्रबन्धुओं और पंडित पद्मसिंह शर्मा ने अपने ढग पर कुछ पुराने कवियों के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए। पर यह सब आलोचना अधिकतर बहिरंग बातों तक ही रही। भाषा के गुण-दोष, रस-अलंकार आदि की समीचीनता, इन्हीं सब परम्परागत विषयों तक पहुँची।" इस तरह की आलोचना कवि-प्रतिभा की मार्मिक व्याख्या करने मे असमर्थ थी। पण्डितों में प्रचलित पुराने ढंग की आलोचना की मिसाल उन्होंने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से दी है। संस्कृत कवियों पर उनकी रचनाओं के बारे में लिखा है: "इनमें कुछ तो पंडित-मण्डली में प्रचलित रूढ़ि के अनुसार चुने हुए श्लोकों की खूबियों पर साधुवाद हैं (जैसे, क्या उत्तम उत्प्रेक्षा है!) और कुछ भिन्न विद्वानों के मतों का संग्रह।" एक मोहल्ले की बात दूसरे मोहल्ले वालों को मालूम हो गई, इस तरह की आलोचना का इतना ही मूल्य शुक्लजी ने स्वीकार किया है।

मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्न' को एक ही वाक्य-बाण से बेधते हुए उन्होंने लिखा है कि इसमें "सबसे बढ़कर नई बात यह थी कि 'देव' हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं।" देव-बिहारी विवाद नयी आलोचना के विकास के लिए कितना निरर्थक था, यह शुक्लजी ने विस्तार से दिखाया है। इसका कारण यह है कि इस विवाद से साहित्य की उन मूल समस्याओं का समाधान न होता था, वरन् उनसे ध्यान हट जाता था, जो नये हिन्दी साहित्य के विकास के सिलसिले में उठ रही थी। हिन्दी आलोचना का मौलिक कर्तव्य यह था—और शुक्लजी ने उसे पूरा किया: रीतिशास्त्र के बदले यथार्थवाद के अनुकूल नये साहित्य-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा,

रूढ़िवादी साहित्य का विरोध और नये राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य का समर्थन। इस कर्तव्य को ध्यान में रखते हुए ही शुक्लजी ने दूसरे आलोचकों की नुक्ताचीनी की थी। पद्मसिंह शर्मा की अनूठी शैली, विद्वत्ता आदि की प्रशंसा करने के बाद उन्होंने लिखा है : "शर्माजी की यह समीक्षा भी रूढ़िगत (Conventional) है।" वह दूसरे शृंगारी कवियों से भिन्न बिहारी की विशेषताएँ नहीं दिखा पायी, उनकी 'अन्त प्रवृत्तियों के उद्घाटन' का प्रयत्न नहीं कर पायी और इसमें सबसे बड़ा दोष था, "बिना जरूरत के जगह-जगह चुहलबाजी और शाबाशी का महफिली तर्ज।"

पुरानी रूढ़ियों के साथ कुछ नयी रूढ़ियों का भी जन्म हो रहा था। आलोचना में संगत तर्क-पद्धति की जगह गद्य-काव्य रचने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी। "कविता देवलोक के मधुर संगीत की गूंज है," इस तरह के वाक्यों का मजाक उड़ाते हुए शुक्लजी ने "घोर विचार-शैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलने" के खतरे से हिन्दी लेखकों को सावधान किया है।

शुक्लजी ने आलोचना के रूप पर विचार करते हुए अलंकार और रस-निरूपण वाली पद्धति की सीमाएँ बतलाईं, साहित्य की मार्मिक व्याख्या करने पर जोर दिया, आलोचना को गद्य-काव्य बनने से बचाकर उसे तर्क-योजना के सहारे आगे बढ़ने का मार्ग दिखाया। 'भावुकता की सजावट' और आलोच्य विषय के चारों ओर 'चमचमाता वाग्जाल' बिछाने वालो की संख्या कम नही हुई, कुछ बढ़ी है। इसलिए शुक्लजी की सीख पर बराबर ध्यान देना अब भी आवश्यक है।

निबन्ध-रचना, शैली और व्यक्तित्व

'चिन्तामणि' में शुक्लजी के दस निबन्ध ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यत: मनोविज्ञान से है। ये निबन्ध शुक्लजी के साहित्यालोचन का मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट करते हैं। हम पहले देख चुके हैं कि शुक्लजी की आलोचना-पद्धति न तो रीतिशास्त्रों का अनुसरण करती है, न पच्छिम के काव्यशास्त्र का। इसलिए मनोविज्ञान के बारे में उनकी स्थापनाएँ और भी दिलचस्प हो जाती है। इनमें न तो शुक्लजी ने रीतिशास्त्र के भाव-विवेचन को अपना आधार बनाया है, न पच्छिम के मनोविज्ञान को। उनकी स्थापनाएँ मौलिक हैं और न केवल साहित्यशास्त्र को, वरन् मनोविज्ञान और समाजशास्त्र को भी महत्वपूर्ण देन हैं।

पच्छिम के मनोविज्ञान की मूल प्रवृत्ति व्यक्तिवाद को लेकर चली है। उनका मुख्य रुझान व्यक्ति को समाज से, उसके वर्ग से अलग करके उसके मनोविकारों का अध्ययन करना रहा है। मनोविज्ञान की कुछ धाराएँ जड़ भौतिकवाद को लेकर चली हैं। वैज्ञानिक भौतिकवाद के विपरीत ये धाराएँ मनुष्य को निष्क्रिय पदार्थ मानकर, उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति और चिन्तन को कोई जगह न देकर उसे परिस्थितियों का नपा-तुला परिणाम मात्र मान लेती हैं। विहेवियरिस्ट धारा यान्त्रिक भौतिकवाद की धारा है जो मनुष्य की हर क्रिया को परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मानकर चलती है। इसी अवैज्ञानिक विचारधारा से मिलता-जुलता फ्रायड आदि का मनोविश्लेषण है जो प्राय: मनुष्य की हर क्रिया के पीछे उसकी दमित कामवासना का खेल देखता है। भारतीय भाववादी दर्शन का रुझान ज्ञान और भावना को मनुष्य के सामाजिक जीवन, उसके सामाजिक व्यवहार से अलग करके देखने का है। यह रुझान भारतीय दर्शन की एकमात्र धारा नहीं है। हमारे दर्शन में वस्तुवाद की ओर उन्मुख और धाराएं भी हैं लेकिन रीतिशास्त्र पर इनका प्रभाव नहीं पड़ा, मुख्य प्रभाव भाववादी दर्शन का पड़ा है। नतीजा यह कि इस तरह के दर्शन से जो मनोविज्ञान और साहित्यशास्त्र प्रभावित होगा, वह भावों का सम्बन्ध मनुष्य के व्यवहार से न जोड़ सकेगा, वह यह न दिखला सकेगा कि भावों

का सामाजिक आधार क्या है; कौन से भाव अच्छे हैं, कौन से बुरे; भावों का सामाजिक परिणाम क्या होता है; उनका प्रभाव मनुष्य के सामाजिक जीवन पर क्या पड़ता है, इत्यादि। उनकी प्रवृत्ति साहित्य को लोक-जीवन से अलग करके देखने, रस या आनन्द को मानव-संस्कारों से दूर रखने, शुद्ध कला या लोकोत्तर आनन्द की व्याख्या करने की ओर होगी। शुक्लजी का मनोविज्ञान और साहित्य-शास्त्र इससे विरोधी दशा में विकसित होता है।

मनुष्य के हृदय में भाव क्यों पैदा होते हैं? इनका सम्बन्ध किसी शुद्ध आत्मा या अशुद्ध माया नाम की वस्तु से है या इनका स्रोत मनुष्य के सामाजिक व्यवहार, उसके भौतिक जीवन में ढूँढ़ना चाहिए? शुक्लजी का कहना है: "संसार-सागर की रूप-तरंगो से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।" (रसात्मक बोध के विविध रूप)

मनुष्य के भावों का विधान संसार की रूप-गति में हुआ है। उनका आधार मनुष्य का भौतिक जीवन है, उससे अलग हम शुद्ध आत्मा की तरह विशुद्ध भावों या 'इंस्टिंक्ट' की कल्पना नही कर सकते। बहुत-से पच्छिमी विचारकों का 'इंस्टिंक्ट'—यानी अपरिवर्तनशील मूल भाव—आत्मा का ही पर्यायवाची है। शुक्लजी के लिए ऐसे अपरिवर्तनशील भावो की सत्ता नही है। भावों की सत्ता अनुभूति पर निर्भर है और अनुभूति विषय-वस्तु के बिना, बाह्य जगत् के बिना नही होती। मनुष्य की काल्पनिक अनुभूति भी बाह्य जगत् की ही प्रतिच्छवि रहती है। कारण यह है कि "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।" (काव्य मे रहस्यवाद)

सत्ता का ज्ञान विशुद्ध आत्मानुभूति नही है वरन् लोकबद्ध है। कविता का विकास—मनुष्यों के भावो और उनकी व्यंजना का विकास—लोक के ही भीतर होता है, इसलिए भावों में जो विभिन्नता दिखाई देती है, वह लोक की ही विभिन्नता, मनुष्य के व्यवहार और बाह्य जगत् की विभिन्नता का ही परिणाम है।

"अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है।" (भाव या मनोविकार)। यह द्वन्द्व सुख और दुख का है। 'मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार' नये-नये भाव पैदा करती है। भाव की विभिन्नता दो कारणों से होती है—मनुष्य की इच्छा से और विषयबोध से। आत्मगत और वस्तुगत दोनों ही तरह के कारणों से भावों का विकास होता है। यदि आत्मगत कारण न हों तो मनुष्य दर्पण की तरह यान्त्रिक ढग से वस्तुगत व्यापारो को ही प्रतिबिंबित करता रहे। शुक्लजी ने लिखा है: "विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओ की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है।" इस तरह भावों की कोई विशुद्ध आत्मगत सत्ता नहीं है; उनकी विभिन्नता का विकास

विषय-बोध पर भी निर्भर है। मनुष्य के भाव उसके सामाजिक जीवन से किस तरह उत्पन्न होते हैं, इसकी एक मिसाल ईर्ष्या है। ईर्ष्या के बारे में शुक्लजी ने लिखा है: "ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है।" इसी तरह उत्साह को लीजिए: "साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।" यहाँ भी उत्साह का सम्बन्ध मनुष्य के व्यवहार से है। इसी तरह श्रद्धा वह आनन्द-पद्धति है जो "किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख" कर पैदा होती है। यहाँ भी उसका वस्तुगत कारण मौजूद है। करुणा का तो कहना क्या! "जब बच्चे को सम्बन्ध-ज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं।" यह सम्बन्ध-ज्ञान न हो, बाह्यजगत् का बोध न हो तो करुणा का भी अस्तित्व न हो। व्यक्तिगत दुख की अनुभूति से करुणा को अलग करते हुए शुक्लजी ने लिखा है: "पर दूसरों की पीड़ा, वेदना देख जो 'करुणा' जगती है, उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति कही जा सकती है।" (रसात्मक बोध के विविध रूप)। करुणा लोकजीवन से विमुख एकान्तवासी कवियों की आत्मानुभूति नही है, वह दूसरों की पीड़ा देखकर जगती है, उसके संचार के लिए दूसरों का अस्तित्व भी जरूरी है।

मनुष्य के हृदय में लज्जा क्यों पैदा होती है? जब उसे यह आशंका होती है कि 'दूसरों के चित्त में' उसके प्रति बुरी धारणा है, तब उसकी वृत्तियो का संकोच होता है और वही लज्जा है। इस तरह लज्जा का जन्म भी लोक-व्यवहार मे होता है। लोभ कब पैदा होता है? जब किसी सुख देने वाली 'वस्तु के सम्बन्ध मे' प्राप्ति की इच्छा पैदा होती है। 'अरुचिकर विषयों के उपस्थिति होने पर' घृणा पैदा होती है। 'किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से' भय पैदा होता है। 'दुःख के चेतन कारण या अनुमान से' क्रोध पैदा होता है। सारांश यह कि हर मनोविकार का कोई-न-कोई वस्तुगत कारण होता है। काव्य का सम्बन्ध मनोविकारों से है और मनोविकारों का सम्बन्ध मनुष्य के व्यवहार-जगत् से। इसलिए व्यवहार-जगत् का ज्ञान प्राप्त किए बिना, उससे भावात्मक सम्बन्ध स्थापित किए बिना कोई भी शुद्ध आत्मानुभूति के बल पर कवि नही बन सकता। शुक्लजी के साहित्यालोचन का यह वस्तुवादी सूत्र है: "शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।"

भावों के वस्तुगत कारण हैं। उनका आधार मनुष्य का व्यवहार जगत् है लेकिन वे उत्पन्न होते है मनुष्य मे ही। भाव-धारणा की यह क्षमता मनुष्य के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। शुक्लजी ने कई जगह पशुओं और मनुष्यों में भेद करते हुए मानव के विकास के साथ उसका ज्ञान-प्रसार और भाव-प्रसार बढ़ता हुआ दिखाया है। 'कविता क्या है' नाम के निबन्ध में उन्होंने लिखा है: "पर मनुष्य में ज्ञान-प्रसार के साथ भाव-प्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है, अकस्मात् मनुष्य इस भावप्रसार के साथ पैदा नहीं हो गया। मनुष्य अपने विकासक्रम मे कुछ

संस्कार पूर्वजों से पाता है, कुछ अपने नये अनुभवों से संचित भी करता जाता है। ऐसा न हो तो उसके कुछ आदिम संस्कार ही बने रहें, उनसे वह आगे न बढ़े। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नाम के निबन्ध में शुक्लजी ने लिखा है : "पूर्वजनों की दीर्घ परम्परा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन में भी बहुत से संस्कार प्राप्त किए जाते हैं।" मनुष्य को आज जो भावनाशक्ति मिली है, वह एक दीर्घ परम्परा का फल है और अपने नये संस्कार जोड़कर मनुष्य उसे आगे भी बढ़ाता चलता है। मनुष्य की वासना, सहृदयता, उसकी रसग्राहिका शक्ति के विकास का यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है। शुक्लजी ने संस्कृत के रस-शास्त्रियों की वासना को स्थिर और शाश्वत न मानकर उसे एक ऐतिहासिक विकास का परिणाम स्वीकार किया है। इस तरह भावों में बाह्य जगत् के अलावा मनुष्य की जिस आत्मगत चेतना, इच्छा आदि का योग रहता है, उसकी भी एक वस्तुगत सत्ता है, वह भी ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। विषय-वस्तु के विचार से भी और मनुष्य की अपनी इच्छा के विचार से भी भाव की वस्तुगत सत्ता सिद्ध होती है, इसलिए भावों को प्रकट करने वाली कविता भी एक वस्तुगत व्यापारहै जिसका वैज्ञानिक अध्ययन संभव है।

भाव का सम्बन्ध किसी शाश्वत आत्मा से नहीं है, इसी कारण विभिन्न मनुष्यो और वर्गों में रुचि की भिन्नता दिखाई देती है। रुचि की समानता का आधार मानव-जीवन की समानता है। मानव-जीवन की विषमता से रुचि की विषमता भी पैदा होती है। 'भाव या मनोविकार' में शुक्लजी शासकवर्ग का जिक्र करते हैं जो भावों का उपयोग "अपनी रक्षा और स्वार्थसिद्धि के लिए भी" करते आये हैं, "उसी प्रकार धर्म-प्रवर्तक और आचार्य अपने स्वरूप-वैचित्र्य की रक्षा और अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी।" इसलिए जन-साधारण का भाव-व्यापार वही नहीं है जो शासकों और धर्माचार्यों का होता है। रुचि का वर्ग-आधार, वर्गों द्वारा भावों का उपयोग शुक्लजी के इन दो वाक्यों में बहुत अच्छी तरह प्रकट हुआ है। "शासकवर्ग अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शांति के लिए भी डराते और ललचाते आए हैं। मत-प्रवर्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारों के प्रचार के लिए भी जनता को कँपाते और ललचाते आए हैं।" यह द्वेष और संकुचित विचार कहाँ से पैदा होते हैं? मत-प्रवर्तकों और शासकों के स्वार्थमय जीवन से। उनका जीवन जनसाधारण से भिन्न है। एक अत्याचार और अन्याय करने वाला है, दूसरा सहनेवाला है। इसी विषमता के कारण उनकी रुचि में भी विषमता होती है। इसलिए 'कविता क्या है' में 'अर्थागम से हृष्ट' ज्योतिषियों, कर्मकाण्डियों, बनियों और दलालों, अमलों और मुख्तारों को कवि और साहित्यकार निठल्ले और खब्तुलहवास लगते हैं; इस रुचि-भेद का कारण सामाजिक जीवन की असमानता है। यह असमानता अखंड और निरपेक्ष नहीं होती; असमानता के साथ बहुत सी समानता भी कायम रहती है। यही कारण है कि बहुत-सी बातों में रुचि की असमानता के साथ कुछ बातों में रुचि की समानता भी मिलती है। उसी निबन्ध

में शुक्लजी ने कविता पर अत्याचार की बात कही है, लोभियों और स्वार्थियों द्वारा उसके गला दबाये जाने की बात कही है, केशव आदि के विवेचन में राज-दरबारों के कुसंस्कारों का उल्लेख किया है—यह सब सिद्ध करता है कि मनुष्य की रुचि का आधार उसके जीवन की परिस्थितियाँ हैं। रुचि के वर्ग-आधार का यह अर्थ नहीं होता कि मनुष्य की अपनी इच्छा-शक्ति की कोई भूमिका नहीं होती। इच्छाशक्ति परिस्थितियों से प्रभावित होती है लेकिन जिनका मनोबल दृढ़ होता है, वे अपने वर्ग की परिस्थितियों से ऊपर भी उठ सकते हैं और उठ जाते हैं।

रुचि और भावना का आधार पहचानने के कारण शुक्लजी ने सामन्ती संस्कारों और सामन्ती साहित्यशास्त्र का बार-बार खंडन किया है। भावना और नैतिकता का गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य के कर्मों के नियामक बुद्धि से ज्यादा उसके भाव, उसके संस्कार होते हैं। शुक्लजी ने सामन्ती और पूंजीवादी वर्गों की रुचि और नैतिकता का तीव्र खंडन किया है। 'गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका' पीटने वाले, 'देश-हितैषिता का लम्बा चोगा पहने' देशोद्धार की पुकार करने वाले उन्हें धोखा नहीं दे सकते (श्रद्धा-भक्ति)। दूसरों की श्रद्धा के लिए ललकने वाले धूर्तों को उन्होंने कड़ी फटकार बतलाई है। इनके लिए श्रद्धा ठगविद्या का ही दूसरा नाम है। दूसरों के कर्मों के लिए सच्ची सम्मान-भावना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। शुक्लजी ऐसे ठगों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं: "परश्रद्धाकर्षण की विद्या की भी आजकल खूब उन्नति हुई है। आश्चर्य नहीं कि इसके लिए कुछ दिनों में एक अलग विद्यालय खुले।" यह व्यापार-युग है। यहाँ हर चीज बिकती है, "तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न बिकें?" पूंजीवादी वर्ग बिकाऊ माल के सहारे जीता है। यह उसका वर्गधर्म है, उसकी वर्ग-नैतिकता है। इसलिए वह श्रद्धा को भी बिकाऊ माल बना डालता है। और व्यापार-युग से पहले दान-दक्षिणा का युग था। पंडों और पुरोहितों के लिए श्रद्धा का अर्थ दक्षिणा हो गया। यजमान कहता है, 'इतनी ही श्रद्धा है' और पंडे कहते हैं, 'जितनी श्रद्धा हो, उतना दो।' "यद्यपि इन पंडों और पुरोहितों के सम्बन्ध में सदा यह निश्चय नहीं रहता कि वे बड़े विद्वान्, बड़े धार्मिक या बड़े परोपकारी हैं।" (उप०)। धर्म के नाम पर श्रद्धा का व्यापार यहाँ भी होता है।

लोक-दिखावे के लिए धनी व्यक्ति सदाचार का ढोंग रचते हैं, दूसरों पर दया का अभिनय करते हैं! लेकिन वे भूल जाते हैं कि "मनोवेग-वर्जित सदाचार दंभ या झूठी कवायद है।" (करुणा)। इसी तरह निःसंकोच होकर अपने संकोची होने का दावा करने वालों को शुक्लजी ढोंगी कहते हैं। हमारे यहाँ के समाज में ऊँच-नीच का भेद रहा है। जो आदर और सम्मान के योग्य हैं, वे आदर पायें, लेकिन जनता को दबाकर जब आदर पाने का एक पेशा बन जाता है, तब उस समाज-व्यवस्था को जीर्ण-शीर्ण समझ लेना चाहिए। शुक्लजी कहते हैं: "जिस जाति में इस छोटाई-बड़ाई का अभिमान जगह-जगह जमकर दृढ़ हो जाता है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और संघ-शक्ति का विकास

बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है।" (ईर्ष्या)। ईर्ष्या का यह सामाजिक आधार हुआ। संघशक्ति का तभी विकास हो सकता है जब वर्गों के बीच की यह विषमता न रहे। लेकिन विषमता घटने के बदले और बढ़ती जाती है। उसका बढ़ना एक वस्तुगत क्रम है, वह कुछ लोगों की व्यक्तिगत इच्छा का परिणाम नहीं है। उसका निवारण वर्गहीन समाज के निर्माण से ही सम्भव है। शुक्लजी ने लिखा है: "किसी अवध के ताल्लुकेदार के लिए बड़ाई का यह स्वाँग दिखाना आवश्यक नही है कि वह जब मन मे आए तब कामदार टोपी सिर पर रख, हाथी पर चढ़ गरीबों को पिटवाता चले।" (ईर्ष्या)। टोपी बदल गई है लेकिन गरीबो पर अत्याचार कायम हैं बल्कि राइफल और टियर गैस की मदद से और बढ़ गए हैं।

पूंजीवादी समाज में एक संस्कार खूब पनपता है। यह संस्कार 'खुद कमाओ और जियो, दूसरों को मरने दो' का है। पूंजीवादी नैतिकता का आधार वह स्वार्थ-वृत्ति है जिसे व्यक्ति की स्वाधीनता का नाम दिया जाता है। अंग्रेजी में इसे झूठे सिद्धान्त का रूप दिया गया है—सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट। समाज में जो शक्तिशाली है, वह दूसरों को मारकर या मर जाने देकर खुद जिएगा। डार्विन ने विकासवाद के वैज्ञानिक सिद्धान्त के साथ यह कल्पना भी जोड़ दी थी। इस कल्पना का आधार इंग्लैंड के पूंजीवादी समाज मे स्वार्थ की होड़ थी। आजकल इस सिद्धान्त का उपयोग पूंजीवादी लूट और युद्धों को जायज ठहराने के लिए किया जाता है। शुक्लजी ने इस धारणा को पास नही फटकने दिया। उनके लिए मनुष्यता का विकास परस्पर सहयोग के आधार पर होता है और होना चाहिए, न कि इस हिंसा के द्वारा। अपने 'श्रद्धा-भक्ति' वाले निबन्धों मे शुक्लजी ने लिखा है: "अपने कार्य-क्षेत्र के बाहर यदि वह अपने इन भावों का सामंजस्य ढूंढ़ता है तो नही पाता है—कही उसे जीवो जीवस्य जीवनं का सिद्धान्त चलता दिखाई पड़ता है, कही लाठी और भैंस का। वह सोचता है कि इन बातों का अनुसरण मनुष्य-समाज मे भी जान-बूझकर क्यों न किया जाय, यह नही सोचता कि मनुष्य जाति की स्थिति इन अवस्थाओ से बहुत आगे बढ़ी है और चेतना की श्रेणी में उसके आगे की ओर कोई भूमि उसे दिखाई नही पड़ रही है।" जीवो जीवस्य जीवनं—जगल का नियम है। जिस समाज में यह नियम लागू हो, वह सभ्य समाज कहलाने का अधिकारी नहीं, वह मनुष्यता की स्थिति तक पहुँचा हुआ नही, उसकी चेतना अवरुद्ध और कुंठित हो गई है।

पच्छिम के कुछ मनोवैज्ञानिकों ने समाज विशेष के वर्ग-सम्बन्धों में पनपने वाली स्वार्थपरता को शाश्वत नियम का रूप दे दिया। उनके लिए मनुष्य का कोई काम निःस्वार्थ होता ही नही, कोई देश और जनता के लिए हँसते-हँसते प्राण भी दे दे तो वे उसमें उनके अहंकार की तुष्टि या किसी दमित वासना की अभिव्यक्ति देख लेंगे और उसकी निःस्वार्थ सेवा से इन्कार करेंगे। ऐसे लोगों के लिए करुणा, सहानुभूति आदि का कोई अस्तित्व नही है। इन्हें लक्ष्य करके शुक्लजी ने लिखा है: "समाजशास्त्र के पश्चिमी ग्रन्थकार कहा करें कि समाज में एक-दूसरे

की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है, यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्मक्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी-न-किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी।" (करुणा)। शुक्लजी का मनोविज्ञान पच्छिमी मनोविज्ञान से किस तरह भिन्न है, उसकी यह मिसाल है।

शुक्लजी ने कई जगह अंग्रेज आलोचक आई०ए० रिचार्ड्स का नाम प्रशंसा के साथ लिया है। वह इसलिए कि रिचार्ड्स ने शुद्ध कलावाद का खंडन किया था, साहित्य को अनुभूति से अलग न किया था। पच्छिम के दूसरे पतनशील विचारकों के मुकाबले में उन्होंने उसकी प्रशंसा की थी। लेकिन रिचार्ड्स के मनोविज्ञान का आधार भी व्यक्तिवाद है। वह कविता का लक्ष्य मनुष्य के मनोविकारों में सन्तुलन मानता है। लेकिन कौन-सी प्रवृत्तियाँ अच्छी हैं और कौन-सी बुरी, इसकी छानबीन उसने नहीं की। रिचार्ड्स के विपरीत शुक्लजी के विवेचन की आधारशिला है लोकहित। कौन-सा भाव अच्छा है, कौन-सा बुरा, भिन्न-भिन्न वर्गों में एक ही भाव के कौन-कौन से रूप होते हैं (वास्तव में भाव-विशेष का नाम एक होता है, उसके तत्त्व अलग-अलग होते हैं), ये समस्याएँ शुक्लजी ने उठाई हैं, रिचार्ड्स ने नहीं। भाव अच्छा है या बुरा, इसकी कसौटी यह है: "किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम से होता है।" (उत्साह)। रिचार्ड्स ने मानव-वृत्तियों के परिणाम का सवाल नहीं उठाया, इसीलिए उसने कलावाद का जो खंडन किया है, वह संगत नहीं है।

उत्साह क्या है? "कर्ममात्र से संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है", वही उत्साह है। कर्म के साथ फल की इच्छा भी होती है और यह इच्छा अनुचित नहीं है यदि फल का सम्बन्ध शुद्ध स्वार्थ न हो। देशरक्षा में भी साहस देखा जाता है, परपीड़न और डकैती में भी। दूसरी तरह का साहस पहले के सौन्दर्य तक 'कभी नहीं पहुँच सकता।' (उत्साह)। परिणाम के अनुसार यह भाव का सौन्दर्य-निरूपण हुआ।

श्रद्धा से क्या सिद्ध होता है? यही कि "जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित होता है।" इस तरह लोकहित भावों का शुभ या अशुभ रूप परखने की कसौटी बनता है। इसी लोकहित के कारण श्रद्धालु की दृष्टि "सामान्य की ओर होनी चाहिए, विशेष की ओर नहीं।" अन्ध श्रद्धा क्यों खराब है? इसलिए कि उससे समाज का अनिष्ट होता है। अन्ध श्रद्धा के ही कारण धर्म और देशहितैषिता के नाम पर लोग ठगे जाते हैं।

क्रोध के त्याग का उपदेश बहुत से महात्माओं ने दिया है लेकिन समाज-रक्षा के लिए क्रोध आवश्यक हो, तो उसका पूर्ण त्याग हानिकर होगा। किसी स्त्री पर अत्याचार होते देखकर हम क्रोध करें तो "उस समय का हमारा क्रोध कितना सुन्दर और अक्रोध कितना गर्हित होगा!" इसी तरह करुणा की आवश्यकता "जीवन-निर्वाह की सुगमता के लिए है। मनुष्य बनने के लिए शील और संकोच की जरूरत होती है। लेकिन लज्जा को स्त्रियों का भूषण कहकर पुरुषों ने उसे

'आनन्द और विलास की एक सामग्री' बना डाला। लोभ का एक रूप प्रेम होता है जिसका उत्कृष्ट रूप देशप्रेम है। इसके विरुद्ध पैसे का लोभ है, जिससे लोभ का मतलब ही पैसे का लोभ हो गया है। घृणा और क्रोध का नजदीकी सम्बन्ध है और जैसे जीवन में क्रोध आवश्यक है, वैसे ही घृणा भी। भय की स्थायी वृत्ति कायरता कहलाती है। असभ्य, पिछड़ी हुई और जंगली जातियों में भय की मात्रा ज्यादा होती है। जैसे-जैसे प्रकृति के बारे में मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसका भय कम होता जाता है। ईर्ष्या एक ऐसा भाव है जो समाज की कृत्रिमता से पैदा होता है और जिसे कोई प्रकट नहीं करना चाहता।

इस तरह शुक्लजी ने हर मनोविकार का सामाजिक आधार बतलाया है, उसका सम्बन्ध मनुष्य के व्यवहार से जोड़ा है, उसके सामाजिक परिणाम के हिसाब से उसे शुभ या अशुभ माना है। इससे सिद्ध हुआ कि शुक्लजी के मनोविज्ञान का एक ठोस सामाजिक आधार है।

जीवन में भावों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। "समस्त मानव-जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं।" (भाव या मनोविकार)। भावों का सम्बन्ध मनुष्य के कर्मों से है। जैसे उसके भाव और संस्कार होते हैं, वैसे ही उसके कर्म होते हैं। "मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है।" (करुणा)। इसलिए भावों की छानबीन का काम सामाजिक महत्त्व का है। कविता मनुष्य के भावों को प्रतिबिंबित करती है, इसलिए उसे भी मानव-जीवन की प्रवर्त्तक मानना होगा, उसे भी मनुष्य की सजीवता का कारण मानना होगा। योगवाला चित्तवृत्तियों का निरोध काव्य का मार्ग नहीं है। साहित्य में मनोविकार प्रकट ही नहीं किए जाते, उनका परिष्कार भी किया जाता है। यह साहित्य की सामाजिक उपयोगिता है। मनोविकारों का दमन करने वालों को लक्ष्य करके शुक्लजी कहते हैं: "नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध-निर्वाह पर जोर देते हैं।" (करुणा)। कवि तीन काम करता है—मनोवेगों को तीव्र करता है, उन्हें परिमार्जित करता है और संसार के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध-निर्वाह पर जोर देता है। शुक्लजी का यह सिद्धान्त अरस्तू के कैथार्सिस या भाव-परिष्कार के सूत्र से ज्यादा भरा-पूरा है। संस्कृति का आधार मानव-सम्बन्ध है, उसका प्रभाव मानव-सम्बन्धों पर पड़ता है, संस्कृति अपने उस आधार को दृढ़ या निर्बल करती है। यह बात साहित्य के लिए भी नहीं कही जा सकती। साहित्य केवल भाव-परिष्कार ही नहीं करता, वह किन्हीं मानव-सम्बन्धों को दृढ़ या कमजोर भी करता है। इस तरह किसी समाज-व्यवस्था को कायम रखने या उसे निर्मूल करने में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ होता है। इसी कारण साहित्यकार किन्हीं मानव-सम्बन्धों या किसी समाज-व्यवस्था की रक्षा या विनाश के प्रति तटस्थ नहीं रह सकता, चाहे तो भी उसके लिए यह सम्भव

नहीं है।

साहित्य की अनुभूति भावों की अनुभूति है। भावों की अनुभूति वास्तविक जीवन में, मनुष्य के व्यवहार-जगत् में होती है। इसलिए साहित्य की अनुभूति वास्तविक जगत् की अनुभूति से निराली नहीं है। जिन बातों से संसार में दुख मिलता है, उनसे साहित्य में भी मिलता है। ट्रैजेडी पर आँसू बहाने में शुद्ध आनन्द का अनुभव होता है, शुक्लजी यह नहीं मानते। वह पहले आलोचक हैं जिन्होंने पूर्व और पश्चिम के विचारकों से इस बारे में मतभेद प्रकट किया है।

भावों की अनुभूति का नाम ही रस है। शुक्लजी ने एक ओर क्रोचे का खण्डन किया है जो काव्य (या कला) को शुद्ध अभिव्यंजना मानता है लेकिन कहीं-कहीं दबी जबान से भावानुभूति स्वीकार भी कर गया है, दूसरी ओर उन्होंने उन भारतीय विचारकों को भी फटकारा है जो हृदय की अनुभूति की बातें तो करते हैं लेकिन रस शब्द से परहेज करते हैं। उन्होंने ऐसे लोगों को याद दिलाया है कि हृदय की अनुभूति रस मे अलग कोई अनूठी चीज नहीं है।

साहित्य के व्यापक प्रभाव का कारण भावना की लोक-सामान्य भूमि है। रस-दशा लोक-हृदय में लीन होने की दशा का ही नाम है। इसलिए साहित्य का भाव-जगत् जनसाधारण का भाव-जगत् होना चाहिए, मुट्ठी-भर लोगों का कृत्रिम भाव-जगत् नहीं। साहित्य राज-दरबारों, पंडों-पुरोहितों और देशभक्ति का सौदा करने वालों का गुलाम बन जाय, उन्हीं की भावनाएँ व्यक्त करने लगे तो वह अपनी व्यापकता खो देगा। साहित्य में आत्माभिव्यक्ति वहीं तक मान्य है जहाँ तक वह लोक-जीवन की भी अभिव्यक्ति है। इससे आगे व्यक्ति-वैचित्र्यवाद आ जाता है जिसकी जगह किसी अजायबघर में है, साहित्य मे नहीं। पच्छिम से व्यक्तिवाद के मुकाबले में शुक्लजी ने भारत का साधारणीकरण का सिद्धांत रखा है। उन्होंने इसकी नयी व्याख्या की है। "यह सिद्धांत यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।" (साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद)। काव्य में भाव-व्यंजना किसी विशेष आलम्बन के सहारे ही होती है लेकिन यह विशेष सामान्य का विरोधी नही होता। कवि-कौशल विशेष और सामान्य की एकता स्थापित करके उनका विरोध मिटा देता है। "भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्‌घाटन की ओर बराबर रही है।" (उप०)

साहित्य का भाव-व्यापार बौद्धिक क्रिया का विरोधी नहीं है, न वह उससे स्वतन्त्र या तटस्थ है। शुक्लजी ने अबुद्धिवाद का बार-बार खंडन किया है, उन लोगों पर फब्तियाँ कसी हैं जो बुद्धि के विकास को काव्य के ह्रास का कारण मानते हैं। उन्होंने दिखलाया है कि मनुष्य के भावों का परिष्कार और संचार वर्तमान सभ्यता और मनुष्य के बनावटी सामाजिक जीवन से रुक सकता है, बुद्धि के प्रसार से नहीं। बुद्धि को कोसना वर्तमान सभ्यता (अर्थात् पूंजीवादी सभ्यता) और सामा-

जिक जीवन के बनावटीपन पर पर्दा डालना है। इन्दौर वाले भाषण में शुक्लजी ने बुद्धि और हृदय, बौद्धिक ज्ञान और भावना का सम्बन्ध बहुत अच्छी तरह बतला दिया है। बुद्धि और हृदय एक-दूसरे के विरोधी न हों, "दोनों एक-दूसरे के सहयोगी के रूप में काम करें।" यह सहयोग किस तरह कायम होता है? बुद्धि अपने 'विशेष मनन और चिन्तन द्वारा' जिन तथ्यों का निरूपण करती है, कवि उन्हीं को 'गोचर और मार्मिक रूप में' सामने रखता है। भावना का आधार अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है। ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। "ज्ञानप्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।" काव्य को अबौद्धिक क्रिया मानने वालों को शुक्लजी का यह अकाट्य उत्तर है। ज्ञान और भावना का यह सम्बन्ध उसी सूत्र को लेकर चला है जिसके अनुसार "हृदय सिंधु मति सीप समाना" है और 'बर-बारि बिचारू' के बरसने पर 'कवित मुक्ता मनि चारू' उत्पन्न होते हैं। साहित्य विचार शून्य, विचारों से तटस्थ, ज्ञान के प्रति उदासीन क्रिया नही है। श्रेष्ठ साहित्य सदा ज्ञान-प्रसार के भीतर भाव-प्रसार के मार्ग पर चलता है।

साहित्य के भाव-जगत् के एक छोर पर विचार और बौद्धिक चिंतन हैं तो दूसरे छोर पर इन्द्रियबोध और मूर्तिमत्ता है। साहित्य और शिल्प, स्थापत्य आदि की सामान्य भूमि यह गोचरता है। शुक्लजी ने कई जगह साहित्य को कला की संज्ञा न देने पर जोर दिया है। ऐसा उन्होंने उसे शुद्ध कलावाद से बचाने के लिए किया है। लेकिन शिल्प आदि कलाओं की सामान्य भूमि यह गोचरता है, गोचरता के आधार पर उनका सौन्दर्य है, सौन्दर्य के साथ मनुष्य की वासना का संस्कार और आनन्द है। इस कारण साहित्य को ललित कलाओं से एकदम अलग नहीं किया जा सकता, न साहित्य-मीमांसा से सुन्दर शब्द खारिज किया जा सकता है।

ऊपर हमने देखा है कि बुद्धि अपने चिन्तन और मनन द्वारा जिन तथ्यों का निरूपण करती है, कल्पना उन्ही को 'गोचर और मार्मिक रूप में' सामने रखती है। जहाँ गोचर रूप होगा, वहाँ यह भी देखा जायगा कि यह रूप किस तरह सँवारा गया है, उसका आकार-प्रकार, रंग आदि हमारे सौन्दर्यबोध के अनुकूल है या नहीं। पच्छिम के कुछ विचारकों ने साहित्य को गोचरता तक, इन्द्रियबोध और रूपरंग की सुन्दरता तक सीमित कर दिया है। इसी कारण शुक्लजी काव्यशास्त्र के बदले सौन्दर्यशास्त्र का प्रयोग गलत मानते हैं। उनका यह विरोध सही है। सौन्दर्य से इन्द्रियबोध का ही सौन्दर्य लेना गलत है। सौन्दर्य का अर्थ केवल इन्द्रिय-बोध वाला सौन्दर्य नहीं है। "कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।" (कविता क्या है)

साहित्य या कला की गोचरता का सिद्धान्त शुक्लजी के ज्ञान-शास्त्र का ही परिणाम है। ज्ञान न तो आत्मा का प्रकाश है, न इलहाम होने से प्रकट हुआ है, न वह मनुष्य की सहज भावना (Intuition) का फल है। इस तरह के ज्ञान-शास्त्रों का विरोध करने के बाद शुक्लजी ने अपना वैज्ञानिक सिद्धान्त रखा है। वह सिद्धान्त

यह है कि मनुष्य के बौद्धिक चिन्तन का विकास इन्द्रियज ज्ञान के आधार पर ही हुआ है "आरम्भ में मनुष्य-जाति की चेतन-सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गई है त्यों-त्यों मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि-व्यवसायात्मक होती गई है।" (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। ज्ञान की पहली सीढ़ी इन्द्रियबोध है। साहित्य इस सीढ़ी को पूरी तरह कभी नहीं छोड़ता। वैज्ञानिक चिन्तन जहाँ बुद्धि-व्यवसायात्मक है, वहाँ साहित्य इन्द्रियबोध का सहारा लिए रहता है। उसके कलात्मक सौन्दर्य का यह भी एक आधार होता है।

अपने इतिहास में शुक्लजी ने लिखा है: "प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषयबोध ही होता है।" भाव के साथ प्रथम अवयव के रूप में विषयबोध मौजूद हो तो भावजगत् विषयबोध से अलग नहीं हो सकता। साहित्य की अनुभूति शुद्ध भावानुभूति नहीं हो सकती, उसके साथ इन्द्रियबोध भी जुड़ा रहेगा। विचार से भाव ज्यादा व्यापक होता है, भाव से इन्द्रियबोध। इस गोचर आधार के कारण साहित्य विज्ञान की अपेक्षा ज्यादा व्यापक और प्रभावशाली होता है। काव्य की विशेषता भावों को मूर्त रूप देने में है। "जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा।" (कविता क्या है)

कल्पना का आधार इन्द्रियबोध ही है। शुद्ध कल्पना नाम की कोई चीज नहीं है। पश्चिम के जिन विचारकों ने कल्पना का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है, उसकी निराली सृष्टि की चर्चा की है, शुक्लजी ने उनका खंडन किया है। उनका प्रत्यक्ष विरोध क्रोचे जैसे भाववादियों से है, अप्रत्यक्ष विरोध कोलरिज जैसे भाववादियों से भी है जिन्होंने कल्पना को शाश्वत और निरपेक्ष चेतना का पर्याय मान लिया था और मनुष्य की व्यावहारिक कल्पना को उसी परम चेतना का अंश मान लिया था। योरप की कल्पनावादी साहित्य-मीमांसा के विपरीत शुक्लजी का मत यह है: "जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे, उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं। फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है।" (कविता क्या है)

शुक्लजी के ज्ञान-शास्त्र में मनुष्य का मन बाह्य जगत् का ही प्रतिबिंब है। वह रूप-गतिहीन नहीं है, रूपगति का ही संघात है। मानसिक प्रक्रिया की यह वस्तुवादी व्याख्या है। "जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है।" (कविता क्या है)। मन स्वयं रूपमय है, इसलिए ज्ञान भी रूपातीत नहीं होता। "हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।" (उप०)। जो चिन्तन और विचार अरूप लगते हैं, उनका आधार भी रूपमय जीवन ही है। मनुष्य अपनी सुविधा के लिए संकेतों से काम लेता है लेकिन हर संकेत इस रूपमय जगत् या उसके मानसिक प्रतिबिम्ब की ओर

ही होता है। "भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे।" (उप०)। साहित्य की मूर्तिमत्ता का यह दार्शनिक आधार है।

इस ठोस दार्शनिक आधार पर ही शुक्लजी ने साहित्य में रूपविधान की चर्चा की है। कल्पना क्या है? "मानसिक रूपविधान का नाम ही सम्भावना या कल्पना है।" (रसात्मक बोध के विविध रूप)। ऐडीसन के कल्पना-सम्बन्धी विवेचन के साथ चलते हुए शुक्लजी दो तरह का रूप-विधान बतलाते हैं—एक तो 'प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों-का-त्यों प्रतिबिम्बि होता है', दूसरा इनके 'आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-व्यापार-विधान' होता है। पहला रूपविधान स्मृति है, दूसरा कल्पना। ऐडीसन ने स्मृति को भी कल्पना का नाम दिया है। शुक्लजी ने वह स्थापना अमान्य ठहरा दी है। इसके सिवा 'प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है", यह स्थापना ऐडीसन के चिन्तन से बहुत दूर है। अनुभूति का अर्थ शुक्लजी के लिए 'चाक्षुप ज्ञान' के अलावा शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श भी है। इस तरह रूपविधान का अर्थ इन्द्रियबोध का ही विधान समझना चाहिए।

रूपविधान में चाक्षुप ज्ञान मुख्य है। इसीलिए शास्त्र-चर्चा की विशेषता अर्थ-ग्रहण है तो साहित्य की विशेषता बिम्बग्रहण। (कविता क्या है)। साहित्य से प्रभावित होने की शक्ति उनमें होती है जिनमें मूर्त्तिविधान की क्षमता होती है। जो लोग साहित्य से प्रभावित नहीं होते, उसका एक कारण यह है कि "उनके अन्तःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्तिविधान नहीं होता जो भावों को परिचालित करता है।" (उप०)। कल्पना की आवश्यकता न केवल साहित्यकार के लिए है, वरन् उसके पाठक के लिए भी वह जरूरी है।

बौद्धिक चिन्तन, इन्द्रियबोध और भावन का समन्वय साहित्य की विशेषता है। इस विशेषता के मौलिक व्याख्याकार आचार्य शुक्ल हैं। यह व्याख्या पूर्व और पश्चिम दोनों के काव्यशास्त्र से ज्यादा संगत और वैज्ञानिक है। यह हिन्दी का अपना साहित्यशास्त्र है।

इस शास्त्र के आधार पर उन्होंने क्रोचे आदि पश्चिम के विचारकों का खंडन किया है। जो लोग हिन्दी के साहित्यशास्त्र को अंग्रेजी किताबों की नकल समझते हैं, वे हिन्दी-अंग्रेजी दोनों ही के साहित्यशास्त्र का अपना अज्ञान प्रकट करते हैं। पश्चिमी साहित्यशास्त्र के बारे में शुक्लजी का कहना है: "सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है, योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गयी है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।" (कविता क्या है)। यह सब पढ़कर भी कोई कहे कि हिन्दी का काव्यशास्त्र अंग्रेजी की नकल है तो उससे पूछना चाहिए कि दिमाग में अकल भी है या उसकी नकल ही रह गई है।

शुक्लजी अंग्रेजी आलोचकों में जिसके सबसे ज्यादा निकट हैं, वह ऐडीसन

है । लॉक के वस्तुवाद से प्रभावित होकर ऐडीसन ने कल्पना का सिद्धान्त निकाला था और काव्य की विशेषता उसका रूपविधान बतलाया था । तब से योरप की समीक्षा में मूर्तिमत्ता का खूब जोर रहा है । लेकिन हर तरह की कल्पना, हर तरह का रूपविधान तो कलात्मक नहीं होता । किस तरह की कल्पना काव्य के लिए आवश्यक है, इसका जवाब ऐडीसन के यहाँ नहीं है । कारण यह है कि उसके पास रस-सिद्धान्त नहीं था । कल्पना और रूपविधान को काव्य-सौन्दर्य का मूल आधार मानकर इस प्रश्न का उत्तर दिया ही नहीं जा सकता । इसका उत्तर तभी सम्भव है जब कल्पना का सम्बन्ध भावानुभूति से जोड़ा जाय । शुक्लजी ने यह सम्बन्ध जोड़ा है । उन्होंने रूपविधान और भावानुभूति का सम्बन्ध इस तरह जोड़ा है : "काव्यविधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन और संचार करती हो । सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती । अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त्तरूप अंग—भाव प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी ।" (काव्य में अभिव्यंजनावाद)

क्रोचे के सौन्दर्यशास्त्र का खंडन करते हुए शुक्लजी ने योरप के आत्मवाद (या आइडियलिज्म) का भी खंडन किया है । क्रोचे की विचारधारा बाह्य जगत् की वास्तविकता को अस्वीकार करती है । इसके बदले अपने उलझे तर्कजाल से वह बर्कले के दर्शन या मध्यकालीन अन्धविश्वासों की ही प्रतिष्ठा कर सकता है । शुक्लजी ने उसके प्रतिक्रियावाद की जड़ पर ही आघात किया है । क्रोचे की मूल स्थापना क्या है ? "उसने कला की अभिव्यंजना के इस व्यवसाय को बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति दोनों से परे जो आत्मा है, उसको अपनी निज की क्रिया कहा है—इस जगत् और जीवन से स्वतन्त्र ।" यह बात किसी-न-किसी रूप में भारत के अध्यात्मवादी भी दोहराते हैं, इसमें सन्देह नहीं । शुक्लजी ने इसी का खडन किया है । क्रोचे जिसे आत्मा के कारखाने से निकला हुआ माल समझता है, उसे वह इस व्यवहार जगत् का ही प्रतिबिम्ब साबित करते हैं । स्वयं शुक्लजी भी जहाँ अपवादरूप से आत्मवादी विचारधारा की ओर झुक जाते है, वहाँ क्रोचे की उपर्युक्त धारणा से मिलती-जुलती बात ही कहते हैं । जैसे यह उक्ति : "परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनको धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अन्तःकरण नहीं, विश्वात्मा है ।" (करुणा) । मानव मात्र के हृदय को विश्वात्मा कहा जाय तो बात दूसरी है लेकिन शुक्लजी का वह अर्थ नहीं है । उन्होंने अन्यत्र भी लिखा है कि काव्य का लक्ष्य यह है कि "मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे ।" (काव्य में अभिव्यंजनावाद) । लेकिन मनुष्य की अनुभूति विकासमान है । इन्द्रियज ज्ञान से मनुष्य बुद्धि-व्यवसायी ज्ञान की ओर बढ़ता आया है, पूर्वजों के संस्कारों में नये संस्कार जोड़ता आया है, यह शुक्लजी सिद्ध कर चुके हैं । इसलिए देशकालबद्ध मानव से परे कोई त्रिकालवर्तिनी अनुभूति नहीं है ।

इस तरह की उक्तियाँ अपवाद हैं। शुक्लजी जब हृदय की मुक्त दशा की बात करते हैं तब उसकी व्याख्या करके स्पष्ट कर देते हैं कि उनका आशय लोक-हृदय में लीन होने की दशा से है।

शुक्लजी की आलोचना बड़ी गम्भीर है, यह बात अक्सर दोहराई जाती है। इस प्रशंसा में अज्ञान भी छिपा रहता है। बात समझने में बुद्धि पर ज्यादा जोर पड़े तो उसे गम्भीर कहने से जल्दी पीछा छूट जाता है। दूसरी तरह का अज्ञान शुक्लजी को देखकर मुंह मटकाने से प्रकट होता है। ब्राह्मणवादी हैं, एकांगी समाजशास्त्री हैं, आउट आफ डेट हैं, कुछ अंग्रेजी चीजों का अनुवाद किया है, मध्य-वर्ग के संस्कारों से पीड़ित हैं, आदि बातें इसी तरह का अज्ञान प्रकट करती हैं।

शुक्लजी की आलोचना गम्भीर है, इसलिए कि उसका आधार वस्तुवादी दृष्टिकोण है। वह संसार के उन इने-गिने आलोचकों में हैं जिन्होंने मुक्त कण्ठ से इस भौतिक जगत्, मनुष्य के व्यवहार जगत् को सत्य स्वीकार किया है। शुक्लजी ने लिखा है: "संसार का अर्थ आजकल योरप और अमेरिका लिया जाता है।" जब संसार में भारत की भी गिनती होने लगेगी, यानी कुछ बुद्धिजीवियों का दिमाग पश्चिम की गुलामी से मुक्त होगा, वहाँ की प्रगतिशील विचारधारा पहचान कर उससे शुक्लजी की तुलना करेगा, तब वह उनका महत्व पहचानेगा, उससे पहले नहीं।

शुक्लजी की गम्भीरता का दूसरा कारण उनकी तर्क और चिन्तन-पद्धति है। इस पद्धति को हम द्वंद्व नाम दें तो अनुचित न होगा। विरोधी लगने वाली वस्तुओं का सामंजस्य पहचानना, उन्हें गतिशील और विकासमान देखना, संसार के विभिन्न भौतिक और मानसिक व्यापारों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके उनका अध्ययन करना इस पद्धति की विशेषताएँ हैं। भारतीय दार्शनिकों और तार्किकों की लम्बी परम्परा में भी शुक्लजी अपनी इस चिन्तन-पद्धति के कारण एक श्रेष्ठ विचारक ठहरते हैं।

विरोधी तत्त्वों की एकता देखने के कारण शुक्लजी ही लिख सकते थे: 'यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है।" (श्रद्धा-भक्ति)। कारण यह है कि एक में प्रवृत्ति का क्रम है तो दूसरे में निवृत्ति का। साहित्य के लिए दोनों का संयोग आवश्यक है। "जीवन में इस निवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रभाव साथ-साथ चलता है।" (उप०)। इस पद्धति से उन्होंने निर्माण के साथ ध्वंस को भी आवश्यक बतलाया है, माधुर्य के साथ भीषणता में भी सौंदर्य देखा है। इसी पद्धति से रूपविधान और भाव का सम्बन्ध, इन्द्रियबोध और विचार का सम्बन्ध, साहित्य में सामान्य और विशेष का सम्बन्ध समझ में आता है। इसी तरह साहित्य में विभिन्न अर्थों का समन्वय होता है। अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है, आप्तोलब्ध का इतिहास और कल्पित अर्थ का काव्य है। "पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं।" (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। इसी तरह काव्य में विभाव प्रधान वस्तु है; उसी से

भाव-व्यंजना होती है। "भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति नहीं हो सकती।" (साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद)। काव्य मे साधारण और असाधारण का सम्बन्ध इसी पद्धति से समझा जा सकता है। "साधारण के बीच मे ही असाधारण की प्रकृति अभिव्यक्त हो सकती है।" (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। इस तरह के वाक्य अचानक पाठक को चमत्कृत कर देते हैं। उनमें जीवन और साहित्य के सत्य की झलक रहती है, यही उनके अनूठेपन का कारण है।

शुक्लजी ने न तो ऑस्कर वाइल्ड जैसे कुछ लेखकों की तरह आलंकारिक शैली मात्र के विरोधाभास खड़े किए हैं, न उन्होंने कुछ भारतीय समन्वयवादियों की तरह वास्तविक विरोध पर पर्दा डालकर नकली एकता कायम कर दी है। वह विरोधी लगने वाले तत्त्वों की जो एकता दिखलाते हैं, वह वास्तविक होती है, उस का आधार मनुष्य का व्यवहार-जगत् होता है, कल्पना नहीं।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है: "संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है।" इसकी बहुत अच्छी मिसाल वह विवेचन है जहाँ शुक्लजी ने विदेश के सामाजिक आन्दोलनों से भारत का सम्बन्ध जोड़ा है। इस पद्धति के कारण वह क्रोचे आदि विचारकों और अंग्रेजी के इलियट आदि कवियों के हानिकर प्रभाव से हिन्दी लेखकों और पाठकों को सावधान कर सके।

वह वस्तुओं और विचारों को गतिशील और विकासमान किस तरह देखते हैं, इसकी मिसाल मनुष्य की देव-सम्बन्धी धारणा, उसकी भावना और चिन्तन के विकास तथा संस्कारों के अर्जन का विवेचन है। उन्होंने अनेक रसवादियों या कल्पनावादियों की तरह मनुष्य के भाव-जगत् को अपरिवर्तनशील नहीं माना। इसीलिए विकास-क्रम में कौन-से तत्त्व पतनशील हैं, कौन-से प्रगतिशील, इसका भेद वह दिखा सके। उन्होंने संस्कृत, फारसी, हिन्दी, उर्दू के दरबारी साहित्य का लगातार और डटकर विरोध किया। उन्होंने हिन्दी साहित्य में संस्कृत साहित्य के पतनशील रुझान छोड़ने को कहा, उसके प्रगतिशील रुझान अपनाने की सलाह दी। उन्होंने लिखा है: "हिन्दी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था।" (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। यहाँ एक ओर तो उन्होंने संस्कृत साहित्य से हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध देखा है। द्वंद्व-पद्धति की यह एक विशेषता है। साथ ही उन्होंने संस्कृत साहित्य को गतिशील देखा है, उसके पतनशील रूप से सावधान किया है। द्वंद्व-पद्धति की यह दूसरी विशेषता हुई।

शुक्लजी की गम्भीरता का तीसरा कारण उनका सामाजिक दृष्टिकोण है। वह हिन्दी के मानववादी, सामन्त-विरोधी और देशभक्त लेखक हैं। उन्हें जन-साधारण से प्रेम है। इसलिए वह साधारण में ही असाधारण की स्थिति देख सकते हैं। उन्हें अपने देश की संस्कृति से प्रेम है, इसलिए वह पश्चिम के घटिया सिद्धान्तों की नकल बर्दाश्त नहीं कर सकते। इस दिशा में कहीं-कहीं उनका विवेचन गलत

हो गया है, कहीं-कहीं तुलसी को महान् सिद्ध करने की धुन में वह साहित्य का सम्बन्ध धर्म से जोड़ने लग गए हैं, लेकिन यह उनकी मूल विचारधारा नहीं है। सच्चे हिन्दूवादी और इस्लामवादी की पहचान यह है कि वह साम्राज्यवाद और सामन्तवाद का समर्थक होता है। शुक्लजी साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के निर्मम आलोचक हैं। उन्होंने पैसे पर टिके हुए मानव-सम्बन्धों की, पूंजीवादी सभ्यता की कड़ी आलोचना की है, योरप के उपनिवेशवादियों का सच्चा रूप प्रकट किया है, कविता को उद्दीपन का व्यापार बनानेवालों और धार्मिक पाखण्ड से जनता को ठगने वालों की तीखी नुक्ताचीनी की है। शुक्लजी का काव्यशास्त्र जैसे दार्शनिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है, वैसे ही उनका साहित्यालोचन सामाजिक क्षेत्र में है।

मनुष्य उनके लिए देशबद्ध प्राणी है। जिसके हृदय मे देशप्रेम नहीं, उसका मानवतावाद झूठा है। काव्य में प्रकृति-चित्रण की माँग करते हुए न तो उन्होंने प्रकृति को आध्यात्मिक सत्य का संदेशवाहक बनाया है, न उसकी रूपपूजा को महत्त्वपूर्ण माना है। प्रकृति-चित्रण की आवश्यकता उससे मनुष्य के साहचर्य से पैदा होती है। और मनुष्य का सबसे ज्यादा सम्बन्ध उसके अपने देश से होता है। "इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता, वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता।" (काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। शुक्लजी नहीं चाहते कि जैसे "एक अमेरिकन फारसवालो को उनके देश का सारा हिसाब-किताब समझाकर चला गया", वैसे ही भारत के लोग भी अमेरिकनों से देशप्रेम करना सीखें और "विलायती बोली में 'अर्थशास्त्र' की दुहाई" दिया करें। शुक्लजी की देशभक्ति तमाम हिन्दी पाठकों और साहित्यकारों को अपनी स्वाधीनता की रक्षा करना सिखलाती है। इस स्वाधीनता को आज खास खतरा उन्ही से है जो फारस वालों को देश का हिसाब-किताब समझाकर चले नहीं आए, वरन् वहाँ युद्ध का अड्डा बना रहे हैं।

दृढ़ता, आत्मविश्वास और निर्भीकता शुक्लजी के विशेष गुण हैं। लाख विरोधी प्रचार हो, वह अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहे। रहस्यवाद की भारत-व्यापी धूम होने पर उन्होंने उसका विरोध करना नहीं छोड़ा। भारतीय अध्यात्म-वाद की विश्व में डुग्गी पिटने पर भी उन्होंने वास्तविक जगत् का सूत्र नहीं छोड़ा, इस जगत् के चित्रण को भारतीय साहित्य की मूल विशेषता बतलाया और अध्यात्म शब्द को साहित्य के मैदान से बाहर निकाल देने को कहा। अंग्रेजी और संस्कृत की धाक की परवाह न करके उन्होंने इन भाषाओं के साहित्य में उन्हें जो कमजोरियाँ दिखी उनका भी खुलकर विवेचन किया। इन सब कामों के लिए उन्हें बल मिलता था हिन्दी जनता से, हिन्दी के तरुण विद्यार्थियों से, उच्च वर्गों की अवज्ञा और अपमान से, बाल्मीकि, भवभूति और तुलसी की परम्परा से, संसार की बढ़ती हुई स्वाधीनता-प्रेमी मानवता से और अपने विशाल हृदय से।

शुक्लजी सहृदय आलोचक हैं। तर्कशास्त्री से अधिक वह भावुक साहित्य-

प्रेमी हैं। उनकी तर्क-योजना में चूक हो सकती है, सहृदयता में नहीं। उनमें भारतेन्दु-युग की जिन्दादिली है, उस युग के लेखकों जैसा व्यंग्य-विनोद है। व्यंग्य हमेशा विनोद के लिए नहीं होता। कहीं-कहीं उनका व्यंग्य क्रोधाग्नि में तपे हुए तीर की तरह होता है। लोभियों के लिए वे कहते है, "न उन्हें मक्खी चूसने मे घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया।" ऐसा तीखा व्यंग्य या तो प्रेमचन्द में मिलता है या निराला में। ऐसे तीर वे जब-तब ही निकालते हैं। उनका विनोद साधारणत: मनोरंजन और उल्लास के लिए होता है। "एक सभा के सहायक मन्त्री हैं जो कार्य-विवरण पढ़ने में संकोच करते है। सारांश यह है कि एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नही करते, और सब बातो मे करते है।" (लज्जा और ग्लानि)। केशव, मिश्रबन्धु आदि उनके व्यंग्य-विनोद का लक्ष्य किस तरह बने हैं, यह हम पहले देख चुके हैं।

शुक्लजी की शैली वैज्ञानिक विवेचन की शैली है। उसमें कलात्मक सौन्दर्य पैदा करने की कोशिश नहीं की गई। फिर भी यह शैली एक-सी नही है। करुणा, क्रोध आदि निबन्धों में शैली का आनन्द कम है; सूक्ष्म तर्क-योजना मे रस लेने वाले ही इन्हें पढ़कर प्रसन्न हो सकते हैं। जहाँ-तहाँ आवेशपूर्ण वाक्य या आलंकारिक शैली आ गई है, वह मरुभूमि में जलाशय की तरह। लेकिन 'काव्य मे प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' आदि निबन्ध खूब प्रवाहपूर्ण है। इनमे एक सरस वक्ता की आवेशपूर्ण शैली का आनन्द मिलता है। शुक्लजी की आलोचना जब लड़ाकू रूप धारण करती है, तब उनकी शैली बहुत ही स्वाभाविक और मनोरंजक होती है।

शुक्लजी की एक बहुत बड़ी विशेषता अत्यन्त सारगर्भित वाक्य रचने की क्षमता है। इस तरह के वाक्य अनायास उनके साधारण वाक्य-प्रवाह मे आकर अपनी असाधारणता से पाठक को आकर्षित कर लेते है। इन वाक्यो मे जीवन के अनुभवों और सुदीर्घ चिन्तन का फल संचित होता है। 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।" "जिन्हें यह कहने मे संकोच नही कि हम बड़े संकोची हैं, उनमे संकोच कहाँ?" "जो किसी के लिए नही जीते, उनका जीना-न-जीना बराबर है।" "राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नही।" इस तरह के सैकड़ों वाक्य उनकी रचनाओं में बिखरे हुए है।

जहाँ-तहाँ वह भारतेन्दु-युग के लेखकों के रंग में शब्द-चमत्कार दिखाते हुए विनोद करते हैं। 'लोभ और प्रीति' के सिलसिले मे "सबकी टकटकी टके की ओर लग गई"; "लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गये।" या क्रोध की चर्चा में, "धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा।"

शुक्लजी ने तत्सम शब्दों का प्रयोग काफी किया है लेकिन इधर के आलोचकों से कम। तद्भव रूपों का भी प्रयोग वह धड़ल्ले से करते हैं। जैसे इतिहास में: "वज्रयानी सिद्धों का लीला-क्षेत्र भारत का पूरबी भाग था। गोरख ने अपने पन्थ

का प्रचार देश के पच्छिमी भागों में" किया। पूरब-पच्छिम जैसे रूप उनके यहाँ खूब हैं। उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने काफी और बिना झिझक के किया है। इतिहास में देव-बिहारी वाले विवाद का नतीजा बतलाते हुए लिखा है कि बहुत से लोग "इस तुलनात्मक समालोचना के मैदान मे उतरने का शौक जाहिर करने लगे।" अंग्रेजी पढ़े-लिखों की हिन्दी में 'जो दोष रहते थे, वे उनकी खातिर से दरगुजर कर दिए जाते थे।" बदरीनारायण चौधरी ने अपने दो नाटक "हाथ आजमाने के लिए लिखे थे।" किशोरीलाल गोस्वामी के लिए "खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नही पहनाया।" इस तरह के और बहुत से वाक्य उद्धृत किए जा सकते है। उर्दू शब्दों के प्रयोग का तो कहना ही क्या। 'अलबत' उनका वैसे ही प्रिय शब्द है जैसे 'नाना'!

किसी लेखक का कृतित्व ही उसका सच्चा व्यक्तित्व है। शुक्लजी के कृतित्व का अब तक जो विवेचन हुआ है, उसी को उनके मेधावी व्यक्तित्व का विवेचन समझना चाहिए। इसके सिवा कुछ उनकी व्यक्तिगत बातें है जिनसे पाठकों को दिलचस्पी हो सकती है। उनके इतिहास में जहाँ-तहाँ दो-चार बातें इस तरह की मिलती हैं। शुक्लजी भारतेन्दु-युग के अनेक लेखको से अच्छी तरह परिचित थे। बालकृष्ण भट्ट से उन्होंने अनेक बार सुना था, "न जाने कैसे लोग बड़े-बड़े लेख लिख डालते हैं।" एक बार वह शुक्लजी के घर आए थे और इनके भाई की आँख आई देखकर बोले थे, "भैया! यह आँख बड़ी बला है; इसका आना-जाना, उठना-बैठना सब बुरा है।" बदरीनारायण चौधरी शुक्लजी पर विशेष कृपा रखते थे। कांग्रेस में दो दल होने पर उन्होंने शुक्लजी से एक नोट लिखने को कहा था। उसका एक वाक्य बदलकर उन्होंने यो लिखने का आग्रह किया था, "दोनों दलों की दलादली में दलपति का विचार भी दलदल मे फंसा रहा।" शुक्लजी ने ठीक यही शैली तो नहीं अपनाई, लेकिन कभी-कभी मनोरंजन के लिए उससे मिलती-जुलती सानुप्रास शैली का प्रयोग उन्होने जरूर किया है। जैसे सत्यनारायण कविरत्न के लिए लिखा है, "वे थे ब्रजमाधुरी मे पगे जीव; उनकी पत्नी थी आर्य्यसमाज के तीखेपन मे तली महिला।"

बदरीनारायण चौधरी से उन्होंने भारतेन्दु के बारे मे बहुत-सी बाते सुनी होंगी। आनन्दकादंबिनी पर भारतेन्दु ने जो राय दी थी, उसे शुक्लजी ने इतिहास में उद्धृत किया है। (पृ० ५६०)। प्रसादजी से उन्होंने कई बार ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिए कहा था, इसका जिक्र भी उन्होंने किया है। इस तरह के उल्लेख आलोचना मे सस्मरणों का महत्त्व जोड़ देते हैं। शुक्लजी इतिहास लिख रहे थे, सस्मरण नही; इसलिए उन्होंने आवश्यक होने पर ही ऐसी बातों की चर्चा की है।

अपने बारे में उन्होंने कम लिखा है, फिर भी उनकी रचनाओं मे जहाँ-तहाँ व्यक्तिगत बातो का उल्लेख हुआ है, उनसे पुस्तक-सेवी विद्वान् के बदले एक घुमक्कड़ और विनोदी व्यक्तित्व की तसवीर बनती है। "मैंने पहाड़ों और जंगलों

में घूमते समय" साधुओं को प्रकृति पर मुग्ध होते देखा था। साधु मुग्ध हुए हों चाहे न हुए हों, शुक्लजी ने जंगलों-पहाड़ों में घूमकर प्रकृति का बहुत निकट से परिचय पाया था, इसमें सन्देह नहीं। "एक दिन रात को मैं सारनाथ से लौटता हुआ" काशी की गली में प्राचीन उज्जयिनी का भ्रम कर चुका था। यह भ्रम टूटा म्युनिसिपैलिटी की लालटेन से! काशी की गलियों में उन्होंने ठठेरों को मायावाद समझाकर गाहक से दूना दाम वसूल करते देखा था। साँची का स्तूप देखते हुए महुओं की सुगन्ध पर वह झूम उठे थे और उस लखनवी दोस्त से खीझ उठे थे जिसे डर था कि महुए का नाम लेने से लोग देहाती समझेंगे।' उन्होंने चूल्हा फूंकते हुए ब्राह्मण देवता को उसमें पानी डालते देखकर रसात्मक अनुभूति की थी, सीताराम और करेला कहकर बूढ़ों को चिढ़ाने वाले लड़कों की भीड़ से भी आनन्द प्राप्त किया था। इसका कारण शुक्लजी का मानवप्रेम, उनकी विनोद-प्रियता और जिंदादिली थी। लड़कों के सिवा बूढ़े रसिकों से भी यह पद सुनकर उन्होंने याद कर लिया था, "कवि सेवक बूढ़े भए तौ कहा पै हनोज है मौज मनोज ही की"!

शुक्लजी में कुछ बातें डाक्टर जॉनसन की-सी हैं। दोनों ही लेखक सहज बुद्धि (कॉमन सेन्स) की जमीन नहीं छोड़ना चाहते। शुक्लजी यथार्थवाद की कसौटी पर कभी-कभी साहित्य को इस तरह परखते हैं कि अद्‌भुत रस की सृष्टि हो जाती है। प्रकृति को अबलामय देखने वाले कवियों को लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं, "आज-कल तो स्त्री-कवियों की कमी नहीं है। उन्हें अब पुरुष-कवियों का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी-मूंछ के रूप में देखना चाहिए।" जायसी की भूमिका में "काजर दे नहीं एरी सुहागिनी! आँगुरि तेरी कटैगी कटाछन"—इस पंक्ति पर शुक्लजी की टिप्पणी है, "यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिए छुरी, हँसिया आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिए।"

शुक्लजी ने अपने निबन्धों द्वारा हिन्दी के काव्य-शास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार दिया। इस आधार पर उन्होंने साहित्य की प्रगति-विरोधी धाराओं का खंडन किया और संस्कृत-हिन्दी की प्रगतिशील परम्परा का समर्थन किया। उनकी शैली तार्किक विवेचन के लिए उपयुक्त होने के साथ आवश्यकतानुसार आवेशपूर्ण और आलंकारिक भी है और उसकी एक विशेषता जीवन का संचित अनुभव प्रकट करने वाली वाक्यावली है। शब्दचयन में उर्दू के प्रचलित शब्दों से उन्हें परहेज नहीं है। उनका व्यक्तित्व एक सहृदय और विनोदी साहित्य-प्रेमी और संसार-प्रेमी मनुष्य का है, पुस्तक-सेवी संन्यासी का नहीं। उनकी निर्भीकता, दृढ़ता, गहन अध्यवसाय और आत्मविश्वास के गुण उनके काव्य-सिद्धान्तों और साहित्यालोचन की ही तरह हिन्दी-प्रेमियों के लिए शिक्षाप्रद और प्रेरणादायक हैं।

शुक्लजी का पुनर्मूल्यांकन और वामपंथी अवसरवाद

१. साम्राज्यवाद और सामंतवाद

जुलाई-सितंबर १९८५ की 'आलोचना' में वीरभारत तलवार ने एक लेख लिखा —'राष्ट्रीय आन्दोलन और रामचंद्र शुक्ल'। (आगे कोष्ठकों में दी हुई संख्या इसी अंक की पृष्ठ संख्या है।) इसमें उन्होंने प्रश्न किया है, "क्या रामचंद्र शुक्ल सामंतवाद विरोधी थे?" (२१)। इस सिलसिले में वामपंथी लेखकों की स्थिति यह है : "सी. पी. आई., सी. पी. एम. और सी. पी. आई. (एम. एल.)—तीनों से जुड़े लेखक आज एक स्वर में कह रहे हैं कि शुक्लजी सामंतवाद विरोधी थे। यह स्थापना असल में रामविलास शर्मा की है।" (उप०) वीर भारत तलवार को इन लेखकों से शिकायत यह है कि उन्होंने शुक्लजी की असंगतियों की ओर ध्यान नहीं दिया। "रामविलासजी के तरह-तरह के मार्क्सवादी भक्तों ने रामविलासजी द्वारा दिखायी गयी शुक्लजी की असंगतियों को भुला दिया और शुक्लजी सामंतवाद विरोधी थे, इसे रट लिया।" (उप०)

वास्तव में बात केवल असंगतियों को भुलाने की नहीं है। ऐसा होता तो उनकी याद दिलाने से काम चल जाता। वीरभारत की स्थापना यह है कि शुक्लजी मूलतः सामंतवाद के समर्थक थे; साम्राज्यवाद का मुख्य सामाजिक आधार था सामंतवाद, अतः शुक्लजी मूलतः साम्राज्यवाद के समर्थक भी थे। इसी कारण उन्होंने सन् २० के असहयोग आन्दोलन का विरोध किया। अपने विश्लेषण के लिए उन्होंने १९२१ में लिखे हुए शुक्लजी के एक लेख को आधार बनाया। मूल लेख अंग्रेज़ी में था; 'असहयोग और अव्यापारिक श्रेणियाँ' शीर्षक से उसका हिन्दी रूपान्तर अक्तूबर १९८३—जनवरी १९८४ के 'दस्तावेज़' में छपा। वामपंथी लेखकों पर शुक्लजी का इतना प्रभाव है कि वीरभारत अपनी बात साफ-साफ कहते

सकुचाते हैं। प्रश्न करते हैं, "शुक्लजी की मूल विचारधारा क्या थी? साम्राज्य-वाद-सामंतवाद विरोधी विचारधारा? अगर हाँ, तो बोल्शेविक क्रांति से संबंधित उनके विचार उनकी विचारधारा से मेल क्यों नहीं खाते?" (उप०)। इन प्रश्नों का एक ही उत्तर हो सकता है: शुक्लजी की विचारधारा न तो साम्राज्य विरोधी थी, न सामंत विरोधी, इसीलिए उन्होंने बोल्शेविक क्रांति का विरोध किया था। पर शुक्लजी को प्रतिक्रियावादी कहने से वीरभारत कतराते है। उससे उल्टी बात कहते हैं, "शुक्लजी रुढ़िवादी या प्रतिक्रियावादी लेखक नहीं थे।" (२३)।

वीरभारत की तर्क योजना इस प्रकार है: अंग्रेजी राज का मुख्य आधार सामंत वर्ग था। "शुक्लजी बड़े सामंत वर्ग के समर्थक न थे, यह सही है। छोटे सामंत वर्ग के समर्थक थे या नहीं? क्या २% बड़े सामंत वर्ग की भूमि व्यवस्था सामंतवादी थी और ९८% छोटे सामंत वर्ग की भूमि-व्यवस्था सामंतवादी न थी?" (२२) सामंत-विरोधी क्रांति हो तो छोटे बड़े सामन्तों पर एक साथ हल्ला बोलना चाहिए, वर्ना वह २% सामंतों के खिलाफ होगी, ९८% सामंत बच जायेंगे। अब यदि यह बात याद रखें कि सामंत वर्ग अंग्रेजी राज का आधार है तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इस वर्ग के खिलाफ संघर्ष की योजना अंग्रेजी राज को ध्यान में रखकर ही बनायी जायेगी। साम्राज्यवाद के संदर्भ में ९८% छोटे जमीदारों और २% बड़े सामन्तो मे महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि छोटे जमीदार साम्राज्य-वाद द्वारा शोषित है, बड़े सामन्त उसके आधार स्तभ है। लेकिन वीरभारत का मत है, साम्राज्यवाद से लड़ना है तो उसके द्वारा शोषित जमीदारों और उसके आधार स्तंभों—दोनों के विरुद्ध एक साथ लड़ाई छेड़ देनी चाहिए। इस क्रान्ति-कारिता से अलग खड़े हुए "शुक्लजी की चिन्ता के विषय थे छोटे जमीदार, जो अंगरेजी राज में तबाह हो रहे थे।" (१९)। जैसे निर्माण कार्यों मे बड़ी-बड़ी ठेकेदार कंपनियाँ मालामाल हो जाती हैं, उनके मातहत ठेकेदार "गरीब और तबाह नजर आते हैं, वैसे ही अँगरेजी राज मे छोटे जमीदार भी तबाह थे।" (उप०)। छोटे जमींदारों की तबाही मे कोई सन्देह नही है। उनकी तबाही के मुद्दे पर रामचंद्र शुक्ल और वीरभारत तलवार मे कोई मतभेद नही है। मतभेद है रणनीति को लेकर। वीरभारत का मत है कि जो साम्राज्यवाद द्वारा शोषित है और जो साम्राज्यवादी शोषण में सहायक है, दोनों तरह के सामंतों का विरोध एक साथ करना चाहिए। सामंत वर्ग एक रूप वर्ग नही है, साम्राज्यवाद से उसके विभिन्न स्तरों का संबंध एक-सा नही है, यह जानते हुए भी वीरभारत तलवार ने उसके सभी स्तरों से एकबारगी युद्ध छेड़ने की नीति का समर्थन किया है। यह समझना कठिन नहीं है कि इस नीति से लाभ साम्राज्यवाद को होगा, उसके विरोधियों को नहीं।

चीन में पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा साम्राज्यवाद से मिला हुआ था। त्रोत्स्की का कहना था कि पूंजीपति सब एक से है, साम्राज्यवाद से चाहे मिले हों, चाहे न मिले हों। इसलिए चीन में जनवादी क्रान्ति का नही, सर्वहारा क्रान्ति का

नारा देना चाहिए। आगे चलकर जापान के विरुद्ध राष्ट्रीय प्रतिरोध संगठित करते हुए माओ जे दुंग ने पूंजीपतियों में तो भेद किया ही, उन्होंने जमींदारों में भी भेद किया, इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने साम्राज्यवादियों में भेद किया। जापान समर्थक पूंजीपतियों और जमींदारों को उन्होंने शत्रु माना, जापान-विरोधी पूंजीपतियों और जमींदारों को उन्होंने सहयोगी बनाया। अमरीका और जापान के अन्तर्विरोध से लाभ उठाकर उन्होंने अमरीकी साम्राज्यवाद के समर्थकों से भी सहयोग करने पर जोर दिया।

दिसंबर १९३५ में उन्होंने राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे की सरकार के बारे में कहा: "वर्तमान काल में ऐसी सरकार का बुनियादी काम चीन को हड़पने के जापानी साम्राज्यवादी प्रयत्न का विरोध होना चाहिए। इसमें विस्तृत प्रतिनिधित्व होगा, जिससे इस सरकार में वही भाग लें जो राष्ट्रीय क्रांति के लिए आतुर हैं पर खेतिहर क्रान्ति नहीं चाहते और ऐसे लोग भी शामिल हो सकते हैं, जो अपने संबंधों के कारण अमरीका और योरप के साम्राज्यवाद का तो विरोध नहीं करेंगे, पर जापानी साम्राज्यवाद और उसके दलालों का विरोध करेंगे।" (माओत्से-तुंग, **चुनी हुई कृतियाँ**, पहला ग्रंथ, कानपुर, १९६८, पृ० २०५)। जो राष्ट्रीय क्रान्ति चाहते हैं पर खेतिहर क्रान्ति नहीं चाहते, अर्थात् सामंत वर्ग के सभी स्तरों का विनाश नहीं चाहते, वे राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे में शामिल होंगे, इस मोर्चे की सरकार में शामिल होंगे। जो लोग जापानी साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं, पर अमरीकी तथा यूरोपियन साम्राज्यवाद का विरोध नही करते, वे भी इस सरकार में शामिल हो सकते हैं।

मई १९३७ मे माओ जे दुंग ने कम्युनिस्ट पार्टी के राष्ट्रीय सम्मेलन में अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए बताया कि पार्टी ने च्याङ् काई शेक के दल क्वोमिन्तांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी को 'तार देकर निम्न चार बातों की प्रतिज्ञा की है।" इनमें चौथी बात यह है: "जमीदारो मे जमीन छीनना बंद कर दिया जायगा।" (उप०, पृ० ३३०)। माओ जे दुंग के लिए साम्राज्यवाद मूर्त इकाई था। उसका नाम था जापानी साम्राज्यवाद। इसे उन्होंने दूसरी मूर्त इकाई अमरीकी साम्राज्यवाद से अलग करके अपनी कार्यनीति बनायी थी। जापानी साम्राज्यवाद से चीनी सामंत वर्ग के विभिन्न स्तरों का संबंध पहचानते हुए उन्होंने जमींदारों से जमीन छीनना बंद करने की बात कही थी। तब यदि रामचंद्र शुक्ल ने साम्राज्यवाद के समर्थक बड़े सामन्तों का विरोध किया, उसके द्वारा तबाह किये जाने वाले छोटे सामंतों से सहयोग किया, तो उन्होंने कोई गंभीर अपराध न किया था। वास्तव में राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की सफलता के लिए उस तरह का सहयोग उचित था और आवश्यक था। चीन में वामपंथी पैंतरेबाजी से जो लोग राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे के विघटन में जी-जान से लगे थे, उन्हें त्रोत्स्कीवादी कहा जाता था। माओ ने इन्हें भी शत्रुओं में गिना था। मई १९३७ वाली रिपोर्ट में उन्होंने कहा था, "हमारे दुश्मन—जापानी साम्राज्यवादी, साम्राज्यवाद के चीनी सहयोगी, जापान परस्त

गुट और त्रोत्स्कीवादी—पूरी ताकत लगाकर यह कोशिश कर रहे हैं कि शान्ति और एकता के लिए, जनवाद और स्वतंत्रता के लिए और जापान का सशस्त्र प्रतिरोध करने के लिए उठाये जाने वाले हर कदम को बेकार बना दिया जाय।" (उप०, पृ० ३३०)। कम्युनिस्ट नेताओं की सतर्कता से त्रोत्स्कीवादी मन्सूबे सफल न हुए, जापान की पराजय के बाद चीन में जनवादी क्रान्ति संपन्न हुई।

वीर भारत तलवार ने शुक्लजी पर वह सब कहने का आरोप लगाया है जो वास्तव में त्रोत्स्कीवादी राजनीतिज्ञ सारी दुनिया में कहते रहे हैं। शुक्लजी के लिए "पूँजीवाद पूँजीवाद था, चाहे वह देशी हो या विदेशी, उत्पीड़ित हो या दलाल, विकासशील हो या साम्राज्यवादी। इस तरह वे पूँजीवाद को एक भाव के रूप में, एक तत्व के रूप में, एक धर्म (वणिक धर्म) के रूप में देखते थे और हर जगह उसका समान रूप से विरोध करते थे।" (१७)। उल्टा चोर कोतवाल को डाटे! सामंतवाद को भाव, तत्व, धर्म बनाया है वीर भारत तलवार ने और इस तत्ववाद के लिए दोषी ठहराया है शुक्लजी को! सामन्त चाहे उत्पीड़ित हों चाहे साम्राज्यवाद के समर्थक हों, हर जगह उनका विरोध करने की माँग वीरभारत तलवार ने की है।

"सवाल सामंतवाद का है। सामंतों में बड़े सामंतों का भी वर्ग था। शुक्लजी बड़े सामंत वर्ग के समर्थक न थे, यह सही है। छोटे सामंत वर्ग के थे या नहीं?" (२२)। चीन में जापान समर्थक सामंतों का वर्ग था। माओ जे दुंग इस वर्ग के समर्थक न थे, यह सही है। जापान विरोधी सामंत वर्ग के समर्थक थे या नहीं? क्या भारत में कोई साम्राज्य विरोधी सामंत वर्ग था? वीर भारत का कहना है, "खुद इस छोटे जमींदार वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन के एक दौर तक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।" (२७)। भारत में साम्राज्य विरोधी सामंत वर्ग था। वीरभारत उसके साथ संयुक्त मोर्चा बनाना भी अनुचित नहीं मानते। प्रेमचंद का हवाला देकर कहते हैं कि "किसान और जमीदार के सहयोग की शर्त किसानों के हितों का त्याग नहीं हो सकती; त्याग जमीदार को करना होगा।" (२५)। किस तरह का त्याग? जमीन का त्याग या गैरकानूनी कार्रवाइयों का त्याग? प्रेमचंद के संग्राम नाटक में सबलसिंह "नाजायज लगान इजाफा नहीं करता, नजराना नहीं लेता, बेगार और रसद नहीं माँगता, असबाब नहीं वसूलता, बात बात पर बेदखली की धमकी नहीं देता।" (उप०)। यानी वह अंग्रेजी राज में तबाह होने वाला छोटा जमींदार नहीं है, नाजायज आमदनी के तमाम जरिये उसे सुलभ हैं, वह चाहे तो उनका उपयोग कर सकता है। जायज आमदनी के जरिये तो उसके पास हैं ही। "नाटक के अंत में सबलसिंह अपनी जमीदारी से इस्तीफा देता है।" (उप०)। जायज आमदनी के ज़रिये छोड़ देने के बाद खुद किसान की तरह रहने लगा होगा। शुक्लजी जिस छोटे जमींदार को साथ लेने की बात कहते हैं, वह किसान जैसा ही है। चंद्रशेखर आजाद से उन्होंने कहा था, "औसत जमीदार टैक्स आदि देने के बाद किसान की ही तरह हो जाता है।" ('साक्षात्कार', अगस्त-नवंबर

१९८४, पृ. २५५)।

वीरभारत का तर्क है, "भारत के बहुसंख्यक किसानों का जमींदार वर्ग से विरोध था। उनका शोषण उत्पीड़न जैसे बड़े जमींदार करते थे, वैसे ही छोटे जमींदार भी करते थे।" (२२)। चीन के बहुसंख्यक किसानों का भी जमींदार वर्ग से विरोध था। उनका शोषण उत्पीड़न जैसे जापान समर्थक जमींदार करते थे, वैसे ही जापान विरोधी जमींदार भी करते थे। यहाँ छोटे-बड़े जमींदार का सवाल भी न था। मुख्य अन्तर्विरोध जापानी साम्राज्यवाद से था। इसीलिए माओ ने जापान विरोधी जमीदारों को साथ लेना उचित समझा। संयुक्त मोर्चे में छोटे जमींदार थे, बड़े जमींदार थे। शुक्लजी ने आजाद से औसत जमींदारों के लिए कहा था, "अपने संगठन में उन्हें भी लीजिये। किसानों के साथ वे भी विद्रोह करने के लिए तैयार बैठे हैं।" (उप०)। साम्राज्यवाद का विध्वंस— यह है शुक्लजी के लिए किसानों के साथ छोटे जमीदारों के संयुक्त मोर्चे का उद्देश्य।

वीरभारत इस बात से क्षुब्ध हैं कि "जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की माँग किये बिना" शुक्लजी अंग्रेजी राज के खिलाफ किसान-जमींदार एकता की बात करते रहे और जो विचार उन्होंने १९२१ में प्रकट किये थे, "उन विचारों को उन्होंने १९३९ में दोहराया"। (२५)। १९३९ से दो ही वर्ष पहले माओ जे दुंग ने च्याङ् काई शेक को तार देकर आश्वस्त किया था, "जमींदारों की जमीन छीनना बंद कर दिया जायेगा।" वीरभारत ने संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए जिस जमींदार को आदर्श रूप से चुना है, वह "अपनी जमींदारी से इस्तीफा देता है।" (उप०)। इसका यह अर्थ होगा कि जमींदार के साथ संयुक्त मोर्चा तभी बनेगा जब वह जमींदार न रह जायेगा! संयुक्त मोर्चा केवल किसानों का होगा, जब तक जमींदार जमींदार है, तब तक वह उससे बाहर रहेगा। चीन की जनवादी क्रांति में राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग ने भाग लिया। मजदूरों का शोषण राष्ट्रीय पूँजीपति करते थे, राष्ट्र विरोधी पूँजीपति भी। दोनों से लड़ना चाहिए था, क्या फर्क पड़ता? पर चीनी कम्युनिस्ट एक से लड़े, दूसरे को बचा गये। त्रोत्स्कीवादियों के लिए वहाँ मुख्य अंतर्विरोध पूँजीवाद से था, साम्राज्यवाद से नहीं। वीरभारत तलवार के लिए भी यहाँ मुख्य अन्तर्विरोध सामंतवाद से था, साम्राज्यवाद से नहीं। और इस सामंतवाद का मुख्य भाग था छोटे जमींदारों का समूह। "शुक्लजी ने अँगरेजी राज में तबाह हो रहे छोटे जमींदारों की दुर्दशा को ठीक ही देखा" [ये सब भी अंग्रेजी राज के आधार थे, कितने मूर्ख थे अंग्रेज जो अपने राज के आधार को तबाह कर रहे थे!] पर शुक्लजी 'उनकी दुर्दशा को उसी वर्ग की दृष्टि से देख रहे थे, इसलिए वे जमींदारी प्रथा के सवाल को उठा ही न सकते थे जो देहाती इलाकों में मुख्य अन्तर्विरोध था और राष्ट्रीय आन्दोलन मे किसानों के हितों से संबंधित केन्द्रीय प्रश्न था।" (उप०)। मुख्य अन्तर्विरोध साम्राज्यवाद से नहीं है। किसानों के लिए केन्द्रीय प्रश्न राष्ट्रीय स्वाधीनता का नहीं है। जमींदार चाहे अंग्रेजों का समर्थक हो, चाहे विरोधी हो, अंग्रेजी राज में फलफूल रहा हो, चाहे तबाह हो रहा

हो, सब जमींदारों से एक साथ लडना चाहिए क्योंकि केन्द्रीय प्रश्न साम्राज्यवाद को खत्म करने का नहीं है, जमींदारी प्रथा को खत्म करने का है ! सामंतवाद को खत्म करना इसलिए जरूरी था कि वह साम्राज्यवाद का मुख्य आधार था, उसे स्वाधीनता आन्दोलन को सफल बनाने के लिए खत्म करना जरूरी था लेकिन इसी कारण कौन से सामंत अंग्रेजों से मिले है, कौन उनके विरोधी हैं, यह भेद करना बहुत जरूरी था। वीरभारत के विवेचन में किसानों के मुख्य शत्रु अंग्रेज और उनके समर्थक बड़े जमीदार नही हैं, मुख्य शत्रु है छोटे जमींदार, वे तबाह हो रहे हैं, किसानों के साथ मिलकर अंग्रेजों से लड़ सकते है पर मुख्य लड़ाई इन्ही से है। वीरभारत के विवेचन में बड़े जमींदार पीछे छूट जाते है, राजाओं-महाराजाओं का जिक्र ही नहीं है, मुख्य शत्रु के रूप में रह जाते हैं छोटे जमीदार। इस रणनीति के आधार पर स्वाधीनता आन्दोलन कभी सफल न हो सकता था। ऐसी रणनीति साम्राज्यवाद के लिए लाभकारी थी।

२. नया सामंतवाद, पुराना सामंतवाद

जैसे अंग्रेजी राज में तबाह होने वाले जमीदारों और उस राज में फलने-फूलनेवाले जमींदारों में भेद करना जरूरी था, वैसे ही अंग्रेजी राज के सामंतवाद और उससे पहले के सामंतवाद में भेद करना जरूरी था। अंग्रेजों ने जिन पुराने सामंतों को बचाये रखा, उन्हें अपनी कठपुतलियाँ बनाकर रखा। पुराने सामंतों का आपस में जो संबंध था, उनका प्रजा से और सम्राट् से जो संबंध था, वह सब बदल गया। इनके अतिरिक्त अंग्रेजों ने एक नया सामंत वर्ग भी तैयार किया जो उनके शोषण में सहायक था। अंग्रेजी राज में नये और पुराने सामंतों की प्रजा दोहरे उत्पीड़न का शिकार थी, एक उत्पीड़न अंग्रेजों का, दूसरा सामंतों का। इसीलिए अंग्रेजी राज से पहले का सामंत वर्ग अंग्रेजी राज के सामंत वर्ग से गुणात्मक रूप में भिन्न था। कोई आश्चर्य नहीं कि अनेक लेखकों को पुरानी समाज व्यवस्था अधिक संतुलित जान पड़ती थी।

शुक्लजी के अनुसार पुराने समाज में व्यापारिक और अव्यापारिक वर्गों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग थे। इस तरह समाज में संतुलन बना हुआ था। अंग्रेजी राज में यह सन्तुलन खत्म हो गया। "ईस्ट इंडिया कंपनी के रूप में यूरोप के घृणित व्यापारवाद ने भारत में कदम रखा और समाज के द्विस्तरीय विभाजन के आधार पर जो सामंजस्य इतने दिनों से चला आ रहा था उसे अस्त-व्यस्त कर दिया।" ('दस्तावेज़' पृ. २)। अंग्रेजों के "घृणित व्यापारवाद" के संदर्भ में पुराने समाज के संतुलन और सामंजस्य की बात सापेक्ष रूप में सही है। उस संदर्भ से अलग हटकर निरपेक्ष रूप में वह सही नहीं है। पुराना समाज संतुलित और सामंजस्यपूर्ण था—"क्या यह बात उन किसानों की नजर से कही जा रही थी जो सामंती शोषण के शिकार थे और अँगरेजी राज में भी बने रहे?" (८)। वीरभारत के

प्रश्न में सामंती शोषण का प्रवाह अविच्छिन्न है, पहले के और बाद के शोषण में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है। किसान पुरानी व्यवस्था में सामंती शोषण के शिकार थे, अंग्रेजी राज में भी बने रहे।

वीरभारत तलवार ने सामंती शोषण की प्रक्रिया दिखाने के लिए जिस तरह 'लगान' शब्द का प्रयोग किया है, उससे यह धारणा पुष्ट होती है कि उनके लिए नये पुराने सामंतवाद में कोई खास फर्क नही है। "उस समाज के वर्णन में शुक्लजी लगान के सवाल पर चुप हैं। लगान और रैयत पर सामंती दावों के सवाल पर चुप रहकर ही उस समाज को 'संतुलित' और 'सामंजस्यपूर्ण' कहा जा सकता था। जैसे ही लगान और उन दावों की बात आयेगी, सारा संतुलन ताश के महल की तरह ढह जायेगा। अत्यधिक लगान और सामंती दावों के कारण किसानों की घोर दरिद्रता ..।" (८)। वीरभारत ने यहाँ अंग्रेजी राज की लगान व्यवस्था पुराने समाज पर आरोपित की है। मालगुजारी, टैक्स, जमीन का भाड़ा—मोटे तौर पर 'लगान' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में किया जाता है। भाड़ा और टैक्स ये दो जुदा चीजें हैं। वीरभारत तलवार ने पुराने और नये लगान में फर्क नहीं किया क्योंकि उनके सामने भाड़ा और टैक्स में फर्क नहीं है। किसान पहले लगान देते थे, बाद में भी देते रहे; वे पहले सामती शोषण के शिकार थे, अंग्रेजी राज में भी बने रहे। जमीदार तो जमींदार! यदि वह अंग्रेजी राज में लगान वसूल करता था तो मुगल राज में क्यों न करता था? जैसे जमीदार एक भाव है, तत्व है, धर्म है, वैसे ही लगान एक भाव है, तत्व है, धर्म है!

अंग्रेजी राज में भूसंपत्ति के अनेक रूप थे, मूल बात यह थी कि विदेशी राज्य सत्ता सबसे बड़ा जमींदार थी। अंग्रेजी राज से पहले यहाँ भूसंपत्ति के अनेक रूप थे, पर मूल बात यह थी कि अधिकांश किसान जमीन के मालिक थे। रजनी पाम दत्त ने लिखा था: "अंग्रेजी राज से पहले भारत की परंपरागत भूमि व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि किसान की होती थी, और सरकार को उपज का एक अंश मिलता था।" (India Today, बम्बई १९४७, पृ० १८४)। यह अंश लगान नहीं था। लगान का अर्थ है भाड़ा। जमींदार किसान को भाड़े पर जमीन देता है, जमीन का उपयोग करने के लिए उससे लगान वसूल करता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने रावबहादुर जोशी का हवाला देते हुए लिखा था, "किसान ही जमीन का सच्चा मालिक है। अतएव उसे अपनी जमीन को बेचने और रेहन करने का इख्तियार है। जिसके कब्जे में जमीन हो, उससे सिर्फ उस जमीन की आमदनी पर लगान के रूप में नहीं, किन्तु कर के रूप में सरकार एक निश्चित रकम ले सकती है; लगान नहीं ले सकती।" (संपत्ति शास्त्र, पृ० १२७)। कर और लगान में भेद है। पुरानी भूमि व्यवस्था में सामंत किसान से लगान न लेता था, वह केवल कर ले सकता था। नयी पुरानी व्यवस्था का भेद द्विवेदीजी ने स्पष्ट कर दिया था। 'पुराने जमाने में, हिन्दुस्तान में, जमीन पर राजा का स्वामित्व न था। हर आदमी अपनी-अपनी जमीन का मालिक था। राजा उससे सिर्फ उसकी जमीन की पैदावार का छठा हिस्सा ले

लिया करता था। उस राजा का सिर्फ इतना ही हक था। वह एक प्रकार का कर था, जमीन का लगान नहीं।" (उप०, पृ० १११)। लेकिन शुक्लजी पुरानी व्यवस्था में सामंतों द्वारा लगान वसूल किये जाने पर चुप थे! कितना भयंकर अपराध किया था उन्होंने! उनके सामंतवाद-समर्थक दृष्टिकोण का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा!

अंग्रेजी राज में जमींदारी प्रथा के अंतर्गत किसान ज़मीन का मालिक नहीं था, पुराने जमाने में वह उसका मालिक था। जमींदारी प्रथा में किसान ज़मीन का मालिक नहीं था, पुरानी सामंती व्यवस्था में वह ज़मीन का मालिक था—दोनों में यह गुणात्मक अन्तर था। नया जमींदार "अपने शोषण-उत्पीड़न में और भी अधिक सामंती, और भी अधिक क्रूर और बर्बर था।" (६)। पुराना जमींदार सामंत था, नया जमींदार भी सामंत है। दोनों का शोषण सामंती है, केवल नये जमींदार के शोषण में सामंतीपन की मात्रा ज्यादा है। गुणात्मक अन्तर नहीं है, फर्क केवल परिमाण में है। केवल भू-स्वामी वर्ग के लिए नहीं, "घोर दरिद्रता के दलदल में फँसे उन नंग-धड़ंग रैयतों के लिए, जिन्होंने जीवन में सिवा अभावों के और कुछ नहीं जाना" (८), पुरानी व्यवस्था अधिक आकर्षक थी।

१८०७-१४ में दीनाजपुर (बंगाल) के किसानों की स्थिति का सर्वेक्षण डा० बकनन ने किया था। उन्होंने लिखा था, "देशी लोगों का कहना है, मुगल अफसर अक्सर उन्हें निचोड़ लेते थे और हमेशा उनके साथ बेहद नफरत का व्यवहार करते थे। लेकिन वे यह सब बर्दाश्त करने को तैयार थे। अब चलन यह है कि अदायगी न कर पाने पर उनकी जमीन बेच दी जाती है। यह चलन वे बर्दाश्त करने को तैयार नहीं हैं। इसके अलावा बहुत बार घूस दे दिलाकर काम बन जाता था। उनका कहना है कि घूस समेत वह जो कुछ देते थे, दरअसल वह अब का आधा भी न होता था।" (India Today, पृ० १८५-८६)। १८२६ में बिशप हेबर ने लिखा था, "देशी रियासतों की तुलना में कम्पनी के सूबों के किसान कुल मिलाकर ज्यादा गरीब हैं, ज्यादा पस्त हैं और उनकी हालत ज्यादा खराब है। यहाँ मद्रास में ज़मीन आमतौर से घटिया किस्म की है; इसलिए फर्क और भी साफ दिखाई देता है। हकीकत यह है कि कोई भी देशी राजा उतना लगान (rent) नहीं माँगता जितना हम माँगते हैं।" (उप०, पृ० १८६)।

१८५७ में मार्क्स ने नोट किया कि कर्णाटक के लोग "अपनी मौजूदा हालत से पुरानी हालत की तुलना करते हैं।" सरकारी दस्तावेजों से मार्क्स ने वहाँ के किसानों का यह बयान उद्धृत किया था, "जहाँ बरसात होती थी और जहाँ नहीं होती थी, वहाँ हम खेती करते थे, हम पहाड़ी ज़मीन, मैदानी ज़मीन और जंगल की ज़मीन पर खेती करते थे। जो हल्की जमाबन्दी (light assessment) तै की जाती थी, हम उसे भर देते थे। इस तरह हम रानी बहादुर और टीपू की अमलदारी में सुख और शान्ति से रहते थे। तब की सरकार के अमले अतिरिक्त जमाबन्दी लाद देते थे लेकिन हम लोग उसे कभी अदा न करते थे। मालगुजारी (revenue)

वसूलने के लिए हमें भूखा न रखा जाता था, सताया न जाता था, हमारे साथ दुर्व्यवहार न किया जाता था। जब यह देश कम्पनी को सौंप दिया गया, तब उन्होंने [कम्पनी के कर्मचारियों ने] पैसे के लिए हमें तरह-तरह से निचोड़ने की तरकीबें निकाल लीं।" (The First Indian War of Independence, पृ० ७६-७७)। सारे भारत में सामंती शोषण का रूप एक जैसा नहीं था। बंगाल में लोग कहते थे, उन्हें निचोड़ा जाता था, तो कर्णाटक मे उनके भाई कहते थे, वे सुख और शान्ति से रहते थे। अवध पर अंग्रेजों का सीधा शासन १८५६ में हुआ था। यहाँ के लोगों को पुराना जमाना और भी याद आता था। भारत के अनेक प्रदेशों में किसानो के पास हथियार थे। अवध में ताल्लुकदारों और जमींदारों के पास तोपें थीं, वे किलों में रहते थे; यहाँ के किसान बंदूकें और तलवारें पास रखते थे। १८५७ में उन्होंने इनसे खूब काम लिया। अंग्रेजों ने जहाँ-जहाँ बन पड़ा, किसानों से उनके हथियार छीन लिये। अवध में उन्हें डर था कि हथियार छीनने पर फौज में किसानों के भाईबंद बगावत कर देंगे। बिशप हेबर ने मद्रास में किसानों की जिस पस्ती का जिक्र किया था, वह अभी अवध में न फैली थी।

अंग्रेजी राज में किसानों की स्थिति एकदम बदल गयी। जमीन के मालिक होने के बदले वे आसामी बन गये। रजनी पाम दत्त ने लिखा है कि अंग्रेजों की कानूनी व्यवस्था से "मूलभूत स्वामित्व, व्यवहारतः ब्रिटिश विजेताओ की राज्यसत्ता के हाथ में आ गया। उसने किसानों को आसामी-जैसा बना दिया। अदायगी न करने पर वह उन्हें बेदखल कर सकती थी या उनकी भूमि उसके द्वारा नामजद किये हुए जमींदारों के पास पहुंच जाती। इन्हें [जमीदारो को] अपना हक राज्यसत्ता से मिला था। अदायगी न करने पर वे भी बेदखल किये जा सकते थे।" (India Today, पृ० १८६)। इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ का वास्तविक सामंत अंग्रेज था। उसकी आय का मुख्य स्रोत अब भी किसान की अतिरिक्त उपज का अपहरण था। बंगाल का पक्का बंदोबस्त, उत्तर भारत का कच्चा बंदोबस्त, बंबई-मद्रास का रैयतवारी बंदोबस्त, भूमि-व्यवस्था के इन तीनों रूपों का स्रोत ब्रिटिश सरकार थी; ये रूप 'वास्तव में उसका यह दावा प्रतिबिंबित करते थे कि वह सर्वोच्च जमींदार (Paramount Landlord) है।" (उप०, पृ० १६५)। सामंत विरोधी संघर्ष का मतलब सबसे पहले इस सर्वोच्च जमीदार के खिलाफ संघर्ष था। रैयतवारी इलाकों में जमींदार नहीं थे; सामन्त विरोधी संघर्ष वहाँ भी चलाना था क्योंकि किसानों के ऊपर महासामंत अंग्रेज वहाँ भी था।

पुराने सामंत किसानों से जो धन वसूल करते थे, वह देश में ही रहता था, वह उद्योग और व्यापार में लगाया जा सकता था। अंग्रेज जो धन वसूल करते थे, वह ब्रिटेन जाता था, भारत में सैनिक और असैनिक ब्रिटिश अफसरशाही पर खर्च होता था। अंग्रेजों ने यहाँ के उद्योग-धन्धों का नाश किया, इससे खेती के सहारे रोटी-रोजी कमानेवालों की संख्या में अपार वृद्धि हुई। क्या शहर, क्या देहात, वर्गों का संतुलन हर जगह बिगड़ गया। पुराने सामंत सिंचाई व्यवस्था पर पैसा

खर्च करते थे, अंग्रेज उसके प्रति उदासीन थे। नई नहरों, जलाशयों आदि का प्रबन्ध करना दूर, वे पुरानी नहरों, जलाशयों आदि को बर्बाद होने दे रहे थे। परिणाम यह कि थोड़े-थोड़े समय के अन्तराल से भारत के विभिन्न प्रदेशों में—क्या रैयतवारी, क्या जमींदारी, सभी इलाकों में—लाखों किसानों ने भुखमरी में प्राण गँवाये। वीर भारत तलवार ने पुरानी सामंती व्यवस्था के अंतर्गत घोर दलदल में फँसे नंग-धड़ंग रैयतों का जो करुण चित्र खींचा है, उसका वास्तविक उद्देश्य अंग्रेजी राज के नरसंहारक रूप को छिपाना है, अंग्रेजी राज में किसानों का शोषण गुणात्मक रूप से भिन्न है, इस तथ्य को छिपाना है। १८५८ में मार्क्स ने अंग्रेजों की कर-व्यवस्था के लिए लिखा था, "वह आम जनता को कुचलकर धूल में मिला देती है (crushes the mass of the Indian people to the dust." Marx and Engels, The First Indian War of Independence, पृ० १७३)। अंग्रेजी राज में जनता की यह दशा देखकर भारतीय लेखकों को पुराना समाज संतुलित और सामंजस्यपूर्ण लगता था।

शुक्लजी के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी का जो घृणित व्यापारवाद था, प्रेमचन्द के लिए उसी का नया संस्करण महाजनी सभ्यता थी। शुक्लजी के लिए पुराना समाज संतुलित और सामंजस्यपूर्ण था। इसी धारणा के अनुरूप 'महाजनी सभ्यता' में प्रेमचन्द ने लिखा था, "राजा और सम्राट् जनसाधारण को अपने स्वार्थ साधन और धन शोषण की भट्टी का ईंधन न समझते थे; किन्तु उनके दुःख-सुख मे शरीक होते थे और उनके गुण की कद्र करते थे।" (मंगलसूत्र व अन्य रचनाएँ, इलाहाबाद, १९८२, पृ० १९१)। अंग्रेजी राज में जनता की बेतहाशा लूट को ध्यान में रखते हुई इस तरह के वाक्यों का आशय समझना चाहिए।

३. साम्राज्यवाद और देशी महाजन

अंग्रेजों ने यहाँ नये सामंतों का वर्ग तैयार किया, वैसे ही उन्होंने व्यापारियों का नया वर्ग तैयार किया। भारत का कच्चा माल खरीदने और ब्रिटेन का तैयार माल भारत में बेचने के लिए उन्हें देशी व्यापारी चाहिए थे। ये व्यापारी पुराने व्यापारियों से एकदम भिन्न थे। पुराने व्यापारी यहाँ के उद्योग-धन्धों से जुड़े थे, कारीगरों को पेशगी रुपया देकर उनसे अपने लिए माल तैयार कराते थे। नये व्यापारियों का स्वदेशी माल के उत्पादन से कोई सम्बन्ध न था, वे विदेशी उद्योगपतियों और व्यापारियों के दलालों का काम करते थे, इस तरह वे साम्राज्यवादी शोषण तंत्र का अभिन्न अंग थे। इन व्यापारियों के साथ साहूकारों और महाजनों का वर्ग जुड़ा हुआ था। अक्सर व्यापारी महाजनी का धन्धा भी करता था। जमींदारों और किसानों की भूमि के हस्तान्तरण की प्रक्रिया से इस वर्ग का सीधा संबंध था। किसानों की कमाई सरकार तक पहुँचाने का मुख्य साधन ये सूदखोर महाजन थे। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में महाजन भरे पड़े हैं। वीर भारत तलवार ने प्रेम-

चन्द का नाम अनेक बार लिया है, महाजनों का ज़िक्र एक बार भी नहीं किया। शुक्लजी ने १९२१ वाले लेख में "शहरी महाजनों के हाथ में" ('दस्तावेज़', पृ० २) औसत जमींदारों की भूमि के हस्तांतरित होने की बात कही थी। इस लेख को अपने विवेचन का मुख्य आधार बनानेवाले वीर भारत तलवार ने उससे अनेक उद्धरण दिये हैं, पर इस बात का ध्यान रखा है कि उनमें महाजनों का उल्लेख न आने पाये। शुक्लजी ने चंद्रशेखर आजाद से कहा था, "अंग्रेजों ने अपनी नीति से महाजन-जमींदार पैदा किये हैं" ('साक्षात्कार', पृ० २५५)। वीर भारत ने इस लेख का हवाला भी दिया है पर अंग्रेजों के पैदा किये हुए महाजनों और जमींदारों की बात गोल कर गये हैं।

शुक्लजी ने ईस्ट इंडिया कंपनी और देशी बनियों के संबंध के बारे में लिखा था, "कंपनी अपने व्यापारिक प्रचार-प्रसार के लिए बनियों पर आश्रित थी इसलिए उसने केवल उन्हीं के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं। कंपनी के गुमाश्ता और एजेंट की हैसियत से बृहत्तम लाभ कमाने के अतिरिक्त उन्होंने अपने क्रय के लिए ही दूसरों से खाली करायी ज़मीन भी हासिल कर ली, बड़े क्षेत्रों के राजस्व का कार्यभार उन्हें सौंपा गया, ये ही दीवान बन गये एवं अन्य अनेक उपायों से उन्होंने महत्त्व अवाप्त किया।" ('दस्तावेज़', पृ० २)। यह वस्तुस्थिति का सही वर्णन है। १७७२ में विलियम बोल्ट्स ने भारत पर एक पुस्तक लिखी थी। रजनी पाम दत्त ने कंपनी राज में प्रजा की लूट-खसोट दिखाने के लिए उसका जो अंश उद्धृत किया है, उससे शुक्लजी के विवरण की पुष्टि होती है। "अंग्रेज, अपने बनियों और काले गुमाश्तों को साथ लिये, तै करते हैं कि हर धंधे वाला उन्हें कितना माल देगा और उसके लिए उसे कितने दाम मिलेंगे।... बेचारे बुनकर की सहमति प्राप्त करना आमतौर से अनावश्यक समझा जाता है। कारण यह कि जब गुमाश्ते कंपनी की लगायी पूंजी के लिए काम करते हैं, तब अक्सर वे जो भी चाहते हैं, उस पर उनसे दस्तखत करा लेते हैं। जो रुपया दिया जाने को हो, उसे वे न लें तो पता चला है कि उनकी कमर में रस्सी बाँध दी जाती है और उन्हें बेंतों से पीटकर खदेड़ दिया जाता है।...कंपनी के गुमाश्तों की बहियों में आमतौर से ऐसे कुछ बुनकरों के नाम पंजीकृत रहते हैं। उन्हें और किसी के लिए काम करने की अनुमति नहीं होती। वे गुलामों की तरह एक से दूसरे को हस्तांतरित कर दिये जाते हैं।" (India Today, पृ० ८८)।

भारत कच्चे माल की प्राप्ति का स्रोत और बिलायती माल की खपत का बाजार तभी बन सकता था जब यहाँ के उद्योगधन्धों का नाश कर दिया जाता। शुक्लजी ने और बोल्ट्स ने जिन बनियों और गुमाश्तों का ज़िक्र किया है, उनकी सहायता से ही अंग्रजों ने यह विनाश कार्य पूरा किया था। अंग्रेजों ने किसानों की ज़मीन छीनकर नये मालिक जमींदार खड़े किये। किसानों ने विद्रोह किया। मार्क्स ने लिखा, "कई बार ऐसा हुआ कि जमींदार निकाल दिये गये और उनकी जगह मालिक बनकर ईस्ट इंडिया कंपनी आ गयी।" (Marx, Notes on

Indian History, मास्को, पृ० १२०)। यह एक तरह का घटनाक्रम था। "दूसरी तरह की घटनाओं में जमींदार मुफलिस हो गये और बकाया टैक्स तथा व्यक्तिगत ऋण के भुगतान के लिए उनकी रियासतें, उनकी इच्छा से अथवा जबरन, बेच दी गयीं। इस प्रकार सूबे की अधिकांश खेती की ज़मीन तेजी से उन थोड़े-से शहरी पूंजीपतियों के हाथ में आ गयी जिनके पास फालतू पूंजी थी और जो उसे जमीन में लगाने को तैयार थे।" (उप०)। शुक्लजी ने कंपनी राज में बनियों और गुमाश्तों के लिए कहा था, "उन्होंने अपने क्रय के लिए ही दूसरों से खाली करायी गयी ज़मीन भी हासिल कर ली।" शुक्लजी की इस स्थापना की पुष्टि स्वयं मार्क्स के कथन से होती है। वीर भारत तलवार ने एक सूत्र पकड़ा है, साम्राज्यवाद का आधार है सामंतवाद। इसलिए ईस्ट इंडिया कंपनी के शोषण में बनिये सहायक न हो सकते थे, इसलिए जमींदारों की जमीन बनिये न खरीद सकते थे! उन्होंने शुक्लजी की बात अपने शब्दों में सही दोहरायी है: "जिन बनियों को अँगरेजों ने आगे बढ़ाया, उन्होंने रुपये के बल पर जमींदारों की जमीनें खरीद ली।" (८)। फिर ईस्ट इंडिया कंपनी की उस बनिया-गुमाश्ता पक्ष वाली कार्रवाई को अस्वीकारते हुए उन्होंने लिखा, "ईस्ट इंडिया कंपनी व्यापारिक तो थी, पर उसकी आमदनी का मुख्य स्रोत, जैसा कि शुक्लजी ने भी लिखा है, भू-राजस्व था।" (९)। भू-राजस्व कंपनी का स्रोत तब होगा जब वह राजा बन जायेगी। जब वह राजा नहीं थी, तब उसने यहाँ के उद्योग-धन्धों का माल अपनी मर्जी से तै किये भाव पर खरीदा। बुनकरों को सताकर मिट्टी-मोल उनका माल खरीदने का काम बनिये और गुमाश्ते करते थे। जो माल वे खरीदते थे, वह दूसरी जगह बेचे जाने के लिए था; वह भू-राजस्व नहीं था। वीर भारत यह तो जानते हैं कि अंग्रेजों ने भारतीय व्यापार और उद्योगों को "तबाह किया" (१०), पर उस प्रक्रिया का जिक्र नहीं करते जिससे यह तबाही का काम पूरा हुआ। उसका वर्णन मार्क्स ने किया है, रजनी पाम दत्त ने किया है। इस तबाही में अंग्रेजों के मुख्य सहायक जमींदार नहीं थे, बनिये, गुमाश्ते और महाजन थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के "प्रचार-प्रसार" के समय बनियों ने अनुकूल परिस्थितियों से लाभ उठाया, फिर उन्होंने अंग्रेजों से मिलकर आयात-निर्यात व्यापार से धन कमाया। "स्वदेशी उद्योगों का विध्वंस उनके लिए अभिनंदनीय हुआ।" ('दस्तावेज,' पृ० ३)। पहले उद्योग-धंधों के विनाश में मदद दी, फिर उस विनाश से लाभ उठाया—व्यापारियों और महाजनों के नये वर्ग की ऐसी ही भूमिका थी।

वीर भारत के अनुसार ईस्ट इंडिया कम्पनी की आमदनी का मुख्य स्रोत भू-राजस्व था और यह "शुक्लजी ने भी लिखा है।" पर शुक्लजी ने लिखा था, "बड़े क्षेत्रों के राजस्व का कार्यभार उन्हें सौंपा गया।" उन्हें अर्थात् बनियों को, कम्पनी के गुमाश्तों और एजेंटों को। वीर भारत का तर्क है, "भू-राजस्व के लिए कम्पनी बनियों पर नहीं, भू-स्वामियों पर आश्रित थी।" (९)। यहाँ मार्क्स की वह बात याद करनी चाहिए कि जहाँ रैयत ने कठपुतली जमींदारों को मार भगाया,

वहाँ "उनकी जगह मालिक बनकर ईस्ट इंडिया कम्पनी आ गयी।" भू-राजस्व के लिए, ऐसी स्थिति में, कम्पनी अपने गुमाश्तों का ही भरोसा कर सकती थी।

१७७२ में ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल की दीवानी मिली। भू-राजस्व का परिमाण बढ़ाने के लिए अब उसने एक तरकीब निकाली। शशिभूषण चौधरी के अनुसार अंग्रेजों ने जमींदारियाँ नीलाम करनी शुरू की, यह ज़रूरी नहीं था कि जमींदारियाँ जमींदारों को ही मिलें, जो सबसे ऊँची बोली बोले, उसे मिलती थी ("not necessarily to the Zamindars, but to the highest bidders." S. B. Chaudhury, Civil Disturbances during the British Rule in India, 1765-1857, कलकत्ता, १९५५, पृ० १४-१५)। १७७७ में अंग्रेजों ने बंगाल में हर साल जमींदारियाँ नीलाम करने की नीति अपनायी। जमींदारों के लिए, सट्टेबाजों और सूदखोरों की भीड़ के विरुद्ध ("against a host of speculators and moneylenders"), नीलामी मे बोली बोलकर अपनी प्राचीन भू-संपत्ति की रक्षा करना अधिकाधिक कठिन हो गया। (उप०, पृ० १५)। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध मे उड़ीसा की जमींदारियाँ कलकत्ते मे बिक रही थी और "अधिकतर ये बंगाली सट्टेबाजों (Bengali speculators) के हाथ सस्ते दामों बेची जा रही थी।" (उप०, पृ० ९१)। अंग्रेजों ने पुराने व्यापारियों को तबाह करके नये व्यापारी खड़े किये थे, वैसे ही उन्होंने पुराने ज़मींदारों को तबाह करके नये जमींदार खड़े किये थे। शशिभूषण चौधरी की पुस्तक में पुराने जमींदारों की तबाही का विस्तृत वर्णन है। इस तबाही का उल्लेख रजनी पाम दत्त की पुस्तक मे भी है। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ मे मिदनापुर के कलक्टर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था, "[भूसंपति को] बेचने और ज़ब्त करने की व्यवस्था ने थोड़े ही वर्षों में बंगाल के बड़े जमींदारों को मुफलिस और भिखारी बना दिया। इससे बंगाल की भूसंपत्ति में जितना बड़ा परिवर्तन हुआ, उतना शायद किसी भी युग या देश में, केवल आन्तरिक नियमन से, उतने ही समय में न हुआ होगा।" (India Today, पृ० १९१)। नये जमींदारों में अब एक स्तर ऐसे लोगों का था जो व्यापारी, महाजन और साहूकार थे।

शुक्लजी ने लिखा था कि मुकदमेबाजी और सरकारी भुगतान के बाद "औसत जमींदार के पास कुछ शेष नहीं रहता। वे भूमि पर अपना कब्जा बनाये रखना अब संभव नहीं पा रहे। उन शहरी महाजनों के हाथ में उनकी अधिकांश भूमि हस्तांतरित हो गयी और अब भी होती जा रही है जो केवल अपने अतिरंजित वर्धन के लिए भूमि ढूंढ़ते फिरते हैं।" ('दस्तावेज', पृ० २)। जिन्होंने जमींदारियाँ खरीदी, वे भी जमींदार ही हुए। शुक्लजी इनसे उन जमींदारों को अलग करते हैं जिनका भूमि से पुश्तैनी सम्बन्ध था। जो महाजन जमीन खरीद रहे थे, वे औसत जमींदारों से भिन्न श्रेणी के लोग थे। उनके पास फालतू पूंजी थी, वे "अपने अतिरंजित वर्धन के लिए" जमीन खरीदते थे। मार्क्स के अनुसार बंगाल में अधिकांश खेती की जमीन "उन थोड़े से शहरी पूंजीपतियों के हाथ मे आ गयी

जिनके पास फालतू पूंजी थी।" वीर भारत यह सब स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि जमींदारियाँ जमींदारों ने ही खरीदीं, और औसत जमींदार तबाह हुए तो इसके लिए वे खुद जिम्मेदार थे, अंग्रेज नहीं। शुक्लजी ने जहाँ भी व्यापारियों का विरोध किया, वहाँ उन्होंने अंग्रेजों से सहयोग करनेवाले, साम्राज्यवादी शोषण में सहायक बनकर मुनाफा कमाने वाले व्यापारियों का विरोध किया, सभी व्यापारियों का नहीं। व्यापारियों के साथ उन्होंने महाजनों का उल्लेख किया। इसे समस्त पूंजीपति वर्ग का विरोध नहीं कहा जा सकता। "उनकी जमींदारी के गाहक अकेले व्यापारी न थे" (६); वीर भारत इतना तो मानते हैं कि व्यापारियों ने भी जमींदारियाँ खरीदी। पर शुक्लजी ने जिन शहरी महाजनों का स्पष्ट उल्लेख किया था, उन्हें वह अपने विवेचन से बाहर रखते हैं। अंग्रेजों के कानून ने, उनके पाले-पोसे महाजनों ने, छोटे जमींदारों को तबाह किया, यह कहने से शुक्लजी को सामंतवाद का समर्थक नहीं कहा जा सकता। उन्हें सामंतवाद का समर्थक सिद्ध करने के लिए अंग्रेजों के कानून और उनके पाले-पोसे महाजनों का अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन करना जरूरी होगा।

वीर भारत तलवार ने लिखा है : "शुक्लजी के मुताबिक अँगरेजी राज ने यहाँ के व्यापारी और पूंजीपति वर्ग पर सुविधाओं की वर्षा की लेकिन 'कृषक वर्गों'—किसानों और जमींदारों—को तबाह कर दिया। जिन बनियों को अँगरेजों ने आगे बढ़ाया, उन्होंने रुपये के बल पर जमींदारों की जमीनें खरीद ली।" (८)। अंग्रेज-समर्थित बनियों ने जमींदारों की जमीनें खरीदीं, इस धारणा का खंडन करते हुए वीर भारत ने लिखा, "शुक्लजी की यह धारणा सही न थी कि ब्रिटिश राज द्वारा संरक्षित व्यापारी वर्ग ने अधिकांश जमींदारों को अपदस्थ कर दिया था। जमींदारियाँ जहाँ बिकी, वहाँ जमींदारों ने भारी कर्जे ले रखे थे। उनकी भारी कर्जदारी का कारण सिर्फ भू-राजस्व प्रणाली न थी; जमींदारों की बदइन्तजामी, सामंती तबीयत और फिजूलखर्ची भी थी। फिर भी, उनकी जमींदारी के गाहक अकेले व्यापारी न थे। उनकी जमींदारियाँ खरीदनेवालों में मुख्यतः उन्हीं के पट्टीदार, पास-पड़ोस के दूसरे जमींदार और ताल्लुकेदार थे। इनके अलावा, जमींदारों, ताल्लुकेदारों के मैनेजर, जिलादार, कारिन्दे, मुख्तार और शहर के धनवान वकीलों के साथ सरकारी मुलाजिमों ने भी बिकती हुई जमींदारियाँ खरीदीं। बाकी सबकी उपेक्षा करके शुक्लजी ने सिर्फ व्यापारी वर्ग पर निगाह जमायी और एकांगी धारणा बनायी।" (९)।

शुक्लजी की धारणा का एकांगीपन दूर करने के लिए वीर भारत तलवार ने सब तरफ निगाह दौड़ाई, जमींदारों के पट्टीदारों से लेकर शहर के वकीलों तक उन्हें जमींदारियाँ खरीदने वाले मिल गये, केवल सूदखोर महाजन उनकी निगाह से बच गये। वह मानते हैं कि जमींदारों ने भारी कर्जे ले रखे थे। किससे ले रखे थे? जो दूसरे को कर्ज देता है, वह महाजन नहीं है क्या? यदि मैनेजर, जिलेदार, कारिन्दे, मुख्तार, शहर के वकील सभी जमींदारियाँ खरीदते थे तो मानना चाहिए,

सूदखोरी का धन्धा समाज में बड़े पैमाने पर चालू था। पर वीर भारत का कहना है, जमींदारियाँ खरीदने वाले मुख्यत: जमींदारों के ही पट्टीदार, पास-पड़ोस के जमींदार और ताल्लुकेदार होते थे। इसका मतलब होगा, सूदखोरी का धन्धा मुख्यत: जमींदार ही करते थे।

जहाँ तक बदइंतजामी का सम्बन्ध है, ऐसी कौन-सी रियासत है जिसे अंग्रेजों ने हथिआया हो और उसके मालिक पर बदइंतजामी का आरोप न लगाया हो? अगस्त, १८५४ मे 'हिन्दू पेट्रिअट' नाम के पत्र ने लिखा था कि मराठा शक्ति के पतन के बाद अंग्रेजों ने जिस रियासत से भी संधि की, वे उसमें एक शर्त जरूर रखते थे कि बहुत बदइंतजामी हुई तो कुछ समय के लिए वे उसके कुछ हिस्से का इंतजाम अपने हाथ में ले लेंगे। (Freedom Struggle in U.P., लखनऊ, १९५७, खंड १, पृ० ९३)। अवध से भी अंग्रेजों ने संधि कर रखी थी। १८५४ में उन्होंने हल्ला मचाना शुरू कर दिया था कि अवध में बदइंतजामी है। इसके बारे में 'हिन्दू पेट्रिअट' ने लिखा था, "पिछले दिनों अवध को अपने राज में मिला लेने के लिए जो शोर मचाया गया है, वह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सामान्य नियमों को देखते जितना न्यायविरुद्ध है, उतना ही हमारी सरकार और उस रियासत के बीच सकारात्मक संबंधों को देखते न्यायविरुद्ध है।" (उप०, पृ० ९२)। न्याय-अन्याय की चिन्ता न करके १८५६ में ब्रिटिश रेज़ीडेन्ट ने वाजिद अलीशाह से कहा कि "ब्रिटिश सरकार ऐसी नीति अपनाने के लिए बाध्य हो गयी जिससे बादशाह सलामत की दुख भोगती प्रजा के जीवन और संपत्ति की रक्षा की जा सके।" (उप०, ९६)। अंग्रेजों ने अवध को बदइंतजामी के नाम पर ही अपने राज में मिलाया था। ताल्लुकदारों पर बदइंतजामी का आरोप लगाना और भी आसान था।

विलियम एडवर्ड्स बनारस में जज रह चुके थे, बदायूँ में उन्होंने मजिस्ट्रेट के पद पर काम किया था। ताल्लुकदारों की ज़मीन ग्रामसमाजों को लौटाने के नाम पर अंग्रेज उनकी रियासतें हड़प रहे थे। ताल्लुकदारों से कहते थे, कागज दिखाओ, जिससे तुम्हारी मिल्कियत साबित हो। इस सिलसिले में एडवर्ड्स ने लिखा था, "बन्दोबस्त करने वाले बहुत-से अफसरों की रीति यह थी कि मिल्कियत संबंधी गुत्थियाँ सुलझाने में वे व्यक्तिगत चालचलन और चरित्र के उल्लेख से सहायता करते थे। जब किसी बड़े ताल्लुकदार के हक की पूरी तरह अनदेखी न की जा सकती थी, तब यह घोषित किया जाता था कि वह गुंडा था या गधा था—या दोनों का बेहूदा मिश्रण था—और अपने जुल्मोसितम से या अपनी बेपरवाही से, जो उसके जुल्म से कम सितमगर नहीं थी, उसने राज्यसत्ता की रहमदिली पर अपना सारा हक़ खो दिया है। वे पहले उसे बदनाम करते थे, फिर उसे तबाह कर देते थे।" (उप०, पृ० १५७)। बड़े सामंतविरोधी थे अंग्रेज! बदइंतजामी वाला आरोप वीर भारत तलवार ने उन्हीं की टकसाल से प्राप्त किया है।

अंग्रेजों ने पुराने सामंतवाद की जगह नये ढंग का सामंतवाद कायम किया, उसी तरह उन्होंने पुरानी सूदखोरी की जगह नये ढंग की सूदखोरी कायम की।

नयी और पुरानी सूदखोरी का फर्क़ बताते हुए रजनी पाम दत्त ने लिखा है, "भारत के लिए महाजन और कर्ज़ कोई नयी चीज नही हैं। लेकिन पूंजीवादी शोषण के अन्तर्गत, विशेष रूप से साम्राज्यवाद के दौर में, महाजन की भूमिका के नये आयाम उद्घाटित हुए हैं, उसने नयी अर्थवत्ता प्राप्त की है। पहले किसान अपनी निजी जमानत पर ही महाजन से कर्ज़ ले सकता था; महाजनी का धन्धा अनिश्चित था और आपदाओं से भरा था। व्यवहारतः महाजन की सारी कार्रवाई गाँव के निर्णय के अधीन थी। पुराने कानून के अन्तर्गत महाजन भी कर्ज़दार की ज़मीन न हथिया सकता था। अंग्रेजी राज में यह सब बदल गया। अंग्रेज़ी कानून में कर्ज़दार के माल-असबाब की कुड़की हो सकती थी और ज़मीन हस्तान्तरित की जा सकती थी। इससे महाजन को खुल खेलने का मौका मिला, कानून और पुलिस की सारी ताकत उसकी मदद को थी। पूंजीवादी शोषण की सारी व्यवस्था की वह अपरिहार्य धुरी बन गया। मालगुजारी उगाहने का वह अनिवार्य माध्यम है; यही नही, वह सूदखोरी के साथ आमतौर से गल्ले के व्यापारी की भूमिका भी निबाहता है। कटाई के समय फसल खरीदने मे उसकी स्थिति इजारेदार की होती है। अक्सर वह किसानों को बीज और खेती के उपकरण पेशगी देता है। आमतौर से उसके बहीखाते देखकर किसान इस बात की जाँच नही कर पाते कि वे कितना दे चुके हैं, कितना और उन्हे देना है। इस तरह वे अधिकाधिक उसके जाल में फँसते जाते हैं। वह गाँव का तानाशाह बन जाता है।" (India Today, पृ० २०७-०८)।

यहाँ व्यापारी और महाजन की भूमिकाएँ घुल-मिल गयी हैं। यह महाजन-व्यापारी जमींदार भी बन जाता है। उसका सम्बन्ध महाजनी पूंजीवाद से है। महाजनी पूंजीवाद का ही दूसरा नाम है साम्राज्यवाद। यह पूंजीवाद पुराने पूंजीवाद से अलग किस्म का होता है। उसकी विशेषता है सूदखोरी। सबसे ऊपर बड़े बैंकपतियों की सूदखोरी, सबसे नीचे गाँव के तानाशाह महाजन की सूदखोरी। यह नीचे का महाजन ही किसानों का खून चूसकर ऊपर के बैंकपतियों तक पहुँचाता है। गाँव का महाजन इजारेदार पूँजीवाद की धुरी क्यों है, रजनी पाम दत्त ने यह बहुत अच्छी तरह समझा दिया है। लिखा है : "जैसे-जैसे ज़मीन उसके हाथ आती जाती है, वैसे-वैसे यह प्रक्रिया और आगे बढ़ायी जाती है। किसान खेत-मजदूर या बटाईदार बन जाते हैं और केवल उसी के लिए काम करते हैं। जो कुछ पैदा करते हैं, वह सूद और लगान मिलाकर उसे देते जाते हैं। वह अधिकाधिक भारत के ग्रामीण अर्थतंत्र का छोटा पूंजीपति बन जाता है, किसानों से अपने मजदूरों की तरह काम कराता है। किसान सबसे पहले अपना गुस्सा महाजन पर उतार सकते हैं। सामने अत्याचारी के रूप में वही दिखायी देता है, उन्हें लगता है कि सारी मुसीबतों की जड़ वहीं है। मुद्दत से दुख सहनेवाले भारत के शान्तिप्रिय किसान भी जब तब महाजनों का खून कर देते हैं, यह उस प्रक्रिया का निदर्शन है। लेकिन उन्हें बहुत जल्दी पता चल जाता है कि महाजन के पीछे अंग्रेजी राज की सारी ताकत है। समूचे महाजनी शोषण यन्त्र का सबसे निचला अपरिहार्य पुर्जा है

यह ऋणदाता जो उत्पादन के स्रोत पर फिट किया गया है।" (उप०, पृ० २०८)।

सामंतवाद का अभिन्न अंग है सूदखोरी। साम्राज्यवाद के अंतर्गत इस सूदखोरी की भूमिका बदल जाती है। सामंतवादी व्यवस्था में सूदखोरी नियंत्रित थी, साम्राज्यवादी व्यवस्था में वह अनियंत्रित है। लेनिन ने बताया था कि दुनिया कर्ज देनेवाली और कर्ज लेनेवाली जातियों में विभाजित है। ऊपर अन्तर-राष्ट्रीय महाजन-संघों के रूप में बड़ी-बड़ी जोंकें है, नीचे गाँव के महाजनों के रूप में छोटी जोंकें हैं। शहरों में इनके बीच की मँझोली जोंकें है। छोटी जोंकें किसान का रक्त चूसकर इन्हीं के माध्यम से ऊपर की जोंकों तक पहुँचाती हैं। गल्ले का देहाती व्यापारी शहर में गल्ले के व्यापारी से जुड़ा है। महाजनी पूंजीवाद का दूसरा नाम है इजारेदार पूंजीवाद। बड़े-बड़े बैंकपति उद्योग-धन्धों पर, कच्चे माल के स्रोतों पर, कच्चे माल और तैयार माल के व्यापार पर अपना नियंत्रण कायम करते हैं। गाँव का महाजन उत्पादन के स्रोत पर आसन जमाता है, गल्ले का व्यापार अपने हाथ में रखता है। शुक्लजी ने लिखा था, "किसान और जमीदार एक ओर तो सरकार की भूमि-कर सम्बन्धी नीति से पिसते आ रहे हैं, दूसरी ओर उन्हें भूखों मारनेवाले नगरों के व्यापारी हैं जो इतने घोर श्रम से पैदा की हुई भूमि की उपज का भाव अपने लाभ की दृष्टि से घटाते-बढ़ाते रहते हैं।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०३-०४)।

रजनी पाम दत्त ने महाजनी पूंजीवाद के अन्तर्गत जिस शोषण प्रक्रिया का विवरण दिया है, शुक्लजी की बतायी हुई स्थिति उससे मिलती-जुलती है।

वीर भारत तलवार का आरोप है : "शुक्लजी ने १९२०-२२ के असहयोग आन्दोलन का विरोध किया।" (११)। जिस लेख के आधार पर उन्होंने यह घोषणा की है, वह १९२१ में लिखा गया था पर वीर भारत ने उसमें १९२२ तक के असहयोग आन्दोलन को शामिल कर लिया है। तर्क योजना यह है: शुक्लजी सामंत वर्ग के समर्थक हैं, पूंजीपति वर्ग के विरोधी हैं; राष्ट्रीय आन्दोलन मे पूंजी-पति वर्ग ने अपनी सीमित भूमिका निबाही। शुक्लजी ने इसका विरोध किया।

शुक्लजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन के सशक्त विकास के लिए जिन पूंजीपतियों का विरोध किया है, वे अंग्रेजों के साथ आयात-निर्यात का व्यापार करने वाले पूंजीपति थे। "ज़मीन से जुड़े वर्ग जब कि प्रतिदिन इस प्रकार विनाश की ओर खींचे जा रहे थे, नगरों के बनिया आयात-निर्यात उद्योग द्वारा प्रचुरतम लाभ पैदा कर रहे थे। स्वदेशी उद्योगों का विध्वंस उनके लिए अभिनन्दनीय हुआ।" ('दस्तावेज़',पृ० ३)। अंग्रेजों ने स्वदेशी उद्योगों का नाश किया। इससे लाभ उठाया उन बनियों ने जो आयात-निर्यात के उद्योग में लगे थे। यह उद्योग कल-कारखानों वाला उद्योग नही था, यह बिलायती माल के आयात और देशी माल के निर्यात का व्यापार था। शुक्लजी इन बनियों से कह रहे थे: असहयोग आन्दोलन तब सफल होगा जब भारत में विलायती माल बेचना बन्द करोगे। उन्हें भय यह था कि ये बनिये छोटे जमीदारों की जमीनें खरीद लेगे। यदि असहयोग की सफलता के लिए

जमींदार भूराजस्व देना बन्द करें तो बनियों को बिलायती माल बेचना बन्द करना होगा। शुक्लजी ने बिलायती माल बेचना बन्द करने के लिए कहीं बनियों को ललकारा है, वीर भारत इस बारे में अपने पाठकों को कुछ नहीं बताते। इस असहयोग आन्दोलन की पृष्ठभूमि में है जलियानवाला बाग, जलियानवाला बाग से पहले है भारतीय जनता का क्रान्तिकारी उभार और इस उभार को शान्त रखने के लिए अंग्रेजों की पहलकदमी से कांग्रेस की स्थापना।

भारतीय पूँजीपति "ब्रिटिश शासन की कृपा चाहते थे," अतः "ब्रिटिश शासन के आगे झुकते भी थे;" लेकिन "ब्रिटिश शासन के साथ उनके अन्तर्विरोध भी थे। शुक्लजी इस अन्तर्विरोध को नहीं देखते, इसे महत्त्व देना तो दूर रहा।" (१०)। स्वयं वीर भारत ने उसे महत्त्व देने का काम थोड़े ही दिन से शुरू किया है। शुक्लजी बिलायती माल बेचने वाले व्यापारियों का विरोध करते थे, यह तथ्य देख कर भी वीर भारत उसकी अनदेखी क्यों करते हैं? अंग्रेजों की छत्रछाया में सूद-खोर महाजन फल-फूल रहे थे, किसानों और छोटे जमींदारों की जमीनें खरीद रहे थे, रजनी पाम दत्त की पुस्तक में उन्हें यह सब क्यों नहीं दिखायी देता? सबसे बड़ी बात यह कि कांग्रेस से जन्म के पहले का क्रान्तिकारी उभार उन्हें क्यों नहीं दिखायी देता?

४. कांग्रेस और असहयोग आन्दोलन की पृष्ठभूमि

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में ब्रिटेन ने इजारेदार पूँजीवाद के युग में प्रवेश किया। इस युग में साम्राज्यवाद का संकट और गहरा हुआ। भारतीय जनता के प्रतिरोध को दबाने के लिए अंग्रेजों ने १८७८ में वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट बनाया। अगले साल उन्होंने आर्म्स ऐक्ट लागू किया, जनसभाओं पर पाबन्दी लगायी। अभी कांग्रेस का जन्म न हुआ था पर लोग सभाएँ करना जानते थे, इसलिए उन पर पाबन्दियाँ लगायी गयी थीं, वे देशी भाषाओं में लेख लिखना जानते थे, इसी-लिए प्रेस ऐक्ट बना था, हथियार चलाना भी जानते होंगे, तभी उनके हथियार छीने गये थे। अंग्रेजी राज के बारे में लोग क्या सोचते हैं, क्या कहते हैं, यह जानने के लिए अंग्रेजों ने तीस हजार रिपोर्टर नियुक्त किये थे। कांग्रेस के जन्मदाता ऐलन ऑक्टेवियन ह्यूम ने इनकी रिपोर्टें देखी थीं। बहुत-सी रिपोर्टों में सबसे निचले वर्गों की बातचीत का हवाला था। इन्हें देखकर ह्यूम ने नोट किया था, "इस सबसे यही पता चलता था कि इन गरीब आदमियों के मन में मौजूदा हालात के प्रति घोर निराशा भर गयी है, उन्हें विश्वास हो गया था कि वे भूखों मरेंगे, वे कुछ करना चाहते हैं। वे एक-दूसरे का साथ देना, कुछ कर गुजरना चाहते थे और यह कुछ होगी हिंसा।" (India Today, पृ० २५६)। ह्यूम के अनुसार लोग जहाँ-तहाँ अपराध करेंगे, छोटे-छोटे गुट बनायेंगे, फिर उन्हें मिलाकर और बड़े गुट बनायेंगे। साम्राज्यवादियों को जनता का प्रतिरोध हमेशा अपराध जान पड़ता है,

उसी दृष्टिकोण से ह्यूम ने अपराधों की चर्चा की है। लेकिन यह सब राष्ट्रीय विद्रोह की तैयारी थी, यह आगे के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है। जब छोटे-छोटे गुट मिलकर बड़ा गुट बना लेंगे, तब शिक्षित वर्गों के कुछ लोग "आन्दोलन में शामिल हो जायेंगे, जहाँ-तहाँ नेतृत्व करेंगे, विद्रोह को भीतर से एकताबद्ध करेंगे और राष्ट्रीय विद्रोह के रूप में (as a national revolt) उसका संचालन करेंगे।" (उप०)। ह्यूम ने इन शिक्षित जनों के बारे में लिखा था कि उनके मन में "सरकार के विरुद्ध बेहद, शायद अकारण, आक्रोश है।" (उप०)। रिपोर्टों में एक बात की चर्चा और थी। ह्यूम के जीवनी लेखक सर विलियम वेडरबर्न के अनुसार "अनगिनत प्रवृष्टियों में पुरानी तलवारें, भाले और बन्दूकें जमा करने का हवाला था। मौके पर काम आने के लिए ये सब चीजें तैयार रखी जायेंगी।" (उप०)। सर वेडरबर्न को लगा कि प्रेस ऐक्ट आदि गलत ढंग के कानून बनाये गये, इनके साथ "पुलिस दमन के रूसी तरीके" अपनाये गये; नतीजा यह कि "लार्ड लिटन के दौर में भारत क्रान्तिकारी विस्फोट के काफी पास पहुँच गया। तभी समय रहते मिस्टर ह्यूम और उनके भारतीय सलाहकार हस्तक्षेप करने को प्रेरित हुए।" (उप०, पृ० २५८)।

कांग्रेस के अभ्युदय पर अपनी पुस्तक में ऐन्ड्रू और मुकर्जी ने लिखा था, "कांग्रेस [के जन्म] से तुरत पहले के साल १८५७ के बाद के सबसे खतरनाक साल थे···कुल मिलाकर अच्छा ही हुआ कि हिंसा पर आधारित क्रान्तिकारी परिस्थिति को एक बार फिर निर्मित नहीं होने दिया गया।" (उप०, पृ० २६०-६१)।

ह्यूम की कांग्रेस और महात्मा गाँधी की कांग्रेस में फर्क था लेकिन इस संगठन की दोहरी भूमिका बराबर रही। रजनी पाम दत्त ने ठीक लिखा है, "एक ओर जन-आन्दोलन की 'विभीषिका' ('menace') के खिलाफ साम्राज्यवाद से सहयोग के सूत्र; दूसरी ओर राष्ट्रीय संघर्ष में जनता के नेतृत्व के सूत्र।" (उप०, पृ० २६२)। गाँधी जी के अहिंसावाद की पृष्ठभूमि यह थी।

माधवराव सप्रे मानते थे कि वर्ण-व्यवस्था अपने समय के लिए उचित थी पर उनका यह भी कहना था कि "समाज की परिवर्तित स्थिति के अनुसार इस देश के भिन्न-भिन्न व्यवसाइयो और मजदूरों को स्पर्धा और हड़ताल करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है।···प्रेसमैन, कम्पोजिटर, सिग्नेलर (तार बाबू), पोस्टमैन, पुतलीघरों के मजदूर, खलासी, रेलवे के नौकर आदि लोगों को अपने-अपने व्यवसायों के क्लेश दूर करने के लिए सभा, संघ, मंडली, समवाय, यूनियन इत्यादि स्थापित करना चाहिए, और उन्हीं के द्वारा उन लोगों को इस बात का निर्णय करना चाहिए कि अपने स्वत्वों की पूरी-पूरी रक्षा होती है या नहीं। यदि आजकल कोई किसी यूनियन के आश्रय के बिना हड़ताल करेगा, तो उसे कदापि सफलता न मिलेगी।" (महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ० ७८-८०)। सप्रेजी ने ये बातें १९०७ में कही थी, मई की 'सरस्वती' में। फिर १९१२ में कार्ल

मार्क्स पर लाला हरदयाल का लेख प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने मार्क्स के लिए कहा कि उन्होंने "एक ऐसी रक्तहीन क्रान्ति का सूत्रपात किया जिससे संसार के करोड़ों मनुष्यों की जीवनधारा का प्रवाह बदल गया।" (भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद, खंड १, पृ० १५८)। लाला हरदयाल ने अभी गदर पार्टी का संगठन न किया था, बोल्शेविक क्रान्ति होने में अभी पांच साल की देर थी। पर लाला हरदयाल १८५७ की राज्यक्रान्ति के समर्थक थे, वह अहिंसावादी नहीं थे। मार्क्स ने जिस सामाजिक क्रान्ति की बात कही थी, वह कितनी हिंसक है, कितनी अहिंसक, इस पर बहस की गुंजाइश है; लाला हरदयाल की स्थापना का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह मानते हैं, मार्क्स की विचारधारा से करोड़ों मनुष्यों की जीवनधारा का प्रवाह बदल गया।

लाला हरदयाल ने लिखा था, "दुनिया में जब इतनी अमीरी है तब जनता गरीब क्यों है? यह समस्या थी जिसे मार्क्स ने हल करना चाहा था···उन्होंने तै किया था कि जो गरीबी तमाम रोगों का घर है, जो मनुष्य को भीतर से तोड़ देती है, उसे भोगने वाले यूरुप के मजदूरों का उद्धार करेंगे और इसके लिए वह अपने उज्ज्वल भविष्य और जीवन का भी बलिदान करेंगे।···दुनिया के मजदूरो एक हो, मार्क्स का यह युद्धघोष सारे यूरुप में गूंज उठा था।" (उप०, पृ० १६२-६४)। भारत में जो नवयुवक लाला हरदयाल के सम्पर्क में आये, उनमें जनार्दन भट्ट भी थे। (इस तथ्य की जानकारी मुझे भट्ट जी से प्राप्त हुई।) उनके विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने 'हमारे गरीब किसान और मजदूर' लेख लिखा। यह लेख जून १९१४ की 'सरस्वती' में छपा। इसमें उन्होंने बताया कि यूरुप और अमरीका के मजदूर संगठित होकर अन्याय के विरुद्ध लड़ रहे हैं "किन्तु भारतीय किसान और मजदूर, मूर्ख होने के कारण, अपने दुःख और दारिद्र्य को अपने भाग्य पर फेंककर संतोष कर लेता है।···मध्यम श्रेणी के लोग पढ़े-लिखे और बुद्धिमान होते हैं··· जब ये अपने विचारों को अपने अशिक्षित भाइयों पर प्रकट करेंगे, जब ये अपने गरीब भाइयों को उनकी सच्ची हालत बतलावेंगे और उनके दारिद्र्य और दुःखों का सच्चा कारण उन्हें सुझावेंगे, जब वे उन्हें उनके अधिकारों का ज्ञान करावेंगे, जब वे उन्हें बतलावेंगे कि जो धन वे पैदा करते हैं कहाँ जाता है, और उन्हें क्यों नहीं मिलता, तभी देश का सच्चा सुधार होगा।" (महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ० ८४-८६)। कांग्रेस के संस्थापक ह्यूम और उनके जीवनी लेखक वेडरबर्न को मध्यवर्ग के ऐसे ही पढ़े-लिखे लोगों से भय था कि वे किसानों और मजदूरों से मिलकर अंग्रेजी राज का तख्ता उलट देंगे।

फिर आया जलियानवाला बाग। जनता के शान्तिपूर्ण प्रदर्शन के विरुद्ध साम्राज्यवाद की हिंसा नितान्त क्रूर रूप में प्रकट हुई। भारतीय जनता इस हिंसा का जवाब देना चाहती थी। शुक्लजी ने उसी १९२१ के लेख में, इस भावना को लक्ष्य करके, लिखा था, "पंजाब में ढाए गये क्रूर नृशंस अत्याचार और इस जुर्म के कर्णधारों का बिना दंड पाये घूमना प्रत्येक राष्ट्रभक्त भारतीय के हृदय को

गहरे क्रोध से भर देता है। इन अन्याओं के विरुद्ध सशक्त प्रदर्शन में सम्पूर्ण देश सम्मिलत हुआ और वह अपनी माँगों को सुनिश्चित रूप देने जा ही रहा था कि तभी मि० गांधी ने असहयोग की अनिश्चित योजना प्रारम्भ कर दी।" ('दस्तावेज,' पृ० ४)।

वीर भारत तलवार ने जलियानवाला काण्ड के सिलसिले में शुक्लजी की भावना का उल्लेख जिस ढंग से किया है, बहस में वह उनके दाँव-पेंच का अच्छा नमूना है। "असहयोग आन्दोलन को जिन कारणों से समर्थन मिला, उनका वर्णन करते हुए शुक्लजी ने जलियाँवाला बाग काण्ड का ज़िक्र किया, पर खिलाफत के सवाल पर चुप्पी साध ली।" (१३)। असहयोग आन्दोलन को समर्थन क्यों मिला, यह बताने के लिए शुक्लजी ने जलियानवाला काण्ड का ज़िक्र किया था! इससे अलग उनके चिन्तन मे उसकी कोई स्वतंत्र भूमिका न थी! शुक्लजी ने उस काण्ड का ज़िक्र किस तरह किया, यह न बताकर वह एक दूसरे प्रश्न पर पहुँच जाते हैं; शुक्लजी ने खिलाफत के प्रश्न पर चुप्पी साध ली! जलियानवाला बाग में जमींदारों ने प्रदर्शन न किया था। शुक्लजी की सामन्तवादी वर्गदृष्टि के आधार पर उनके आक्रोश की व्याख्या न की जा सकती थी, इसलिए वीर भारत ने उसे अपनी तर्क योजना से बाहर रखा! किन्तु शुक्लजी ने असहयोग आन्दोलन की आलोचना करते हुए जो कुछ कहा, वह सीधे इस आक्रोश से जुड़ा हुआ है।

शुक्लजी को आपत्ति इस बात पर है कि असहयोग की योजना "अनिश्चित" है। "अन्यायों के विरुद्ध सशक्त प्रदर्शन में सम्पूर्ण देश सम्मिलित हुआ;" असहयोग की योजना सशक्त नही है, वह प्रत्येक राष्ट्रभक्त भारतीय के "गहरे क्रोध" का जवाब नही है। ऐसा जवाब देने के लिए देश "अपनी माँगो को सुनिश्चित रूप" देने जा रहा था, तब गाँधीजी ने असहयोग आन्दोलन शुरू किया। इस आन्दोलन में हल्ला मचानेवाले बहुत हैं। शुक्लजी का विचार है कि कोलाहल का सृजनमात्र "किसी भी तरह अन्यायों का निराकरण नहीं कर पायेगा।" शुक्लजी की माँग है: "विभाजन के विरुद्ध बंगाल में जिस प्रकार आन्दोलन संगठित किया गया उसी प्रकार अधिक सुनिश्चित एवं अधिक लक्ष्योन्मुख प्रदर्शन की आवश्यकता है।" ('दस्तावेज,' पृ० ४)। शुक्लजी का यह भी कहना था कि "जहाँ इस आन्दोलन में कुछ ऐसे निःस्वार्थ एवं ईमानदार कार्यकर्ता है जिनका उदात्त एवं राष्ट्रभक्तिपूर्ण बलिदान प्रत्येक सम्मान के योग्य है, वही ऐसे व्यक्तियों की संख्या भी किसी प्रकार कम नहीं है जो दूसरों की कीमत पर दोहरा खेल खेलना चाहते हैं और जनसंख्या के बृहद् भाग के विरुद्ध अपने क्रियाकलापों के क्षेत्र ढूंढ़ रहे हैं।" (उप०, पृ० ४-५)। यह स्थिति का सही विश्लेषण है। असहयोगियों में ईमानदार कार्यकर्ता हैं, उनका बलिदान सम्मान के योग्य है, इस बात को दबा जाइये, शुक्लजी सत्याग्रह आन्दोलन के सम्पूर्ण और निरपेक्ष विरोधी साबित हो जायेंगे। वह कहते हैं, असहयोग आन्दोलन की "पताका के नीचे छद्मवेश मे छिपी हुई दुष्ट शक्तियों का पर्दाफाश करने के लिए जनता के समक्ष स्पष्ट और सुनिश्चित स्वराज्य प्रचार (होमरूल)

विकल्प के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। क्योंकि अपने देश के दुःख भोगों को देखते हुए जनता आलसी बनकर अलग नहीं बैठ सकती। वह करने के लिए कुछ चाहती है।" (उप०, पृ० ५)।

असहयोग के आगे यह स्वराज्य और होमरूल की बात बहुत पिछड़े हुए दिमाग की उपज मालूम होती है। पर शुक्लजी का स्वराज्य लिबरलों के स्वराज्य से अलग था, वह गांधीजी के स्वराज्य से भी अलग था। उसके पीछे अन्याय के प्रतिकार की भावना है, जलियानवाला काण्ड से उत्पन्न देशभक्त हृदय का गहरा क्रोध है। गाँधीजी इसी क्रोध को शान्त रखना चाहते थे। जनता आलसी होकर अलग नहीं बैठ सकती, वह कुछ करना चाहती है, वह साम्राज्यवाद का सक्रिय प्रतिरोध करेगी, इस सक्रिय प्रतिरोध का परिणाम होगा स्वराज्य। गाँधीजी ने उस समय स्वराज्य की स्पष्ट व्याख्या न की थी; कांग्रेसी नेतृत्व ने पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य स्वीकार किया १९३० में।

"विभाजन के विरुद्ध बंगाल में जिस प्रकार आन्दोलन संगठित किया गया" —शुक्लजी के लिए वह प्रकार आन्दोलन का बहुत कारगर तरीका था। वह कारगर था, यह इसी से साबित हो गया कि अंग्रेजों को विभाजन रद्द करना पड़ा। फिर कांग्रेस ने आन्दोलन इस प्रकार चलाया कि १९४७ में उसी बंगाल का विभाजन उसे स्वीकार करना पड़ा। बंगाल के विभाजन के विरोध मे स्वदेशी आन्दोलन चलाया गया। शुक्लजी स्वदेशी आन्दोलन का विरोध करते, इसकी सम्भावना न थी। उन्होंने स्वयं सरकारी नौकरी स्वीकार न की थी, इसलिए वे औरों से सरकारी नौकरी पर चिपके रहने को कहते तो आश्चर्य की बात होती। वीर भारत तलवार ने लिखा है, "१९०५ में अपने पिता के लाख समझाने पर भी उन्होंने अँगरेज कलक्टर विंढम द्वारा पेश की गयी सरकारी नौकरी बेहिचक ठुकरा दी थी, महज इसलिए कि वह सरकारी थी और सरकार विदेशी थी। इस घटना के १५ वर्ष बाद उन्होंने युवकों को राष्ट्रीय आन्दोलन के जोश में सरकारी नौकरियाँ छोड़ने से मना किया।" (१७)।

१९०५ बंगाल के विभाजन का साल है। इसी साल उन्होंने सरकारी नौकरी बेहिचक ठुकरा दी थी। इस विभाजन के विरुद्ध आन्दोलन को वह १९२१ मे एक कारगर आन्दोलन के रूप मे याद कर रहे थे। क्या अब पछता रहे थे, हाय! उस समय सरकारी नौकरी क्यों छोड़ दी? १९२१ मे शुक्लजी का कहना यह था: "यदि अव्यापारिक-राजनीतिक श्रेणियो को राजकीय सेवा से अपने को हटा लेने का निर्देश दिया जाता है तो व्यापारिक श्रेणियाँ भी ब्रिटिश या विदेशी वस्तुओं के साथ अपना समस्त व्यापार छोड़ देने को तैयार रहे।" ('दस्तावेज,' पृ० ८)। इस घोषणा का सीधा अर्थ है, सरकारी नौकरियाँ छोड़ने की नीति तभी सफल होगी जब विदेशी माल का व्यापार बन्द किया जायेगा। वीर भारत ने इस बात को बराबर छिपाया है कि शुक्लजी विदेशी माल के व्यापार को बन्द करने की बात भी कह रहे थे। उन्हें प्रतिक्रियावादी सिद्ध करने के लिए, समस्त पूंजीपति

जमींदार सरकार को राजस्व देना बन्द कर, शुक्लजी इसके विरोधी नहीं थे। शर्त यह थी कि उनकी जमीन महाजन न खरीदें। इस शर्त में बेजा क्या था? शुक्लजी ने प्रश्न किया था, "जब असहयोग राजस्व को भुगतान न करने की सीमा तक जा सकता है तो भूमि अधिकारी या कृषक वर्गों के पास क्या गारण्टी है कि जिस समय उनकी भूमि नीलामी पर रखी जायगी उस समय व्यापारिक समुदाय के सदस्य उनकी जमीनों को खरीद लेने के लिए आगे बढ़कर भाग-दौड़ नहीं करेंगे?" (उप०, पृ० ६)। जाहिर है, करेंगे, पहले भी कर चुके हैं। तब समस्या का समाधान क्या है? समाधान यह है: "दोनों वर्गों द्वारा समान त्याग का सिद्धान्त असहयोगियों की नीति में चरितार्थ होना चाहिए। यदि वे वास्तव में सरकारी कार्यतन्त्र को बन्द कर देने एवं ब्रिटिश व्यवसाय को पंगु बना देने में अपने को सक्षम समझते हैं तो उन्हें अपने कर्म में अनिवार्यतः एक बृहत्तर दृष्टिकोण अपनाना होगा।" दृष्टिकोण को संकुचित करने का नहीं, उसे बृहत्तर करने का सवाल है। बृहत्तर दृष्टिकोण का अर्थ है: एक ओर भूराजस्व की अदायगी बन्द, दूसरी ओर बिलायती माल का व्यापार बन्द। लेकिन शुक्लजी तो जमींदारों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने पर तुले हुए थे; वह इस नीति का समर्थन कैसे करते? इस सिलसिले में वीर भारत तलवार ने एक सबूत और पेश किया है: "गोकुल चन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि १९२६ में शुक्लजी ने चन्द्रशेखर आजाद से कहा कि अँगरेजों के खिलाफ किसान और जमींदार दोनों का एक संगठन बनाओ।" (२४)।

५. शुक्लजी और चन्द्रशेखर आजाद

शुक्लजी ने चन्द्रशेखर आजाद से कहा था: "अँगरेजों ने अपनी नीति से महाजन-जमींदार पैदा किये हैं। इन्हें छोड़िए। औसत जमींदार टैक्स आदि देने के बाद किसान की ही तरह हो जाता है। अपने संगठन में उन्हें भी लीजिए। किसानों के साथ वे भी विद्रोह करने के लिए तैयार बैठे हैं। बहुत जुल्म हुआ। अब केवल शक्ति का मार्ग रह गया है।" ('साक्षात्कार,' पृ० २५५)। वीर भारत ने पहला वाक्य एकदम छोड़ दिया। 'अंग्रेजों ने अपनी नीति से महाजन-जमींदार पैदा किये हैं'—शुक्लजी की यह स्थापना उद्धृत करने से वीर भारत तलवार की सारी व्यूह रचना छिन्न-भिन्न हो जाती है। शुक्लजी जानते थे कि अपने सामाजिक आधार के रूप में अंग्रेजों ने यहाँ नये ढंग के जमींदार पैदा किये हैं। संयुक्त मोर्चा इनके साथ न बनाना था। संयुक्त मोर्चा उन जमींदारों के साथ बनाना था जो टैक्स आदि देने के बाद किसान की ही तरह हो जाते हैं। इन्हें शुक्लजी ने औसत जमींदार कहा था। वीर भारत ने उनकी बात का हवाला देते समय "औसत" शब्द उड़ा दिया, शुक्लजी ने औसत जमींदार की जो व्याख्या की थी, उसे उन्होंने उड़ा दिया।

शुक्लजी के अनुसार इनके साथ संयुक्त मोर्चा इसलिए बनाना जरूरी था कि **किसानों के साथ वे भी विद्रोह करने के लिए तैयार बैठे हैं।** वीर भारत तलवार ने विद्रोह की बात उड़ा दी। **बहुत जुल्म हुआ**—इस वाक्य को जलियानवाला काण्ड के प्रति शुक्लजी के आक्रोश से मिलाकर पढ़िए। **पंजाब में ढाये गये क्रूर नृशंस अत्याचार और इस जुर्म के कर्णधारों का बिना दण्ड पाये मुक्त घूमना प्रत्येक राष्ट्र-भक्त के हृदय को गहरे क्रोध से भर देता है**—१९२१ में लिखे हुए इस वाक्य के सन्दर्भ में चन्द्रशेखर आजाद से शुक्लजी के सम्बन्ध पर विचार कीजिए। चन्द्रशेखर आजाद गाँधीवादी नहीं थे, रामचन्द्र शुक्ल गाँधीवादी नहीं थे। दोनों की सामान्य भूमि यह थी—**अब केवल शक्ति का मार्ग रह गया है।** अहिंसावाद से काम न चलेगा, अंग्रेजों को अपने किये की सजा मिलनी चाहिए। पर शुक्लजी केवल प्रति-हिंसा की बात न सोच रहे थे, वह विद्रोह की बात सोच रहे थे, ऐसे विद्रोह की बात जिसमें किसानों के साथ औसत जमींदार भी शामिल होंगे।

चन्द्रशेखर आजाद से रामचन्द्र शुक्ल का सम्बन्ध भारत के राजनीतिक इतिहास और हिन्दी साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। उस सम्बन्ध पर ध्यान देने से भारतीय समाज के प्रति और हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रति शुक्लजी की अनेक धारणाएँ ज्यादा अच्छी तरह समझ में आ जाती हैं। गोकुलचन्द्र शुक्ल के संस्मरण का एक अंश इस प्रकार है : "शुक्लजी अपनी आदत के अनुसार लिख रहे थे। आजाद पलँग के कोने पर बैठ गये। मैं माँ की चारपाई पर बैठा। उस दिन उन दोनों के बीच बहुत-सी बातें हुईं। इतने दशकों बाद कई बातें स्मृति से उतर गयीं, कुछ याद हैं। आजाद ने कहा—'पण्डितजी, अब तो हम फाँसी के तख्ते पर भारत माँ को ढूंढ़ते हैं।' शुक्लजी ने उत्तर दिया—'बेटे, भारत माँ को खेतों में ढूंढो। विश्व आन्दोलन के मेल में हमारा स्वाधीनता-आन्दोलन होना चाहिए। किसानों का संगठन किये बिना आन्दोलन सफल नहीं होगा।' आजाद ने हँसते हुए पूछा—'और हिंसा को कहाँ रखते हैं गुरूजी?' शुक्लजी बोले—'भीष्म भगवान नहीं हुए। लोकव्यापी, अत्याचार के विरुद्ध शस्त्र उठानेवाले राम कृष्ण ही भगवान कहलाये, भगवान के नाम पर चलनेवाले धर्म को राजनीति से अलग रखना चाहिए।' आजाद ने कहा—'इसी से मैंने क्रान्ति का रास्ता अपनाया है।' शुक्लजी ने कहा—'बहुत-से लोग क्रान्ति के नाम पर गला फाड़ते हैं पर मानसिक दृष्टि से पुरखों की ही श्रेणी में हैं। तुम्हारे-जैसे पाँच सौ भी हो जायँ तो देश एक दिन में स्वतन्त्र हो जाय।' आजाद ने कहा—'अंग्रेज हमें कमजोर समझकर शर्तें रखता है। उसे वह सबक सिखाऊँगा कि वह अपने घर में भी चैन से न बैठ सके।' शुक्लजी ने कहा —'चोर का मुकाबला करने के लिए डकैत बनना होता है। अब तो छीनकर बाँटनेवाली हालत आ गयी है। कोठीवाले उनका साथ दे रहे हैं। इधर काँग्रेस से भी मिले हैं।' आजाद ने कहा—'गाँधीजी के पास हमने सन्देश भेजे थे पर उन्हें हमारे रास्ते में विश्वास नहीं है।' शुक्लजी ने उत्तर दिया —'उनका भी रास्ता बदलेगा। आपकी और उनकी भावना का उद्गम एक है,

संगम भी एक है।' आजाद ने कहा—'उन्होंने बड़े-बड़े जमींदारों और व्यापारियों को छूट दे दी है।' शुक्लजी ने कहा—'बस यही एक कमजोर पक्ष है। अंग्रेजों ने अपनी नीति से महाजन-जमींदार पैदा किये हैं। इन्हें छोड़िए। औसत जमींदार टैक्स आदि देने के बाद किसान की ही तरह हो जाता है। अपने संगठन में उन्हें भी लीजिए। किसानों के साथ वे भी विद्रोह करने के लिए तैयार बैठे हैं। बहुत जुल्म हुआ। अब केवल शक्ति का मार्ग रह गया है।' आजाद ने अपने मन की व्यथा प्रकट की—'दुःख तब होता है गुरूजी, जब हमारे देशवासी ही हमारी दृष्टि नहीं समझते।' शुक्लजी बोले—'आप अपना काम कीजिये। आपके मानसिक स्तर पर पहुँचने के बाद ही वे समझेंगे।' आजाद उठकर खड़े हुए और कहा—'पण्डितजी, मेरे रिवाल्वर की गोलियाँ कभी खत्म नहीं होंगी। आप मुझे हमेशा याद रहेंगे। चलूँ, प्रणाम।' शुक्लजी की आँखें भीग गयीं। वे बोले—'अपने उद्देश्य में सफल होओ बेटा। यह संसार प्रेम करने के लिए है। पर कुछ मुट्ठी भर लोगों ने अधिकार हस्तगत करके हिंसा को अनिवार्य बना दिया। जाओ, संकट के समय यह घर तुम्हारा है।'···शुक्लजी आजाद को कभी नहीं भूल सके। उनकी शहादत की सूचना पाने पर वे प्रातः से रात तक एकदम मौन रहे। उस दिन दोनों वक्त भोजन नहीं किया। रात में हम लोग अपनी माँ की चारपाई पर बैठे यही चर्चा कर रहे थे। शुक्लजी बीच में एक वाक्य बोले—'देखना है अब गाँधीजी क्या करते हैं।' " (उप०, पृ० २५५-५६)।

हिन्दी का बिरला ही कोई पाठक होगा जो इस सजीव और मार्मिक संस्मरण से प्रभावित न होगा। शुक्लजी का विवेक दोषपूर्ण हो सकता है, देश से उनका भावात्मक सम्बन्ध निर्दोष है। भाषा और साहित्य का विवेचन करते समय वह देश के बारे में क्या सोचते थे, यह समझने के लिए **शुक्लजी आजाद को कभी नहीं भूल सके** इस एक वाक्य को याद रखना काफी है। किन्तु वीर भारत तलवार का मत है : "राष्ट्रीय आन्दोलन के मामले में शुक्लजी उतने भावनाशील न थे, जितने तर्कशील थे।" (१७)।

आजाद की शहादत के बाद शुक्लजी ने कहा—**देखना है अब गाँधीजी क्या करते हैं**। बहुत से देशभक्त गाँधीवाद का विकल्प खोज रहे थे, उनमें शुक्लजी भी थे। यह संसार प्रेम करने के लिए है, पर कुछ मुट्ठी भर लोगों ने अधिकार हस्तगत करके **हिंसा को अनिवार्य बना दिया**—गाँधीवाद और शुक्लजी के चिन्तन में यह फर्क था। क्रान्तिकारियों की हिंसा साम्राज्यवादी हिंसा की प्रतिक्रिया है, वह उसे समाप्त करने के लिए है। यह संसार प्रेम करने के लिए है, जो व्यक्ति यह जानता है, वही क्रान्तिकारी हिंसा का मार्ग अपनाता है। इस मार्ग पर चलकर सफलता तब मिलती है जब क्रान्तिकारी दल जनता को संगठित करता है और उसके साथ आगे बढ़ता है। **तुम्हारे जैसे पाँच सौ भी हो जायें तो देश स्वतन्त्र हो जाय**—यह दल के महत्व की घोषणा है। **भारत माँ को खेतों में ढूंढो**—यह क्रान्ति में जनता के महत्व की घोषणा है। **विश्व आन्दोलन के मेल में हमारा स्वाधीनता**

आन्दोलन होना चाहिए—यह स्थापना इस तथ्य की स्वीकृति है कि भारत का स्वाधीनता आन्दोलन विश्व साम्राज्य विरोधी आन्दोलन का अंग है। शुक्लजी ने अपनी बातें अत्यन्त दृढ़ता और आत्मविश्वास से कही होंगी, तभी आजाद ने चलते समय कहा था—**पण्डितजी, मेरे रिवाल्वर की गोलियाँ कभी खत्म नहीं होंगी। आप मुझे हमेशा याद रहेंगे।**

काकोरी केस में चन्द्रशेखर आज़ाद फरार हुए, रामप्रसाद बिस्मिल पकड़े गये, उन्हें फाँसी की सजा हुई। फाँसी पाने से पहले उन्होंने **आत्मकथा** लिखी, शिव वर्मा ने उसे गणेश शंकर विद्यार्थी के पास पहुँचाया और पहले-पहल उन्होंने उसे प्रकाशित किया। अनेक मुद्दों पर शुक्लजी और बिस्मिल के विचारों में जो समानता है, वह ध्यान देने योग्य है। रामप्रसाद बिस्मिल ने **आत्मकथा** में लिखा था, "असहयोग आन्दोलन में कार्यकर्ताओं की इतनी अधिक संख्या होने पर भी सबके-सब शहर के प्लेटफार्मों पर लेक्चरबाजी करना ही अपना कर्तव्य समझते थे। ऐसे बहुत थोड़े कार्यकर्ता थे, जिन्होंने ग्रामों में कुछ कार्य किया। इनमें भी अधिकतर ऐसे थे जो केवल हुल्लड़ कराने में ही देशोद्धार समझते थे!" (पृ० १२६)। इसी हुल्लड़बाजी के लिए शुक्लजी ने लिखा था, "कोलाहल का सृजन मात्र, जिसमें असहयोगियों ने निश्चितरूपेण उल्लेखनीय सफलता अर्जित की है, किसी भी तरह अन्यायों का निराकरण नहीं कर पायेगा।" ('दस्तावेज़', पृ० ४)। रामप्रसाद बिस्मिल ने नवयुवकों का आह्वान किया था कि वे "श्रमजीवी तथा कृषकों का संगठन करके उनको ज़मींदारों तथा रईसों के अत्याचारों से बचायें।" (आत्मकथा, पृ० १२३)। इससे तुलनीय है शुक्लजी की उक्ति—**किसानों का संगठन किये बिना आन्दोलन सफल नहीं होगा**। जनता को संगठित करने के लिए क्रान्तिकारियों का दल चाहिए। बिस्मिल ने लिखा था—"राजनैतिक क्रान्ति के लिए सर्वप्रथम क्रान्तिकारियों का संगठन ऐसा होना चाहिए कि अनेक विघ्न तथा बाधाओं के उपस्थित होने पर भी संगठन में किसी प्रकार की त्रुटि न आये।" शुक्लजी ने आज़ाद से कहा था, "तुम्हारे जैसे पाँच सौ भी हो जायँ तो देश एक दिन में स्वतन्त्र हो जाय।" बिस्मिल के पिता इतने पुरानपंथी थे कि पुत्र आर्यसमाजी हुआ तो उन्होंने कहा, "आर्य समाज से त्यागपत्र न दोगे तो मैं रात में सोते समय मार दूँगा।" बिस्मिल झुके नहीं, अन्त में पिता को ही झुकना पड़ा। शुक्लजी ने परिवारों में दृढ़ता से जमे हुए इसी रूढ़िवाद को लक्ष्य करके कहा था —"बहुत से लोग क्रान्ति के नाम पर गला फाड़ते हैं पर मानसिक दृष्टि से पुरखों की ही श्रेणी में हैं।"

बिस्मिल ने पूँजीवादी जनतन्त्र के लिए लिखा था, "देश के शासन में धनियों का मत ही उच्च आदर पाता है। धन-बल से देश के समाचार-पत्रों, कल-कारखानों तथा खानों पर उनका ही अधिकार हो जाता है।" शुक्लजी ने १९२१ में ही लिखा था, "सारा हिन्दी प्रेस व्यापारिक समुदाय के चंगुल में आ गया है।" ('दस्तावेज', पृ० ८)। इस व्यापारिक समुदाय के बारे में आजाद से उनकी बात-

चीत दिलचस्प है। आजाद ने अंग्रेजों को सबक सिखाने की बात कही। इस पर शुक्लजी की टिप्पणी थी : "चोर का मुकाबला करने के लिए डकैत बनना पड़ता है। [यहाँ चोर है पूंजीपति, डकैत है क्रान्तिकारी।] अब तो छीनकर बाँटनेवाली हालत आ गयी है। [क्रान्ति में सम्पत्ति का नये सिरे से वितरण होगा।] कोठीवाले उनका साथ दे रहे हैं। [पूंजीपति अंग्रेजों का साथ दे रहे हैं।]उधर कांग्रेस से भी मिले हैं। [अंग्रेजों का नरम विरोध करनेवाले दल से मिले हैं।]" इस पर आजाद ने कहा, "गांधीजी के पास हमने संदेश भेजे थे पर उन्हें हमारे रास्ते में विश्वास नहीं।" इसके उत्तर में शुक्लजी की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है : "उनका भी रास्ता बदलेगा। आपकी और उनकी भावना का उद्गम एक है। संगम भी एक है।" शुक्लजी के चिंतन में गांधीवाद का विरोध सम्पूर्ण और निरपेक्ष नहीं है। गांधीजी देशभक्त हैं। उनका और पूंजीपति वर्ग का विरोध वहीं उचित है जहाँ वे साम्राज्यवाद से समझौता करते हैं। असहयोग आन्दोलन में कुछ निःस्वार्थ और ईमानदार कार्यकर्त्ता थे, उनका उदात्त एवं राष्ट्रभक्तिपूर्ण बलिदान प्रत्येक सम्मान के योग्य था, यह बात उन्होंने १९२१ में स्वीकार की थी। उसी के अनुरूप उन्होंने आजाद के सामने यह आशा प्रकट की थी--"उनका भी रास्ता बदलेगा।" फिर आजाद की शहादत के बाद कहा था, "देखना है अब गांधीजी क्या करते हैं।" इस वाक्य में आशा है, गांधीजी शायद आन्दोलन का सुनिश्चित कार्यक्रम बनायेंगे; चुनौती भी है, नहीं बनायेंगे तो दूसरे लोग नया कार्यक्रम लेकर आयेंगे। आजाद ने गांधीजी के लिए कहा था, "उन्होंने बड़े-बड़े जमींदारों और व्यापारियों को छूट दे दी है।" शुक्लजी ने अपने उत्तर में बड़े-बड़े जमींदारों से उन औसत जमीदारों को अलग किया जो किसान जैसे थे और विद्रोह करने को तैयार थे। साथ ही उन्होंने व्यापारियों में महाजनों का विशेष रूप से उल्लेख किया—अंग्रेजों ने अपनी नीति से महाजन-जमींदार पैदा किये हैं। शुक्लजी के चिन्तन में आन्तरिक संगति है। जैसे वह सभी जमींदारों के विरुद्ध नहीं थे, वैसे ही वह सभी पूंजीपतियों के विरुद्ध नहीं थे।

शुक्लजी ने आजाद से कहा—अपने उद्देश्य में सफल होओ बेटे; संकट के समय यह घर तुम्हारा है। यह शुक्लजी की भावनाशीलता थी। उन्होंने आजाद से यह भी कहा—किसानों का संगठन किये बिना आन्दोलन सफल नहीं होगा। यह उनकी तर्कशीलता थी।

शुक्लजी ने विवेकशीलता से गांधीवाद की सीमाएँ पहचानी थीं, उसकी सीमित प्रगतिशील भूमिका पहचानी थी। गांधीवाद के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त के साकेत के प्रसंग में उन्होंने लिखा था, "रामायण के भिन्न-भिन्न पात्रों के परम्परा से प्रतिष्ठित स्वरूपों को विकृत न करके उनके भीतर ही आधुनिक आन्दोलनों की भावनाएँ—जैसे किसानों और श्रमजीवियों के साथ सहानुभूति, युद्ध-प्रथा की मीमांसा, राज्यव्यवस्था में प्रजा का अधिकार और सत्याग्रह, विश्वबन्धुत्व, मनुष्यत्व—कौशल के साथ झलकायी गयी हैं।" (**हिन्दी साहित्य का इतिहास**, पृ० ७४२)। पुनः मैथिलीशरण गुप्त के समग्र काव्यसाहित्य का विहंगावलोकन

करते हुए उन्होंने लिखा, "इधर के राजनीतिक आन्दोलनों ने जो रूप धारण किया उसका पूरा आभास पिछली रचनाओं में मिलता है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्व-वाद, विश्वप्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान सबकी झलक हम पाते हैं।" (उप०, पृ० ७४३)। इससे स्पष्ट है, शुक्लजी राजनीति में गांधीवाद की सीमित प्रगतिशील भूमिका स्वीकार करते थे, साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति का मूल्यांकन भी सकारात्मक ढंग से करते थे। पर गांधीवाद की इस अभिव्यक्ति से उन्हें सन्तोष नहीं था।

हिन्दी काव्य के प्रथम उत्थान के कवियों के बारे में शुक्लजी ने लिखा था, "सरकार पर रोष या असंतोष की व्यंजना उनमें नही मिलती।" (इतिहास, पृ० ७७७)। इससे थोड़ा आगे और बढ़े तो द्वितीय उत्थान में "देशभक्ति सम्बन्धी रचनाओं में शासन-पद्धति के प्रति असंतोष तो व्यंजित होता है पर कर्म में तत्पर करानेवाला, आत्मत्याग करानेवाला जोश और उत्साह न था। आन्दोलन भी कड़ी याचना के आगे नही बढ़े थे।" (उप०, पृ० ७७८)। स्पष्ट ही शुक्लजी राज-नीतिक आन्दोलनों से हिन्दी काव्यधारा को सम्बद्ध करके उसका मूल्यांकन कर रहे थे। "तृतीय उत्थान में आकर परिस्थिति बहुत बदल गयी। आन्दोलनों ने सक्रिय रूप धारण किया और गाँव-गाँव राजनीतिक और आर्थिक परतन्त्रता के विरोध की भावना जगायी गयी। सरकार से कुछ माँगने के स्थान पर अब कवियों की वाणी देशवासियों को ही 'स्वतन्त्रता देवी की वेदी पर बलिदान' होने को प्रोत्साहित करने में लगी। अब जो आन्दोलन चले वे सामान्य जन-समुदाय को भी साथ लेकर चले। इससे उनके भीतर अधिक आवेश और बल का संचार हुआ। सबसे बड़ी बात यह हुई कि ये आन्दोलन संसार के और भागों में चलनेवाले आन्दोलनों के मेल में लाये गये, जिससे ये क्षोभ की एक सार्वभौम धारा की शाखाओं से प्रतीत हुए।" (उप०)। आजाद से कही हुई शुक्लजी की अनेक बातो की पुष्टि पाठक यहाँ देख सकते हैं। माधवप्रसाद मिश्र के राजनीतिक दृष्टिकोण के बारे मे शुक्लजी ने जो कुछ लिखा है, वह बहुत कुछ स्वयं उनके दृष्टिकोण का परिचायक है।

"राजनीतिक आन्दोलनों के साथ इनका हृदय बराबर रहता था। जब देश-पूज्य मालवीयजी ने छात्रों को राजनीतिक आन्दोलनों से दूर रहने की सलाह दी तब इन्होंने एक अत्यंत क्षोभपूर्ण 'खुली चिट्ठी' उनके नाम छापी थी। देशदशा की इस तीव्र अनुभूति के कारण इन्हें श्रीधर पाठक की कविताओं में एक बात बहुत खटकी। पाठकजी ने जहाँ ऋतुशोभा या देशछटा का वर्णन किया है वहाँ केवल सुख, आनन्द और प्रफुल्लता के पक्ष पर ही उनकी दृष्टि पड़ी है, देश के असंख्य दीन-दुखियों के पेट की ज्वाला और कंकालवत् शरीर पर नहीं।" (उपर्युक्त, पृष्ठ ६१३-१४)। देशदशा की तीव्र अनुभूति—शुक्लजी ऐसी भावनाशीलता के पक्षधर थे।

६ खिलाफत, तिलक और असहयोग आन्दोलन

शुक्लजी स्वाधीनता आन्दोलन के विरोधी थे, यह सिद्ध करने के लिए वीर भारत तलवार ने खिलाफत के बारे में शुक्लजी की चुप्पी पर बहुत जोर दिया है। "शुक्लजी ने जलियांवाला बाग काण्ड का जिक्र किया, पर खिलाफत के सवाल पर चुप्पी साध ली। जबकि असहयोग का प्रस्ताव आया ही खिलाफत के सिलसिले में था और कलकत्ते में उसे मिले समर्थन के पीछे ख़िलाफत के अनुयाइयों का भारी हाथ था।" (१३)। वीर भारत तलवार ने यह नहीं बताया, भारतीय राष्ट्रीयता से खिलाफत का सम्बन्ध किस तरह का था, किसानों, मजदूरों अथवा साम्राज्य-विरोधी पूंजीपतियों के कौन-से हित खिलाफत से सिद्ध होते थे। विश्व इस्लामवाद से प्रभावित संप्रदायवादी मुसलमान नेता तुर्की स्थित खलीफा के अधिकारो की सुरक्षा के लिए आन्दोलन चला रहे थे, भारतीय राष्ट्रीयता से उसका कोई सम्बन्ध न था। खिलाफत के नेताओं को न राष्ट्रीय आन्दोलन में आते देर लगी, न उससे बाहर जाते देर लगी। राष्ट्रीय एकता के टूटने पर सम्प्रदायवाद का विष और भी तेजी से फैला। कांग्रेस के जिस नेता ने यह प्रक्रिया बहुत स्पष्ट देखी थी, उसका नाम गणेशशंकर विद्यार्थी था।

अपने लेख के आरम्भ में ही वीर भारत ने बता दिया है कि शुक्लजी "राष्ट्रीय आन्दोलन की उथल-पुथल से भरे उसी दौर के लेखक थे, जिस दौर में प्रेमचन्द, माखनलाल चतुर्वेदी और गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे सजग साम्राज्यविरोधी लेखक, कवि और पत्रकार अपना लेखन कर रहे थे।" (७)। एक ओर सजग साम्राज्य-विरोधी लेखक हैं, दूसरी ओर शुक्लजी हैं; शुक्लजी या तो साम्राज्यवाद के समर्थक हैं या उनका साम्राज्यविरोध सुषुप्त अवस्था में था। प्रश्न है : वीर भारत तलवार का साम्राज्यविरोध किस अवस्था में है? खिलाफत के प्रति गणेशशंकर विद्यार्थी और वीर भारत तलवार की धारणाओं में जो अन्तर है, उसका कारण क्या है? विद्यार्थीजी ने लिखा था : "देश की स्वाधीनता के लिए जो उद्योग किया जा रहा था, उसका वह दिन निस्संदेह अत्यन्त बुरा था, जिस दिन स्वाधीनता के क्षेत्र में खिलाफत, मुल्ला, मौलवियों और धर्माचार्यों को स्थान दिया जाना आवश्यक समझा गया। एक प्रकार से उस दिन हमने स्वाधीनता के क्षेत्र में एक कदम पीछे हटकर रखा था। अपने उसी पाप का फल आज हमें भोगना पड़ रहा है। देश की स्वाधीनता के संग्राम ने ही मौलाना अब्दुलबारी और शंकराचार्य को देश के सामने दूसरे रूप में पेश किया, उन्हें अधिक शक्तिशाली बना दिया, और हमारे इस काम का फल यह हुआ है कि इस समय हमारे हाथों से ही बढ़ाई इनकी और इनके से लोगों की शक्तियाँ हमारी जड़ उखाड़ने और देश में मजहबी पागलपन, प्रपंच और उत्पात का राज्य स्थापित कर रही हैं।" (**श्रेष्ठ निबन्ध**, दिल्ली, १९६७, पृ० १४१)। जो खिलाफत गणेशशंकर विद्यार्थी के लिए मजहबी पागलपन फैलाने का मूल कारण है, वह वीर भारत तलवार के लिए स्वाधीनता आन्दोलन की महान्

उपलब्धि है। कांग्रेस ने जहाँ कमजोरी दिखायी, सम्प्रदायवाद से समझौता किया, वहाँ वीर भारत ने उसकी राष्ट्रीयता को सराहा। शुक्लजी का विरोध करने के लिए कांग्रेसी नीति के अत्यन्त हानिकारक पक्ष का समर्थन करना जरूरी हो गया।

वीर भारत तलवार ने शुक्लजी को तिलकपंथी कहकर उनकी निन्दा की। गांधी प्रगतिशील हैं; तिलक प्रतिक्रियावादी हैं; शुक्लजी गांधी के विरोधी हैं, तिलक के समर्थक हैं, अतः प्रतिक्रियावादी हैं। इस प्रकार : "तिलकपंथी शुक्लजी यह नहीं देख सके कि तेजी से घट रहीं राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और संघर्ष की माँग कर रही परिस्थितियों के सामने अपने जीवनकाल में ही तिलक पिछड़ रहे थे, गांधी उभर रहे थे।" (११)। गांधी की प्रगतिशीलता सिद्ध करने के लिए वीर भारत ने ऐम. ऐन. राय का हवाला दिया है। राय के अनुसार लेनिन मानते थे कि भारतीय जनता को प्रेरित करने और उसे नेतृत्व प्रदान करने के लिहाज से वे क्रान्तिकारी हैं। यह काफी आश्चर्य की बात है कि लेनिन जिसे क्रान्तिकारी नेता मानते थे, उसका नाम उनकी रचनाओं में एक बार भी नहीं आया। ऐम. ऐन. राय स्वयं को क्रान्तिकारी और लेनिन को गांधीवाद का समर्थक कहकर उनका विरोध करते रहे थे। लेनिन पराधीन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन में पूँजीपति वर्ग की सीमित प्रगतिशील भूमिका स्वीकार करते थे, कम्युनिस्टों को उसके साथ अस्थायी संयुक्त मोर्चा बनाने की सलाह देते थे। इस तथ्य को तोड़-मरोड़कर राय ने लेनिन से गांधीजी को क्रान्तिकारी कहलाया है। जो लोग राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में मजदूरवर्ग और कम्युनिस्ट पार्टी की क्रान्तिकारी भूमिका अस्वीकार करते हैं, वे ऐम. ऐन. राय के आधार पर गांधीजी के क्रान्तिकारीत्व को मान्यता देने की बात बराबर करते हैं। इससे स्वाधीनता आन्दोलन के सामने गांधीवाद का कोई विकल्प नहीं रह जाता, कम्युनिस्ट पार्टी की सार्थकता इतनी रह जाती है कि वह गांधी-वाद का समर्थन करती रहे।

लेनिन ने गांधीजी के बारे में क्या कहा, यह बताने के लिए वीर भारत तलवार ने ऐम. ऐन. राय का हवाला देना उचित समझा, पर लेनिन ने सीधे तिलक का नाम लेकर जो कुछ कहा था, उसे उद्धृत करना उन्होंने अनावश्यक समझा। यह उनकी रणनीति के अनुरूप ही है। तिलक के स्वराज्य-आन्दोलन से क्षुब्ध होकर अंग्रेजों ने उन्हें कठोर सजा दी। इसकी तीव्र भर्त्सना करते हुए लेनिन ने अगस्त १९०८ में लिखा था : "ब्रिटिश गीदड़ों ने भारतीय लोकतन्त्रवादी तिलक के प्रति कुख्यात दण्ड की घोषणा की है। उन्हें देश से दीर्घकालीन निर्वासन का दण्ड दिया गया। ब्रिटिश हाउस आफ कामन्स में प्रश्न किये जाने पर पता चला कि भारतीय पंचों ने उन्हें बरी कर दिया था, फैसला हुआ ब्रिटिश पंचों के वोट से! थैलीशाहों के चमचों ने एक लोकतन्त्रवादी से बैर का बदला लिया। इससे बम्बई में हड़ताल हुई और सड़कों पर प्रदर्शन हुए। भारत में भी सर्वहारा वर्ग सचेत राजनीतिक जन-संघर्ष के स्तर तक अभी भी विकसित हो चुका है। ऐसी स्थिति में

भारत में रूसी ढंग की ब्रिटिश राज्यव्यवस्था का विनाश निश्चित है।" (कलेक्टेड वर्क्स, खंड १५, पृ० १८४)।

थैलीशाहों ने तिलक पर दायें बाजू से हमला किया था, बायें बाजू से हमला किया है वीर भारत तलवार ने। वामपंथी अवसरवाद किस तरह की वक्तृत्वकला से काम लेता है, उसका नमूना यह है: "जब भारतीय जनता अँगरेज़ी राज के दमन और अत्याचारों से क्षुब्ध थी, खिलाफत का सवाल मुसलमानों को खौला रहा था और जलियांवाला बाग का हत्याकांड और उसके बाद के जुल्म राष्ट्रीय अपमान के प्रतीक बन गये थे और समूची जनता ब्रिटिश शासन के खिलाफ संघर्ष करना चाहती थी, तब तिलक लंदन में एक कानूनी मुकदमा लड़ने में व्यस्त रहे।" (११)। यानी स्वाधीनता आन्दोलन की राह में सबसे बड़ी रुकावट थे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक! खैर, लेनिन ने उन्हें लोकतन्त्रवादी कहा, हमारे लिए इतना काफी है। रामचन्द्र शुक्ल 'तिलकपंथी' थे, यह उनके लिए गौरव की बात है।

तब तिलक लंदन में एक कानूनी मुकदमा लड़ने में व्यस्त रहे—तब कब? कानूनी मुकदमे के सिलसिले में तिलक ३० अक्तूबर १९१८ से ६ नवंबर १९१९ तक इंग्लैण्ड में थे। उनके लौटने पर दिसंबर १९१९ में अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस समय गाँधीजी अंग्रेजों से पूर्ण सहयोग करने के पक्ष में थे। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने इंडिया बिल पास करके जो संवैधानिक रिआयतें दी थीं, उन्हें तिलक ने "अपर्याप्त और असंतोषजनक" कहा था। गाँधीजी रिआयतों की इतनी आलोचना सुनने को भी तैयार न थे। उनका विचार था कि बादशाह सलामत का ऐलान महज़ राजनीतिक वक्तव्य नहीं है, वह ब्रिटिश जनता की सच्ची भावनाओं की अभिव्यक्ति है। "इसलिए उनकी राय थी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को सुधार मंजूर कर लेने चाहिए और उन्हें अमल में लाने के लिए सरकार से सहयोग करना चाहिए।" (D. V. Tahmankar, Lokamanya Tilak लंदन, १९५६, पृ० २९८)। तिलक का कहना था, "हम सहयोग के लिए तैयार हैं लेकिन पहले कोई चीज होनी चाहिए जिसको लेकर सहयोग करें।...अधिकारी पहले घोषित करें कि वे हमसे किस तरह सहयोग करना चाहते हैं, तब हम उन्हें आश्वस्त कर देंगे कि यदि वे सहयोग करेंगे तो हम भी सहयोग का हाथ बढ़ायेंगे। सहयोग यातायात का एकतरफा मार्ग नहीं है, वह पारस्परिक है। मैं उसे उत्तर सापेक्ष (responsive) कहता हूँ।" (उप०)। अमृतसर कांग्रेस में ब्रिटिश सुधारों को लेकर तीन मत थे। सहयोग शर्तों के साथ हो—तिलक। सहयोग बिना शर्तों के हो—गाँधी। सहयोग बिलकुल न हो—चित्तरजनदास और बिपिनचन्द्र पाल।

तिलक के प्रयत्न से कांग्रेस ने एकमत होकर प्रस्ताव पास किया। उसमें कहा गया था, भारत पूर्ण स्वराज्य (full self-government) के योग्य है, सुधारों-वाला कानून अपर्याप्त, असंतोषजनक और निराशाजनक है, आत्मनिर्णय के सिद्धांत के अनुसार भारत में पूर्ण स्वराज्य कायम करने के लिए जल्दी कदम उठाने

चाहिए, जहां तक संभव हो, सुधार इस तरह अमल में लाये जाने चाहिए, जिससे पूर्ण स्वराज्य शीघ्र स्थापित हो। (उप०, पृ० २९९-३००)। इस समय नरम नीति का समर्थन गाँधीजी कर रहे थे, गरम नीति के समर्थक चित्तरंजन दास और बिपिनचंद्रपाल थे। मध्य मार्ग का अनुसरण कर रहे थे तिलक। वीर भारत तलवार ने घटनाओं में हेराफेरी करके तिलक को लंदन में जमाये रखा और यहाँ गाँधीजी को असहयोगी बना दिया।

गाँधीजी ने सुधारों के पूर्ण बहिष्कार की बात जून १९२० में कही। "भारत में १९२० की हलचल का तात्कालिक कारण तुर्की से संधि की शर्तों का प्रकाशन था। इससे अधिकांश मुसलमान क्षुब्ध हो उठे और सख्त कदम उठाने को बाध्य हुए। तुर्की से संधि का विरोध करने के लिए केन्द्रीय खिलाफत समिति का गठन किया गया। इस समिति ने असहयोग का कार्यक्रम स्वीकार किया—सरकारी खिताब छोड़ दिये जायें, स्कूलों, कचहरियों और कानूनसाज़ कौंसिलों का बहिष्कार किया जाये और अंत में टैक्सों की अदायगी बंद की जाये। महात्मा गाँधी ने इस कार्यक्रम से सहमति प्रकट की, और उन्होंने मुसलमानों के समर्थन में, संधि के विरोध में और पंजाब की परिस्थितियों के विरोध में भी आन्दोलन में अगुवाई की। वह इस नतीजे पर पहुँचे कि जो शासन व्यवस्था पंजाब की घटनाओं के लिए जिम्मेदार थी अथवा जो गंभीरता से की हुई प्रतिज्ञाएँ, जैसे कि खिलाफत के मामले में, भंग कर सकती थी, वह अब बरदाश्त न की जा सकती थी। उन्होंने सारे देश का दौरा किया और लोगों से कहा कि वे अपने मुसलमान भाइयों का साथ दें और पंजाब के सम्मान की रक्षा भी करें। सारे भारत ने उनकी अपील मानी। तिलक ने भी नये आन्दोलन को आशीष दी और कानूनसाज़ कौंसिलों के बहिष्कार के सवाल को छोड़कर गाँधीजी के कार्यक्रम से सहमति प्रकट की।" (उप०, पृ० ३०२)। पूरी स्थिति यह थी।

सजग साम्राज्यविरोधी कवि माखनलाल चतुर्वेदी भी तिलकपंथी थे। और उन्होंने तिलक से ही जलियानवाला बाग के जन-प्रतिरोध का संबंध जोड़ा था!

तेरी हुंकारों का फल था, अगणित वीरों ने प्राण दिया,
राष्ट्रीय शक्ति ने तुझसे ही अमृतसर में था त्राण लिया।
तुझको अब कष्ट नहीं देंगे, हाथों में झंडा ले लेंगे,
मंडाले के क्या, शूली के कष्टों को सादर झेलेंगे।
इंग्लैन्ड नहीं नभ मंडल में हम तेरे हैं, हो आवेंगे,
तू ने नरसिंह बनाये हैं, अपना तिलकत्व दिखावेंगे।

(**माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, खंड ६, पृ० ६७**)।

क्या कहा था लेनिन ने—ब्रिटिश गीदड़ों ने लोकतंत्रवादी तिलक के प्रति कुख्यात दंड की घोषणा की थी। क्या कहते हैं कवि माखनलाल चतुर्वेदी :

तूने नरसिंह बनाये हैं, अपना तिलकत्व दिखावेंगे।

एक है गीदड़ दृष्टि, दूसरी ही नरसिंह दृष्टि। दोनों में जो पसंद हो, चुन लीजिये।

तिलकपंथियों के विरुद्ध गाँधीजी का महत्व दिखाने के लिए वीर भारत तलवार ने लेनिन का हवाला देते हुए लिखा. "भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के हर विकास को ध्यान से देख रहे लेनिन ने असहयोग आन्दोलन को उठता देखकर १९२१ में लिखा—'एशियाई देशों की जनता विश्व राजनीति और साम्राज्यवाद के क्रान्तिकारी विध्वंस की एक महत्वपूर्ण शक्ति बनती जा रही है। ऐसे देशों में भारत सबसे आगे है जहाँ क्रान्ति की ओर बढ़ने की तीव्रता दिखायी दे रही है।' " (१२)। बेशक लेनिन भारत के, और एशिया के अन्य देशों के, स्वाधीनता आन्दोलन के विकास को ध्यान से देख रहे थे। इन देशों की जनता साम्राज्यवाद के क्रान्तिकारी विध्वंस की शक्ति बनती जा रही थी। लेकिन कैसे? कम्युनिस्ट इंटरनैशनल की तीसरी कांग्रेस में लेनिन ने कहा कि उपनिवेशों और अर्ध उपनिवेशों की श्रमिक जनता संसार की आबादी का भारी बहुसंख्यक भाग है। बीसवीं सदी शुरू हुई तो यह जनता राजनीतिक जीवन के प्रति जाग्रत हुई "विशेष रूप से रूस, तुर्की, ईरान और चीन की क्रान्तियों द्वारा।" यहाँ लेनिन ने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की एशियाई पृष्ठभूमि पर ध्यान केन्द्रित किया है, एशियाई जनजागरण से उसका संबंध जोड़ा है। आगे उन्होंने कहा, "विश्व राजनीति में और साम्राज्यवाद के क्रान्तिकारी विध्वंस में इस जनता को सक्रिय उपकरण के रूप में बदलने की प्रक्रिया १९१४-१८ का साम्राज्यवादी युद्ध और रूस की सोवियत सत्ता पूरी कर रहे हैं (The imperialist war of 1914-18 and the Soviet power in Russia are completing the process of converting these masses into an active factor in world politics and in the revolutionary debtruction of imperialism...) यद्यपि दूसरी और अढ़ाई इंटर नैशनलों के नेताओं समेत यूरुप और अमरीका के शिक्षित कमाऊ-खाऊ लोग इसे देखने से हठपूर्वक इन्कार करते हैं। ब्रिटिश भारत इन देशों के सिरे पर है, और वहाँ क्रान्ति उसी अनुपात में परिपक्व हो रही है जिस अनुपात में एक ओर औद्योगिक और रेल संबंधित सर्वहारा वर्ग में वृद्धि हो रही है, दूसरी ओर उन अंग्रेजों के पाशविक आतंक में वृद्धि हो रही है जो और भी शीघ्रता से बार-बार हत्याकाण्डों (अमृतसर), सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाने आदि से काम लेते हैं।" (**कलेक्टेड वर्क्स**, खंड ३२, पृ० ४५४-५५)।

लेनिन भारत के स्वाधीनता आन्दोलन का विकास अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति के संदर्भ में देखते हैं। इस परिस्थिति में एक उपकरण है साम्राज्यवादी युद्ध और दूसरा उपकरण है सोवियत राज्यसत्ता। ये दोनों उपकरण पहले से चली आती प्रक्रिया को पूरा कर रहे हैं, १९०५ की रूसी क्रान्ति तथा अन्य पूर्वी देशों की क्रान्ति से वह प्रक्रिया शुरू हुई थी। भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में दो उपकरण हैं, एक है तिलक जैसे नेताओं का लोकतंत्रवाद, दूसरा है औद्योगिक सर्वहारा वर्ग। १९०८ में उन्होंने इस सर्वहारा वर्ग का उल्लेख किया और १९२१ मे भी। इस बार उन्होंने और भी स्पष्ट कर दिया कि भारत में क्रान्ति किस हद तक परि-

पक्व होती है, यह सर्वहारा वर्ग की वृद्धि पर निर्भर है। वीर भारत तलवार ने अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति को तो अपने उल्लेख से बाहर रखा ही है, भारत के सर्वहारा वर्ग को भी बाहर कर दिया है। इससे एक ओर राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन सोवियत संघ की छूत से बच जाता है, दूसरी ओर उस आन्दोलन में सर्वहारा वर्ग की भूमिका खारिज हो जाती है, और पूंजीपति वर्ग उसका एकमात्र नेता रह जाता है। लेनिन ने बहुत स्पष्ट रूप से अमृतसर के हत्याकाण्ड, वहाँ सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाने का उल्लेख किया, पर खिलाफत के सवाल पर चुप्पी साध ली!

लेनिन भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के हर विकास को ध्यान से देखते थे। एक विकास देशी फौज में गदर पार्टी की कार्यवाही थी। १९१६ में उन्होंने लिखा था, "उपनिवेशों में विद्रोह करने की कई कोशिशें हुई हैं। स्वभावतः उत्पीड़क जातियों ने फौजी सेंसर के जरिए इन्हें छिपाने की भरपूर कोशिश की। इसके बावजूद पता चला कि सिंगापुर में अंग्रेजों ने क्रूरता से अपनी भारतीय पलटनों के विद्रोह का दमन किया।" (उप०, खंड ३९, पृ० २५४)। मार्क्स ने १८५३ में ही ब्रिटिश सार्जेन्ट द्वारा प्रशिक्षित सेना को "भारत के उद्धार" की शर्त माना था। १८५७ में उन्होंने लिखा कि देशी फौज के गठन के साथ अंग्रेजों ने भारतीय जनता के लिए "प्रतिरोध का पहला सामान्य केन्द्र भी स्थापित कर दिया।" १९२० में लेनिन ने भारत की देशी सेना के बारे में लिखा, "ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग ने भारत के सैनिकों को समझाया कि जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन की रक्षा करना भारतीय किसानों का कर्तव्य है···पूंजीपति वर्ग ने उन्हें हथियार इस्तेमाल करना सिखाया, बड़े काम की चीज सिखायी, इसके लिए हमें पूंजीपति वर्ग के प्रति आभार प्रकट करना चाहिए, सभी रूसी किसानों और मजदूरों की ओर से, खासतौर से रूसी लाल फौज की ओर से, आभार प्रकट करना चाहिए।" (उपर्युक्त खंड ३१, पृष्ठ २३२)।

असहयोग आन्दोलन का विकल्प लेनिन के सामने मौजूद था। मार्क्सवादियों में जितने अवसरवादी हैं, वे इस विकल्प के बारे में चुप रहते हैं। वे कांग्रेस की नरम और ढुलमुल नीति को भारत के लिए ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य मानते हैं।

जब तिलक लंदन में थे, तब उन पर नजर रखने और उनके काम की रिपोर्ट देने के लिए भारत से तीन सी. आई. डी. अफसर भेजे गये थे। तिलक देशी सेना की भूमिका के बारे में क्या सोचते थे, इसकी जानकारी उनकी रिपोर्ट से होती है। "जहाँ तक स्वयं भारत में प्रचार [स्वराज्य संबंधी प्रचार] का सवाल है, मिस्टर तिलक नहीं समझते कि अब उसकी उतनी ज्यादा जरूरत है जितनी पहले थी। उनके विचार से वापस आने वाले मजदूर-बटालियन, सैनिक, इंग्लैन्ड की चाकरी में लड़ने वाले सीमान्त प्रदेश के कबीले, शाही सेवा के सैन्यदल, जर्मनी से आने वाले कैदी, आदि, ये सब जिस मोर्चे से भी आयें, वे परिस्थिति के कारण ही प्रचार संस्थाएँ बन जायेंगे और स्वयं को ऐसी संस्थाएँ बना लेंगे। उनके अपने

हर सूबे, जिले, शहर और गाँव में लोग उनका प्रभाव महसूस करेंगे और उनका काम पूरा किया जायेगा। जहाँ के वे रहने वाले हैं, वहाँ की देहाती जनता के लिए इसका भारी महत्व होगा।" (Tahmankar, Lokamanya Tilak, पृ० २८८)। सेना के जवानों ने सरकार का नमक खाया है, उसके प्रति वफादार रहने की कसम खाई है, हर हालत में उन्हें उसके प्रति वफादार रहना चाहिए, यह नीति तिलक की न थी। युद्ध के मोर्चों से लौटने वाले जवानों के लिए उन्होंने एक राजनीतिक भूमिका निश्चित कर ली थी।

युद्ध के बाद की अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति और उसमें इंग्लैन्ड की बदली हुई स्थिति को भी वह ध्यान से देख रहे थे। उस रिपोर्ट में आगे कहा गया था, "मिस्टर तिलक को इसका भरोसा भी है कि इंग्लैन्ड का खजाना खाली है और इसका कि अन्य राष्ट्र क्षति सह चुके हैं, अत: भविष्य में कोई उसकी मदद को आयेगा भी नही। कुशल मजदूरों का मारा जाना और घायल होना, जहाजरानी का विनाश, जापान और अमरीका की प्रतिद्वंदिता, अगले अनेक वर्षों तक विदेश नीति का उलझाव, ये सब उपकरण ऐसे हैं जिनके फलस्वरूप इंग्लैन्ड की शक्ति और रोबदाब का ह्रास होगा।" (उप०, पृ० २८९)। इंग्लैन्ड की इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए तिलक ने सेना के जवानों की राजनीतिक भूमिका निर्धारित की थी। यह भूमिका भारत में अंग्रेजी राज को स्थायित्व प्रदान करने वाली न थी।

स्वयं इंग्लैण्ड की आन्तरिक स्थिति में भारी परिवर्तन हो रहा था। तम्हनकर ने सही लिखा है, "एक से अधिक अर्थों में यह दौर क्रान्तिकारी था। ब्रिटेन के मजदूरवर्ग पर रूसी क्रान्ति का गहरा असर पड़ रहा था, फौज को भंग करने से नयी समस्याएँ पैदा हो रही थीं, कीमतें आसमान छू रही थीं, आयरलैण्ड की मुसीबत विराट रूप ग्रहण कर रही थी, मजदूरों मे बैचैनी बढ़ रही थी, पैरिस में शान्ति सम्मेलन हो रहा था।" (उप०, पृ० २७६)। तिलक ने लेबर पार्टी के मंच का उपयोग करके ब्रिटिश मजदूरों को समझाया कि उन्हें स्वराज्य की माँग का समर्थन क्यों करना चाहिए। वह बर्नार्ड शा और सिडनी वेब से मिले। ये दोनों लेखक समाजवाद के प्रचारक थे और स्वराज्य की माँग का समर्थन करते थे। तिलक ने लेबर पार्टी के मुख पत्र 'डेली हेराल्ड' में लेख लिखे और भारतीय पक्ष को सही ढँग से प्रस्तुत करनेवाली पुस्तिकाएं छापीं। युद्ध के बाद ब्रिटेन में जो चुनाव हुआ, उसके दौरान उन्होंने एक पुस्तिका की दस लाख प्रतियाँ वितरित कीं। सर वैलेन्टाइन शिरोल ने **भारतीय असन्तोष** (Indian Unrest) नाम की पुस्तक में ब्रिटिश जनता के बीच भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन और तिलक के बारे में बहुत से भ्रम फैलाये थे। तिलक ने अपने भाषणों और लेखों से इन भ्रमों को दूर किया।

शिरोल को ब्रिटिश पूंजीपतियों के अखबार 'टाइम्स' ने भारत का हाल लिखने को भेजा था। सी. आई. डी. की रिपोर्टो समेत यहाँ उसे हर तरह की सरकारी सहायता दी गयी थी। तिलक ने शिरोल पर मानहानि का जो मुकदमा चलाया, वह व्यक्तिगत रूप से शिरोल पर न होकर भारत सरकार पर हो गया।

सरकार ने किताब लिखने में उसकी मदद की थी, अब मुकदमा लड़ने में उसकी मदद की। आवश्यक सामग्री जुटाने के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया गया। इस सिलसिले में वाइसराय के सलाहकारों ने उन्हें सूचित किया, "विशेष कार्य के लिए अधिकारी की नियुक्ति ऐसा कदम है जो इस पूर्वधारणा के बल पर हिम्मत से उठाया जा सकता है कि आज जो सर वैलेन्टाइन शिरोल पर आक्रमण है, वह कल हम पर हो सकता है। दोनों ही स्थितियों में बचाव, सारतत्व को देखते, एक ही ढंग का होगा। जब हम ऐसी सूचना-सामग्री इकट्ठा करते हैं, जो सर वैलेन्टाइन शिरोल के काम आ सके, तब जो सामग्री खुद हमारे लिए जरूरी है, उसे इकट्ठा करते हैं।" (उप०, पृ० २७१)। ब्रिटेन के अखबार खुलकर तिलक का विरोध कर रहे थे, जज के अलावा जूरी के सदस्यों को प्रभावित कर रहे थे। जज ने जूरी को सम्बोधित करते हुए जो कुछ कहा, वह आज तिलक की देशभक्ति का प्रमाणपत्र जैसा लगता है : "सज्जनो, वादी का कहना है कि वह राजद्रोह (Sedition) का दोषी है। इस बारे में जरा भी सन्देह नहीं है। अपने जीवन में बरसों तक उसने बहुत-से राजद्रोहात्मक लेख लिखे या प्रकाशित किये हैं, और राजद्रोहात्मक किस अर्थ में? क्या यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि उनका प्रभाव, अक्सर भाषा की दुरूहता से ढँका हुआ, यह था कि भारत में अंग्रेजों की सरकार की भर्त्सना की जाये और जैसे भी बन पड़े, उसे बदनाम किया जाये?··· ये स्वदेशी लोग अंग्रेजी माल में आग लगाते थे। आपको वे वाक्य याद हैं जिनमें उन्हें सलाह दी गयी थी कि मुख्य बात है, अंग्रेजी चीजों को न खरीदना? मिल सकें तो केवल भारत में बनी हुई चीजें खरीदो, दूसरी चीजों का बाईकाट करो, और सबसे बढ़कर अंग्रेजी चीजों का बाईकाट करो। अंग्रेजी चीजें मत इस्तेमाल करो; कोई चीज जर्मनी में मिलती हो तो जर्मनी से मँगा लो।···उसी समय एक दूसरा आन्दोलन भी चल रहा था—स्वराज के लिए। इसके बारे में स्वयं वादी की गवाही मौजूद है। जब यहाँ वह कठघरे में खड़ा था, उसने कहा था, उसका [स्वराज का] मतलब है ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन। लेकिन क्या उसका इतना ही मतलब है? लेख आपके सामने है। स्वराज का मतलब है स्वाधीनता। साम्राज्य के अन्तर्गत स्वाधीनता को ऐसे पृथक् गणतन्त्र में विकसित होते कितना समय लगता है जिसकी अपनी पार्लियामेण्ट हो?···उसके व्याख्यान देने पर रोक लगा दी गयी थी। किस कारण? इस कारण कि वह जज [कारावास का दण्ड देनेवाला भारतीय जज] उसे कुछ भी सुधार न सका था और काले पानी की सजा उसे कुछ भी सुधार न सकी थी और उसके व्याख्यान देने पर रोक लगायी गयी थी, इस कारण कि वह भारत के लोगों को समझाते हुए घूमता था कि वे ब्रिटिश फौज में भर्ती न हों, यह उस समय जबकि १९१४ से लेकर पिछले नवम्बर तक, जैसा कि आप जानते हैं, हम अब तक की सबसे बड़ी फौजी ताकत से अपनी जिन्दगी के लिए लड़ रहे थे।" (उप०, पृ० २६५-६६)।

तिलक का मुकदमा खारिज हो गया। जिस पर मानहानि का दावा किया था,

उसे हर्जाना देना पड़ा। इसके साथ अंग्रेज जिस न्याय व्यवस्था की डींग हांकते अघाते न थे, उसका भण्डाफोड़ भी हुआ। भारत के नरमदली अखबारों तक ने ब्रिटिश अदालत के फैसले की आलोचना की। तिलक की सम्मान रक्षा का प्रश्न भारत की सम्मान रक्षा का प्रश्न बन गया। उनकी सहायता के लिए सभाएँ की गयीं। बम्बई में ऐसी एक सभा की अध्यक्षता करते हुए गाँधीजी ने कहा, "मेरी पद्धति और तरीके लोकमान्य तिलक से भिन्न हैं पर उन्होंने देश की जो निःस्वार्थ सेवा की है, उसके प्रति मुझे अपनी श्रद्धा अर्पित करनी ही चाहिए। यह समझना भ्रम होगा कि ब्रिटिश अदालत का फैसला उनके खिलाफ गया, इससे उनके प्रति जनता के आदर और प्रेम में कोई कमी आ सकती है। अस्लियत यह है कि विरुद्ध फैसला होने से वह उसकी निगाह में और भी ऊँचे उठ गये हैं। हकीकत यह है कि भारी थैलीवाला जीत गया है। लोकमान्य की दृढ़ता और उनके साहस की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। कानूनी पराजय से विचलित न होकर वह इंग्लैण्ड में अपना राष्ट्रीय कार्य करते जा रहे हैं। जब वहाँ वे हमारी लड़ाई लड़ रहे हैं, तब यहाँ हमारा कर्तव्य यह है कि हम पैसा इकट्ठा करें और उन्हें आर्थिक चिन्ता से मुक्त कर दें।" (उप०, पृ० २९४-९५)।

तिलक के भारत लौटने तक तीन लाख रुपयों की थैली भेंट करने का इन्तजाम हो चुका था। (उप०, पृ० २९५)।

स्वाधीनता आन्दोलन के जिस दौर के लेखक रामचन्द्र शुक्ल थे, उसी दौर के प्रेमचन्द, माखनलाल चतुर्वेदी और गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे "सजग साम्राज्य-विरोधी लेखक, कवि और पत्रकार भी" थे। (७)। इन तीनों में अहिंसावादी एक भी न था। गणेशशंकर विद्यार्थी भगतसिंह आदि क्रान्तिकारियों के मित्र तथा सह-योगी थे। माखनलाल चतुर्वेदी स्वयं क्रान्किारी रह चुके थे, कांग्रेस में शामिल होने के बाद भी क्रान्तिकारियों के प्रति उनकी सहानुभूति बनी रही। १९२७ में कांग्रेस के प्रस्तावित सभापति डा. अन्सारी के एक वक्तव्य की तीखी आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था, "हम निहायत अदब से एक बात और पूछें। काग्रेस के भावी सभापति की दृष्टि में, जिस तरह नरम, ऐंग्लोइंडियन, और भारत में बसे अंग्रेज आ गये, क्या उसी तरह, उनकी दृष्टि से, देश के उन क्रान्तिकारी तरुणों का भुलाया जाना उचित हुआ, जिनकी जेलों, फांसियों, काले पानियों और यन्त्रणाओं ने, देश में नये युग को जन्म दिया, और जो लोग, यदि अपनी पिस्तौलें फेंककर, ईमानदारी से, असहयोग का साथ न देते, तो कांग्रेस के अनुशासन की धाक और गाँधी युग का अहिंसा का कार्यक्रम—बम और पिस्तौलों की आवाजों पर देखते [-देखते] धूल में मिल जाता।" (**माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली**, खण्ड १० पृ० २६९-७०)।

माखनलाल चतुर्वेदी के अनुसार देश में नये युग को जन्म क्रान्तिकारियों ने दिया था। इनमें बहुतों ने अपनी पिस्तौलें फेंककर ईमानदारी से असहयोग का साथ दिया था। शुक्लजी संभवतः जानते थे कि अनेक क्रान्तिकारी असहयोग

आन्दोलन में शामिल हुए हैं। "इस आन्दोलन में कुछ ऐसे निःस्वार्थ एवं ईमानदार कार्यकर्ता हैं जिनका उदात्त एवं राष्ट्रभक्तिपूर्ण बलिदान प्रत्येक सम्मान के योग्य है"—लगता है, ये शब्द उन्होंने क्रान्तिकारियों को लक्ष्य करके कहे थे।

प्रेमचन्द गाँधीवाद के समर्थक थे। किसानों के संघर्ष से सम्बन्धित अपने पहले ही उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में उन्होंने लिखा था, "सत्याग्रह में अन्याय का दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया।" इससे तुलनीय है शुक्लजी की उक्ति—"कोलाहल का सृजन मात्र किसी भी तरह अन्यायों का निराकरण नहीं कर पायेगा"। 'प्रेमाश्रम' में मनोहर ने गौस खाँ का वध किया, **कर्मभूमि** में छात्रों और मजदूरों ने बलात्कारी गोरों को मारा।

सन् २० से पहले और सन् २० के बाद भारत के क्रान्तिकारी नौजवान और सजग साम्राज्यविरोधी लेखक कांग्रेसी नीति का विकल्प बराबर खोजते रहे थे। वीर भारत के चिन्तन में इस नीति का कोई विकल्प था ही नहीं। "असहयोग आन्दोलन के रूप में अच्छा या बुरा, सही या गलत, सतही या गहरा, जैसा भी वह था, संघर्ष का एक कार्यक्रम लेकर गाँधी आगे आये, सही वक्त पर आगे आये। जनता उनके साथ हो ली"। (१२)। फिर यह जनता अचानक गायब हो गयी, "आन्दोलन का मुख्य आधार शहरी शिक्षित मध्यवर्ग था।" (१६)। किसानों के बिना तो सामन्तविरोधी आन्दोलन चलाया न जा सकता था। वीर भारत की तर्क योजना से निष्कर्ष यह निकलेगा कि असहयोग आन्दोलन की सीमित साम्राज्यविरोधी भूमिका भी न थी!

७. स्वाधीनता आन्दोलन में वर्गों की भूमिका

रामचन्द्र शुक्ल का अपराध यह है कि "वे उपनिवेशवाद के चंगुल में फँसे सामन्ती व्यवस्थावाले पराधीन देश में पूँजीवाद की कोई प्रगतिशील भूमिका भी नहीं मानते।" (१७)। वीर भारत तलवार इस प्रगतिशील भूमिका को किस हद तक स्वीकार करते हैं? यदि पूँजीपतिवर्ग 'कृषक वर्गों' को "पूँजी के प्रभाव के मातहत ला रहा होता, तब तो यह एक शानदार बात होती क्योंकि उसका मतलब यह भी होता कि भारत का पूँजीपतिवर्ग सामन्तविरोधी क्रान्ति कर रहा था। दुर्भाग्य से ऐसी कोई बात न थी। उसके पास न इतनी पूँजी थी, न ऐसी क्रान्ति करने की क्षमता।" (१४)। भारतीय पूँजीवाद ने सामन्तविरोधी क्रान्ति नहीं की। शायद उसने कोई सीमित सामन्तविरोधी भूमिका निबाही हो? ऐसी कोई बात नहीं है। कांग्रेस के अपने किसान कार्यक्रम में "जमींदार के शोषण उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष चलाने का कार्यक्रम न था।" (१८)। तब नतीजा क्या निकला? नतीजा यह निकला कि कांग्रेस में और रामचन्द्र शुक्ल में कोई फर्क न था। लिखा है—"कांग्रेस तो वही चाहती थी जो रामचन्द्र शुक्ल चाहते थे, यानी जमींदार किसान संघर्ष को टालना।" (१८)। सामन्तविरोधी भूमिका न तो

कांग्रेस की थी, न रामचन्द्र शुक्ल की। गांधीजी की सीमित प्रगतिशील भूमिका यह थी कि उन्हें तिलकपन्थी रामचन्द्र शुक्ल के विरुद्ध खड़ा किया जा सकता था। वास्तव में दोनों का लक्ष्य एक था—सामन्तवाद, अतः साम्राज्यवाद, की रक्षा करना। "शुक्लजी चाहते थे कि अँगरेजी राज से लड़ने के सिलसिले में किसान-जमींदार का संघर्ष न हो। गाँधीजी भी ठीक यही चाहते थे।" (२४)। और इन्हीं गाँधीजी को ऐम. ऐन. राय के अनुसार लेनिन ने क्रान्तिकारी कहा था!

शायद मध्यवर्ग ने कोई सामन्तविरोधी भूमिका निबाही हो? "राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कर रहा शिक्षित मध्यवर्ग क्रान्तिकारी न था", कारण यह कि "वह किसानों पर भूस्वामीवर्ग का प्रभुत्व खत्म न करना चाहता था।" (१५)। और भी—"यह वर्ग रोज देश की गरीबी के बारे में बड़ी-बड़ी बातें करता था, देशप्रेम की दुहाई देता था, लेकिन देश के गरीब किसानों से उसको कोई लगाव न था।" (१६)। यह वर्ग भी उतना ही प्रतिक्रियावादी निकला जितना पूंजीपति-वर्ग। वास्तव में प्रगतिशील भूमिका निबाही है छोटे जमींदारवर्ग ने! "खुद उस छोटे जमींदारवर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन के एक दौर तक महत्वपूर्ण भूमिका निबाही।" (२७)।

वीर भारत के चिन्तन में इस देश का जो वर्ग सबसे प्रभावशाली है, वह सामन्तवर्ग है। "भारतीय समाज में शिक्षित मध्यवर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होने से पहले तक सामन्तवर्ग ही समाज का सबसे शक्तिशाली वर्ग था।" (१४-१५)। आगे चलकर जब शिक्षित मध्यवर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू किया, तब भी यह वर्ग प्रभावशाली बना रहा। कारण यह कि "पूरे भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन को खड़ा करनेवाले नेता मुख्यतः इसी वर्ग की पृष्ठभूमि से आये शिक्षित लोग थे।" (२७)। जो वर्ग अंग्रेजी राज का आधार था, वह सामन्तवर्ग था; जिस वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा किया, वह भी सामन्तवर्ग था। पूंजीपतिवर्ग समाज के अन्य अंगों की तरह पिछड़ा हुआ था। अंग्रेजी शिक्षा से लाभ उठाने की योग्यता उसमें न थी। "अँगरेजी राज में शिक्षा हासिल करनेवाले सामाजिक वर्गों में सबसे मुख्य यही वर्ग था।" (२७)। राजनीतिक आन्दोलन और सांस्कृतिक आन्दोलन—दोनों का संचालक है छोटे जमींदारों का वर्ग, उसका शिक्षित भाग। छोटे भूस्वामी वर्ग के महात्म्य का ऐसा प्रतिपादन अन्य किसी हिन्दी लेखक ने नहीं किया।

सामन्तवर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन के पहले शक्तिशाली था, उसके दौरान शक्तिशाली रहा और बाद में भी बना रहा। राष्ट्रीय आन्दोलन में छोटा भूस्वामीवर्ग प्रभावशाली इसलिए था कि "वह गाँवों में काँग्रेस का आधार था।" (२७)। अंग्रेजी राज का आधार था सामन्तवर्ग और कांग्रेस का आधार भी है सामन्तवाद। ब्रिटिश पूंजीवाद और भारतीय पूंजीवाद में कोई खास अन्तर नहीं दिखायी देता। बहुत से बहुत छोटे और बड़े भूस्वामियों का अन्तर हो सकता है। पर छोटे हों या बड़े, थे तो वे सामन्त। जैसा कि वीर भारत ने कहा है, "वर्ग का निर्धारण आमदनी की मात्रा से नहीं, आमदनी प्राप्त करने के जरिये से, उत्पादन में निभायी गयी

भूमिका से होता है।" (२३)। जैसे नागनाथ, वैसे साँपनाथ। नागनाथ हैं ब्रिटिश पूंजीपति, साँपनाथ हैं देशी पूंजीपति। दोनों का सामाजिक आधार एक है। "किसानों पर उनके मालिक जमींदारों के प्रभावों के कारण जैसे अँगरेजों ने उन्हें अपना आधार बनाया, वैसे ही कांग्रेस भी उन्हें अपना आधार बनाना चाहती थी।" (२७)। यहाँ छोटे सामन्त और बड़े सामन्त का भेद नगण्य है, साथ ही अँगरेजी राज और राष्ट्रीय आन्दोलन का भेद भी नगण्य है!

कांग्रेस जमीदारों को अपना आधार बनाना चाहती थी—इस उद्देश्य में उसे सफलता मिली या नहीं? छोटा भूस्वामी वर्ग तो पहले ही कांग्रेस का समर्थक था, "१९३७ में बिहार के बड़े-बड़े भूमिपतियों के सरताज सर सी. पी. एन. सिंह (जो अब सर हटाकर कांग्रेसी राज्यों में गवर्नर बनते हैं) और दरभंगा नरेश ने मिलकर बिहार के बड़े जमींदारों का एक संगठन कायम किया और कांग्रेस में मिलने का फैसला किया।" (२५)। और भी—"छोटे जमींदारों ने ही नहीं, बड़े जमींदारों ने भी समझ लिया था कि कैसे अपने वर्गीय हितों को सुरक्षित रखते हुए राष्ट्रवादी बना जा सकता है।" (२६)। इस राष्ट्रवाद में और अंग्रेजी राज में कोई मौलिक अन्तर नही है। जमीदारों को जैसे अंग्रेजों ने अपना आधार बनाया, वैसे ही कांग्रेस ने बनाया। अंग्रेजी राज का जो सामाजिक आधार पहले था, वह अब भी बना हुआ है। सामन्तविरोधी क्रान्ति के जो कार्य पहले सम्पन्न करने थे, उन्ही को आज भी सम्पन्न करना है! सवाल सामन्ती अवशेषों का नहीं है, अंग्रेजी राज के पुष्ट सामाजिक आधार का है, बड़े और छोटे जमीदारों के सम्मिलित सामन्त वर्ग का है। यह वर्ग पहले की ही तरह सुरक्षित है। भारतीय पूंजीवाद की सीमित साम्राज्यविरोधी भूमिका यहाँ समाप्त हो जाती है। या भारतीय पूंजीवाद साम्राज्यविरोधी तो है, सामन्तविरोधी नहीं है?

दरअसल वीर भारत ने भारतीय पूंजीवाद को कांग्रेस का नेतृत्व सँभालने ही नहीं दिया। उसका नेतृत्व तो शिक्षित मध्यवर्ग कर रहा था और यह मध्यवर्ग छोटे जमींदार-वर्ग का विस्तार था। वीर भारत तलवार के विवेचन में शक्तिशाली वर्ग पूंजीपतियों का नहीं है, सामन्तों का है; शिक्षित मध्यवर्ग का सम्बन्ध पूंजीपति-वर्ग से नही है, सामन्तवर्ग से है। एक प्रगतिशील भूमिका अंग्रेजी राज की है, उसने भारत के सामन्ती अन्धकार में पाश्चात्य सभ्यता का प्रकाश फैलाया। दूसरी प्रगतिशील भूमिका है छोटे जमींदार वर्ग की, उसने पाश्चात्य शिक्षा से लाभ उठाया, देश में राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा किया। पाश्चात्य शिक्षा से लाभ उठानेवाला छोटे जमींदारों का वर्ग मध्यवर्ग है, वीर भारत ने अपने लेख में कई जगह दोहराई है और इस ढँग से दोहरायी है, कि वह उनकी मौलिक स्थापना प्रतीत हो। पर वह स्थापना उन्होंने शुक्लजी से प्राप्त की है।

शुक्लजी ने लिखा था, "अव्यापारिक तथा राजनीतिक श्रेणियों के सदस्यों ने जमीन से जुड़े रहने की सुरक्षा अब आगे सम्भव न पाकर अंग्रेजी शिक्षा का लाभ उठाया, सरकारी नौकरियों पर टूट पड़े और इस ढंग से व्यापारिक वर्ग के आक्रमणों

के विरुद्ध अपनी प्रतिष्ठा एवं आत्मसम्मान की रक्षा की।···वे उस बृहद् भाग का निर्माण करते हैं जिसे शिक्षित मध्यवर्ग कहा जाता है।" ('दस्तावेज', पृ० ६)। मध्यवर्ग के बारे में अपनी स्थापना के स्रोत का उल्लेख करने के बदले वीर भारत तलवार ने शुक्लजी के वर्ग-विश्लेषण की आलोचना की है। शुक्लजी इतना भी नहीं जानते कि किसान और जमींदार दो भिन्न वर्ग हैं, वह उन्हें मिलाकर एक वर्ग बना देते हैं। "शुक्लजी के साथ कठिनाई यह है कि वे किसान और जमींदार, दोनों को 'कृषकवर्ग' कहते हैं। किसान को उसके मालिक जमींदार के साथ रखकर 'कृषक श्रेणी' और किसान से लेकर जागीरदार तक को एक साथ रखकर 'अव्यापारिक श्रेणी' बनाते हैं।" (६)। यहाँ वीर भारत एक छोटी-सी बात भूल गये हैं। जिस लेख के आधार पर उन्होंने शुक्लजी पर यह आरोप लगाया है, उसका शीर्षक है : असहयोग और अव्यापारिक श्रेणियाँ। एक श्रेणी नहीं, अनेक श्रेणियाँ हैं। 'कृषकवर्ग', 'कृषक श्रेणी' की बात करने के पहले वीर भारत शुक्लजी के 'कृषक वर्गों' का उल्लेख भी कर आये हैं। "शुक्लजी के मुताबिक अँगरेजी राज ने यहाँ के व्यापारी और पूँजीपति वर्ग पर सुविधाओं की वर्षा की लेकिन 'कृषक वर्गों'—किसानों और जमींदारों—को तबाह कर दिया।" (८)। 'कृषक वर्गों' के आगे "किसानों और जमींदारों" लिखकर बता भी दिया कि वे वर्ग कौन से हैं। शुक्लजी ने तो किसानों के अलावा खेत मजदूरों का उल्लेख भी किया था : "गाँवों की जनसंख्या में जमींदार, किसान और मजदूर होते हैं।" ('दस्तावेज', पृ० ७)। वीर भारत ने शुक्लजी पर यह आरोप तो लगाया कि उन्होंने किसानों और जमींदारों को मिलाकर एक वर्ग बना दिया, यह आरोप क्यों नहीं लगाया कि उन्होंने मजदूरों और जमींदारों को मिलाकर एक वर्ग बना दिया? 'कृषक वर्गों' ('ऐग्रीकल्चरल क्लासेज') में मजदूर भी तो शामिल हैं! ऐसा करते तो 'कृषक वर्ग' का रहस्य तुरत प्रकट हो जाता! तब वर्ग विश्लेषण में शुक्लजी का अनाड़ीपन और वीर भारत का हस्तकौशल प्रकट होने से रह जाता।

पर छोटे जमींदारों के शिक्षा प्राप्त अंग—मध्यवर्ग—के प्रति शुक्लजी के मन में कोई सम्मान का भाव नहीं है। जब छोटे जमींदारों ने देखा कि जमीन से जुड़े रहने की सुरक्षा अब आगे सम्भव नहीं है, तब उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का लाभ उठाया, **सरकारी नौकरी पर टूट पड़े**। सरकारी नौकरी करना कोई शान की बात नहीं है। शान की बात थी अंग्रेजों और उनके द्वारा संरक्षित महाजनों से लड़ना पर यह न करके वे सरकारी नौकरी को ही गनीमत समझ रहे हैं। जमीन हाथ से निकली जा रही है और मुआवजे में मिल रही है सरकारी नौकरी! "स्पष्ट कहें तो ब्रिटिश शासन द्वारा प्रस्तुत प्रतिकूल स्थितियों के बीच से इस प्रकार किसी भी किस्म का मुआवजा वसूल कर लेने का उनकी तरफ से यह एक दयनीय प्रयास है।" ('दस्तावेज', पृ० ६)। शुक्लजी के यहाँ जो वर्ग दयनीय प्रयास के योग्य ही रह गया है, वह वीर भारत के यहाँ स्वाधीनता आन्दोलन का कर्णधार बन गया है।

पर वीर भारत तलवार के यहाँ मध्यवर्ग काफी लचीली संज्ञा है। एक मध्यवर्ग भूस्वामीवर्ग का विस्तार है, दूसरा मध्यवर्ग पूंजीपतिवर्ग का विस्तार है। "तथ्य यह था कि राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल व्यापारी पूंजीपति और उनके शिक्षित मध्यवर्गीय प्रतिनिधि देहाती भूस्वामी वर्ग के साथ समझौते की नीति पर चल रहे थे।" (१५)। सामन्ती मध्यवर्ग, पूंजीवादी मध्यवर्ग, इनसे अलग तीसरा मध्यवर्ग भी है—साधारण मध्यवर्ग! सामन्ती मध्यवर्ग ने इस साधारण मध्यवर्ग को प्रभावित किया। छोटे जमींदारवर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन के एक दौर तक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। "राष्ट्रीय आन्दोलन में शुरू के तीन दशकों तक आन्दोलन के विभिन्न पक्षों को संगठित करनेवाला वर्ग यही था। राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित विभिन्न संस्थाओं जैसे धार्मिक सभाओं, साहित्यिक परिषदो···यहाँ तक कि किसान सभाओं तक को संगठित करने और नेतृत्व देने का काम इसी वर्ग ने किया था। राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित इतनी सारी संस्थाओं को संगठित करने और नेतृत्व देने के दौर में उसकी विचारधारा, मूल्यों और कार्यशैली का असर राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े साधारण मध्यवर्ग पर पड़ना लाजमी था।" (२७-२८)।

इस साधारण मध्यवर्ग का उल्लेख करने के तुरत बाद वीर भारत ने नया पैरा शुरू करते हुए लिखा, "इसी वर्ग की दृष्टि को लेकर रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी प्रदेश में राष्ट्रीय आन्दोलन के साहित्यिक मोर्चे पर सामने आये।" (२८)। सम्भव है, 'इसी वर्ग' का अर्थ हो साधारण मध्यवर्ग; यह भी सम्भव है कि संकेत सामन्ती मध्यवर्ग की ओर हो।

शुक्लजी की वर्ग दृष्टि पर वीर भारत तलवार ने कई दृष्टिकोणों से विचार किया है। "शुक्लजी पूंजीवाद का विरोध देहात के छोटे भूस्वामीवर्ग की दृष्टि से कर रहे थे।" (२०)। यहाँ शुक्लजी की वर्गदृष्टि देहाती ही नहीं, प्रतिक्रियावादी भी है। "वे गांधी की आलोचना वामपंथी दृष्टि से नहीं, दक्षिणपंथी दृष्टि से कर रहे थे।" (उप०)। फिर दृष्टिकोण बदलता है। "वे शहरी मध्यवर्ग के लेखक थे और राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थक थे।" (२३)। यहाँ शुक्लजी शहरी ही नहीं, राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थक भी हैं। हो सकता है कि यह समर्थन उन्होंने दक्षिणपंथी दृष्टि से किया हो। लेकिन आगे बढ़ने पर ज्ञात होता है, "रामचन्द्र शुक्ल थे उग्र राष्ट्रवादी।" (२६)। जो व्यक्ति गांधीजी की आलोचना दक्षिणपंथी दृष्टि से कर रहा था, वह उग्र राष्ट्रवादी कैसे हुआ, यह समझ पाना कठिन है। यह तो निश्चित है कि शुक्लजी की वर्गदृष्टि पर वीर भारत तलवार ने कई दृष्टिकोणों से विचार किया है।

"रामचन्द्र शुक्ल बड़े जमीदारों, ताल्लुकेदारों, राजाओं और नवाबों के समर्थक न थे। बड़े जमींदार-ताल्लुकेदार, राजा और नवाब अँगरेजी राज के दोस्त और दलाल थे जबकि रामचन्द्र शुक्ल थे उग्र राष्ट्रवादी। भोगविलास के बीच मर्यादीहीन जीवन गुजारनेवाले इन बड़े सामन्तों को सांस्कृतिक और साहित्यिक कुरुचियों पर शुक्लजी ने अपने साहित्य में कड़े प्रहार किये।" (२६)। जहाँ तक

अंग्रेजी राज के सामाजिक आधार का सम्बन्ध है, ये राजा, नवाब और बड़े जमींदार और ताल्लुकेदार ही उसके आधार थे। शुक्लजी ने इनकी साहित्यिक और सांस्कृतिक कुरुचियों पर प्रहार छोटे जमींदारों की सुरुचियों के आधार पर किये होंगे। "अपने लेखन में उन्होंने इस वर्ग के साहित्यिक मूल्यों का खंडन किया। पर उसकी भूसम्पत्ति के विरुद्ध उन्होंने कुछ नहीं कहा।" (उप०)। अर्थात् उग्र राष्ट्रवादी रामचन्द्र शुक्ल मन-ही-मन यह चाहते थे कि बड़ी भूसम्पत्तिवाला अंग्रेजों का सामन्ती आधार भारत में कायम रहे। "शुक्लजी सामन्ती तबीयत के लेखक न थे। उन्होंने अपने साहित्य मे बहुत-से साहित्यिक और कलागत सामन्ती मूल्यों-विचारों का खण्डन किया है।" (२३)। शुक्लजी दोहरा खेल खेल रहे थे। वह सामन्ती मूल्यों-विचारों का खण्डन कर रहे थे और सामन्ती भूसम्पत्ति कायम रखने का समर्थन कर रहे थे!

"अपने साम्राज्यवाद-विरोधी साहित्यिक लेखन में शुक्लजी ने राष्ट्रीय चरित्रवाले प्रश्नों का विवेचन किया।" (२८)। उनके लेखन का साम्राज्यवाद-विरोध सतही किस्म का रहा होगा क्योंकि इस साम्राज्यवाद के सामन्ती आधार, राजाओं, नवाबों, बड़े जमीदारों-ताल्लुकदारों, की भूसम्पत्ति के बारे में उन्होंने कुछ नहीं कहा। "अपने इतिहास की खोज, इतिहास की रचना और इतिहास की व्याख्या हर उत्पीड़ित राष्ट्र के हाथों साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का एक हथियार होता है। हिन्दी भाषी जनता के लिए इस हथियार को रामचन्द्र शुक्ल ने तैयार किया। शुक्लजी के इतिहास से हिन्दी प्रदेश की जनता उपनिवेशवाद के सांस्कृतिक हमलों का मुकाबला करने में और समर्थ हुई।" (२८)। लेकिन इतिहास की खोज में उन्होंने पाया क्या? नाथसिद्धों की अनुयायी जनता से लेकर छायावाद के समर्थकों तक वह हिन्दीभाषी जनता को तो मूर्ख समझते थे। सामन्तवाद के समर्थन के अलावा उनके साहित्य में और होगा क्या? उपनिवेशवाद के सांस्कृतिक हमलों का मुकाबला—बड़ी उत्साहवर्धक बात है पर इन सांस्कृतिक हमलों की विषयवस्तु क्या थी? विषयवस्तु यही थी कि भारत की जनता सामन्ती अन्धकार में डूबी हुई थी और उसने पहली बार प्रकाश के दर्शन किये अंग्रेजी राज में। पर यह बात रामचंद्र शुक्ल ने नही कही, यह बात कही है वीर भारत तलवार ने।

वीर भारत तलवार और रामचन्द्र शुक्ल के दृष्टिकोणों में बुनियादी अन्तर है। वीर भारत के अनुसार अंग्रेजी राज से पहले वर्णाश्रम धर्म की गोद में पली सामन्ती संस्कृति में कोई परिवर्तन न हुआ था। शुक्लजी के अनुसार ऐसा परिवर्तन हुआ था। यहाँ का भक्ति आन्दोलन लोक-संस्कृति का संवाहक था, सामन्ती संस्कृति का नही। जनता और साहित्य के बीच विच्छेद पड़ा था रीतिकाल में, उसे दूर किया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने। लोक और साहित्य के बीच विच्छेदक भूमिका है सामन्ती संस्कृति की। अंग्रेजी राज कायम होने से पहले यहाँ सामन्ती संस्कृति का सार्वभौम प्रभुत्व नही था। रीतिकाल के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उस लोक साहित्य की परम्परा को पुनर्जीवित किया और नयी परिस्थितियों में उसका

विकास किया। उल्लेखनीय है कि कांग्रेस का जन्म १८८५ में हुआ, उसी वर्ष भारतेन्दु का निधन हुआ। कांग्रेस के जन्म से पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपनी युगान्तरकारी भूमिका पूरी कर चुके थे।

कांग्रेस ने असहयोग आन्दोलन चलाया। वीर भारत के अनुसार "आन्दोलन का मुख्य आधार शहरी शिक्षित मध्यवर्ग था।" (१६)। शुक्लजी के अनुसार "कांग्रेस की प्रतिष्ठा होने के उपरान्त भी बहुत दिनों तक देशभक्ति की वाणी मे विशेष बल और वेग न दिखायी पड़ा।" (इतिहास, पृ० ७७७)। फिर देशभक्ति सम्बन्धी रचनाओं में शासन पद्धति के प्रति असन्तोष व्यंजित हुआ, कर्म मे तत्पर करनेवाला उत्साह उसमें नहीं था। "तृतीय उत्थान में आकर परिस्थिति बहुत बदल गयी। आन्दोलनों ने सक्रिय रूप धारण किया और गाँव-गाँव राजनीतिक और आर्थिक परतन्त्रता के विरोध की भावना जगायी गयी।" (उप०, पृ० ७७८)। गाँवों में आर्थिक-राजनीतिक परतन्त्रता के विरोध की भावना जगायी गयी थी, अपने आप न जाग गयी थी। उसे आन्दोलनकारियों ने जगाया था। यही आन्दोलनों का सक्रिय रूप था जो द्वितीय उत्थान में नहीं था। शुक्लजी का तृतीय उत्थान स. १९७५ अर्थात् सन् १९१८ से शुरू होता है। इसकी विशेषता यह है कि "अब जो आन्दोलन चले वे सामान्य जन-समुदाय को भी लेकर चले।" (उप०)। वीर भारत तलवार के विवेचन में यही सामान्य जन-समुदाय गायब है। अंग्रेज कहते थे, भारत के कुछ पढ़े-लिखे लोग आन्दोलन कर रहे है, सामान्य जनता का उससे कोई संबंध नही है। वीर भारत जो कुछ कहते है, उसका सारतत्त्व भी यही है।

शुक्लजी ने छोटे जमीदारों के बारे में लिखा था, "वे उस बृहद् भाग का निर्माण करते हैं जिसे शिक्षित मध्यवर्ग कहा जाता है।" ('दस्तावेज', पृ० ६)। इस वर्ग के सदस्य "सरकारी नौकरी पर टूट पड़े"। अंग्रेजी राज मे सरकारी नौकरियों को हाथ से निकलती जमीन का मुआवजा समझना इस वर्ग का "दयनीय प्रयास" था। वीर भारत तलवार ने इस वर्ग को राष्ट्रीय आन्दोलन का कर्णधार बना दिया। राजनीतिक ही नही, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक सभी आन्दोलनों का सूत्रधार उन्होंने इसी वर्ग को माना है। भारत के राजनीतिक आन्दोलन की तरह उसके साहित्यिक सांस्कृतिक आन्दोलन भी सामन्तवर्ग के अपने अन्तर्विरोध की अभिव्यक्ति हैं। छोटे जमीदारों को यह युगविधायक भूमिका न तो रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य में है, न किसी अन्य हिन्दी लेखक के साहित्य मे।

शुक्लजी ने जिस मध्यवर्ग का सम्बन्ध छोटे जमीदारो से जोड़ा है, वह अखिल भारतीय नही है, वह कुछ खास क्षेत्रों की उपज है। वीर भारत ने मानो यह मान लिया है कि सारे भारत मे छोटे जमीदार है और उनके वर्ग का विस्तार है अखिल भारतीय मध्यवर्ग। महाराष्ट्र में रैयतवारी व्यवस्था थी, जमींदारी प्रथा नही थी। बालगंगाधर तिलक भारत को महाराष्ट्र की देन थे। रामचन्द्र शुक्ल तिलकपन्थी थे। तिलक के सन्दर्भ में छोटे जमीदारों को राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रधार कहना और भी हास्यास्पद है। जमीदारी प्रथा सारे भारत में नहीं थी पर सूदखोरी का

चलन सारे भारत में था। शुक्लजी ने अंग्रेजी राज में शहरी महाजनों के फलने-फूलने की बात कही है। वीर भारत तलवार ने इन महाजनों के बारे में चुप्पी साध ली है। शुक्लजी ने इन महाजनों को छोटे जमींदारों की भूमि हथियाते दिखाया है। मार्क्स से लेकर रजनी पाम दत्त तक भारतीय इतिहास के विवेचकों ने यह तथ्य स्वीकार किया है, वीर भारत तलवार ने उसे अस्वीकार किया है। शुक्लजी ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शोषण प्रक्रिया में बनियों और गुमाश्तों की भूमिका पर जोर दिया था। इसे रजनी पाम दत्त ने स्वीकार किया था, वीर भारत ने इस ऐतिहासिक तथ्य को भी अस्वीकार किया है। शुक्लजी अंग्रेजों के अन्याय से क्षुब्ध थे, जलियानवाला बाग के हत्याकाण्ड का विरोध वह कारगर ढंग से करना चाहते थे। वीर भारत इस तरह के क्षोभ से स्वयं तो दूर हैं ही, उन्होंने प्रयत्न किया है कि पाठक को भी शुक्लजी के क्षोभ का पता न लगे।

शुक्लजी कांग्रेस संचालित आन्दोलन में गाँवों की जनता का सिमट आना देख रहे थे, वीर भारत ने इसकी अनदेखी की है। बंगभंग-विरोधी अभियान में शुक्लजी स्वदेशी आन्दोलन की भूमिका देख चुके थे; उन्होंने व्यापारीवर्ग को ललकारा था कि वह विलायत से अपना आयात-निर्यात व्यापार बन्द करे। वीर भारत स्वदेशी आन्दोलन की भूमिका से परिचित हैं पर इस लेख में उन्होंने उसका जिक्र नहीं किया; शुक्लजी ने चुनौती के रूप में विलायत से आयात-निर्यात व्यापार बंद करने की बात कही है, उसे उन्होंने अपने पाठकों से छिपाया है। शुक्लजी कांग्रेस संचालित आन्दोलन के विकल्प की तलाश बराबर करते रहे थे। दो बातें उनके सामने स्पष्ट थीं : किसानों का संगठन किये बिना आन्दोलन सफल नहीं होगा; और औसत जमींदार टैक्स आदि देने के बाद किसान की तरह हो जाते हैं, क्रान्तिकारियों को इन्हें भी अपने संगठन में लेना चाहिए। शुक्लजी की रणनीति साम्राज्यविरोधी मोर्चे को सुदृढ़ बनाने की नीति है। वीर भारत अपने मोर्चे से छोटे जमींदारों को निकाल देते हैं, धनी और मझोले किसानों को निकाल देते हैं; देहात में समाजवादी क्रान्ति का यह कार्यक्रम जनता के साम्राज्य-विरोधी मोर्चे को भीतर से विघटित करने वाला है। वीर भारत के संयुक्त मोर्चे से मध्यवर्ग तो दूर है ही, औद्योगिक सर्वहारावर्ग भी दूर है।

शुक्लजी कांग्रेस संचालित आन्दोलन का विकल्प खोज रहे थे। उनके सामने यह स्पष्ट न था कि औद्योगिक सर्वहारावर्ग किसानों और सभी देशभक्त समुदायों को एकजुट करके सुसंगत रूप से साम्राज्य-विरोधी संग्राम का संचालन कर सकता है। वीर भारत ने स्वयं तो इस औद्योगिक सर्वहारा को अपनी रणनीति से दूर रखा ही है, लेनिन ने जहाँ इस वर्ग का उल्लेख किया है, वहाँ वीर भारत ने लेनिन को उद्धृत करते हुए सर्वहारावर्ग संबंधी अंश हटा दिया है। शुक्लजी ने भारत के स्वाधीनता आन्दोलन को विश्व साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन के अंग के रूप में देखा था। संसार के क्रान्तिकारी आन्दोलन से भारत के स्वाधीनता आन्दोलन को वीर भारत ने स्वयं तो दूर रखा ही है, लेनिन ने भारत के संदर्भों में जहाँ इन आन्दोलनों

का जिक्र किया है, वहाँ लेनिन को उद्धृत करते समय उन्होंने उक्त आन्दोलनों से संबंधित अंश हटा दिये हैं। यह सारी कार्रवाई अनजान में संपन्न नहीं की गयी। वह वामपंथी अवसरवाद की सुनियोजित योजना का परिणाम है। इस योजना का उद्देश्य होता है जनवादी आन्दोलन को भीतर से विघटित करना। इस योजना को अमल में लानेवालों की विशेषता है : सतह पर क्रान्तिवाद, सतह के नीचे पराजयवाद। घोर दरिद्रता के दलदल में फँसे नंग-धड़ंग रैयतों के बारे में क्रान्तिकारी भाषण देने का फल क्या निकला? यही कि अंग्रेजी राज से पहले यहाँ की समाज व्यवस्था में कोई परिवर्तन न हुआ था। काले कानूनों से क्षुब्ध मध्यवर्ग, खिलाफत से बेचैन मुसलमान, महँगाई और छँटनी के मारे मजदूर, सामंती जुल्म और अंग्रेजी राज के छलबल से क्रोधित किसान—इस ओजस्वी वक्तृता से परिणाम क्या निकला? यही कि स्वाधीनता आन्दोलन का मुख्य आधार शहरी मध्यवर्ग था, शहरी मध्यवर्ग का आधार छोटा भूस्वामी वर्ग था और अंग्रेजी राज का जो सामंती आधार पहले था, वह स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी कायम रहा। ऊपर से क्रान्तिवाद, भीतर से पराजयवाद—समकालीन वामपंथी अवसरवाद का वास्तविक रूप यह है।

८. व्यक्तिवाद और नयी शिक्षा

शुक्लजी का घेराव करने के लिए वीर भारत तलवार ने मोतीलाल नेहरू और उनके परिवार को भी तलब किया है। संदर्भ है शुक्लजी द्वारा "व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति को असहयोग आन्दोलन के समर्थन का एक आधार बतलाना"। (१३)। यह प्रवृत्ति सामंती भारत में प्रगतिशील भूमिका निबाह रही थी। इसका सामाजिक आधार क्या था? "सभी देशों में पूँजीपतिवर्ग ही व्यक्तिवादी मूल्यों और विचारों का सबसे मुख्य आधार रहा है।" (१३)। क्या यह आधार भारत में था? नहीं। भारतीय पूँजीवाद की सीमित प्रगतिशील भूमिका यहाँ पूरी तरह समाप्त हो जाती है। "सभी देशों में" का अर्थ है, भारत को छोड़कर यूरुप के देशों में, अथवा एशिया को छोड़कर केवल पश्चिमी यूरुप के देशों में। ब्रिटेन, फ्रान्स और जर्मनी में पूँजीपतिवर्ग व्यक्तिवादी मूल्यों और विचारों का सबसे मुख्य आधार रहा है। "पर भारतीय पूँजीपतिवर्ग, १९२१ तक, किसी भी दृष्टि से यूरोपीय समाजों के पूँजीपतिवर्ग जैसा व्यक्तिवादी न था।" उन जैसा न सही अपने ढंग का व्यक्तिवादी रहा हो? सो भी नहीं। "बाकी भारतीय समाज की ही तरह भारतीय पूँजीपतिवर्ग भी सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ, धर्मभीरु और रूढ़िवादी था।" (उप०)। यह पूँजीपतिवर्ग अंग्रेजी राज में पैदा हुआ पर था पूरा सामंतवादी! अंग्रेजों से उसने कुछ न सीखा, पुराने सामंतों की तरह दकियानूसी बना रहा! न पूँजीपतिवर्ग से कोई आशा थी, न शेष भारतीय समाज से। सभ्यता का प्रकाश कौन फैला रहा था? अंग्रेज! यदि भारत में अंग्रेजी राज कायम न

होता तो यह नया प्रकाश यहाँ कैसे फैलता? वर्णाश्रम धर्म की गोद में पली सामंती सांस्कृति की आचार संहिता से प्रभावित एक राष्ट्रवादी धारा पाश्चात्य शिक्षा के मुकाबले अपने देश की सामंती मान-मर्यादा को ज्यादा पवित्र मानती थी।" (उप०)। वीर भारत के लिए भारत में सामंत-विरोधी किसी संस्कृति का विकास नहीं हुआ, यहाँ के दर्शन, विज्ञान, साहित्य पर समान रूप से वर्णाश्रम धर्म वाली संस्कृति हावी थी। भारतीय मानस को इस जकड़बंदी से मुक्त किया अंग्रेजों ने अपनी सभ्यता के प्रसार से। "सोचने की बात है, १९२०-२१ में भारतीय समाज किस तरह का समाज था और उसमें पाश्चात्य शिक्षा कौन-सी भूमिका अदा कर रही थी?" (उप०)। "उस युग के समस्त प्रगतिशील साहित्य और चिन्तन का लक्ष्य सामंती मूल्यों और परंपराओं के बंधनों के खिलाफ संघर्ष" करना और नये मूल्यों तथा संबंधो को कायम करना ही हो सकता था, न कि "वैयक्तिक स्वतंत्रता को पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव बताकर सामंती बंधनों और रूढ़ियों की सुरक्षा करना"। (उप०)।

सामंती बंधन और रूढ़ियाँ कहीं से शिथिल नहीं हैं, उन्हें ध्वस्त करने वाली शक्तियाँ भारत में नहीं हैं। समस्त प्रगतिशील साहित्य और चिन्तन का लक्ष्य सामंती मूल्यों और परंपराओं के खिलाफ संघर्ष करना है। इस संघर्ष का साधन है पाश्चात्य शिक्षा। अंग्रेजी राज के बिना पाश्चात्य शिक्षा का चलन असंभव था। समस्त प्रगतिशील साहित्य और चिन्तन अंग्रेजी राज का समर्थन करेगा या नहीं? वीर भारत तलवार यह तो जानते हैं कि अंग्रेजों ने भारत में नये जमींदारवर्ग को जन्म दिया पर यह नहीं जानते कि इस वर्ग के कारण सामंती बंधन और मजबूत हुए, चमारों को चमार बनाये रखकर उनसे बेगार कराने में इसी वर्ग को लाभ था, मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा के संप्रदायवादियों का पृष्ठपोषक यही वर्ग था। जो अंग्रेज यहाँ आधुनिक शिक्षा प्रसार का दावा करते थे, वही करोड़ों किसानों को निरक्षर रखकर उनमें मौलवियों और पुरोहितों द्वारा अन्धविश्वासों की जड़ जमाते थे।

शिक्षित मध्यवर्ग में "एक ऊपरी तबका ऐसा था जो अँगरेजी राज के मित्रों में था," मोतीलाल नेहरू "असहयोग आन्दोलन से कुछ वर्ष पहले तक अँगरेजी राज के मित्रों में थे"। (१४)। यह स्वाभाविक था। बड़े वकील बड़े जमींदारों और ताल्लुकेदारों के मुकद्दमे लेकर ही धन कमा सकते थे और ये सब अंग्रेजों के मित्र थे। मोतीलाल नेहरू ने विदेश यात्रा की, बिरादरी ने उनसे प्रायश्चित करने को कहा। उन्होंने इन्कार कर दिया। "नेहरू का यह व्यक्तिवाद सामाजिक अनुशासन के विरुद्ध था। यह व्यक्तिवाद अच्छा था या बुरा?" (१४)। मानों शुक्लजी इंग्लैन्ड जाकर शिक्षा पाने के विरुद्ध हों। मानों स्वयं "तिलक लंदन में एक कानूनी मुकदमा लड़ने" (११) के बाद भारत लौटने पर प्रायश्चित करने को बाध्य हुए हों! मानों अंग्रेजी राज कायम होने से पहले भारतवासियों ने विदेश यात्रा की ही न हो!

"नेहरू-परिवार की पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त स्त्रियों ने १९०९ में इलाहाबाद में स्त्रियों का संगठन बनाया, स्त्री अधिकारों के लिए आन्दोलन चलाया और एक पत्रिका निकाली—'स्त्री-दर्पण'। इस पत्रिका में अधिकांश लेख परंपरागत सामाजिक-नैतिक अनुशासन के खिलाफ होते थे जिनमें स्त्रियों को भी इन्सान समझने और उन्हें बराबर के अधिकार और अवसर देने की, उनके अपने व्यक्तित्व को मान्यता देने की, माँग रहती थी। यह सब रामचंद्र शुक्ल के सामने ही हो रहा था। वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए चल रहे ये सारे संघर्ष सही थे या गलत?" (१४)। अर्थात् रामचंद्र शुक्ल स्त्री-शिक्षा के विरोधी थे, वह स्त्रियों को इन्सान न समझते थे!

असहयोग आन्दोलन के संदर्भ में शुक्लजी ने जिस व्यक्तिवाद की आलोचना की थी, उसे अनेक संदर्भों में स्थापित करके वीर भारत तलवार ने शुक्लजी को व्यापक रूप से प्रतिक्रियावादी सिद्ध किया। लेकिन असहयोग आन्दोलन के संदर्भ में भी शुक्लजी ने व्यक्तिवाद के बारे में कहा क्या था? "शुक्लजी ने पाश्चात्य शिक्षा को कोसते हुए लिखा कि इसने 'हमारे नवयुवकों को वैयक्तिक स्वतंत्रता के विचारों से भर दिया' जो 'सामाजिक एवं नैतिक अनुशासन के संपूर्ण बोध को निष्प्रभ कर देते हैं।'" (१३)। वीर भारत ने "जो" के द्वारा दो वाक्यांशों को जोड़ा है। इनके बीच में शुक्लजी ने इन विचारों की एक विशेषता बतायी थी। वीर भारत ने उस विशेषता का उल्लेख अनावश्यक समझा। शुक्लजी का पूरा वाक्य इस प्रकार है: "पाश्चात्य शिक्षा ने हमारे नवयुवकों के मस्तिष्क को वैयक्तिक स्वतंत्रता के विचारों से भर दिया जो **अधिकांश स्थितियों में इतने अस्पष्ट एवं असंतुलित हैं** कि वे सामाजिक एवं नैतिक अनुशासन के संपूर्ण बोध को निष्प्रभ कर देते हैं।" ('दस्तावेज', पृ० ५)। शुक्लजी ने वैयक्तिक स्वतंत्रता के उन विचारों का विरोध किया है जो अधिकांश स्थितियों मे अस्पष्ट और असंतुलित हैं। उनके ऐसा लिखने से ही जाहिर है कि वैयक्तिक स्वतंत्रता के विचार स्पष्ट और संतुलित भी हो सकते हैं। अधिकांश स्थितियों में अस्पष्ट और असंतुलित विचारों की बात हटाकर वीर भारत ने शुक्लजी के सापेक्ष विरोध को निरपेक्ष विरोध बना दिया। अंग्रेजी राज से संबद्ध पाश्चात्य शिक्षा के समर्थन के लिए, शुक्लजी को आधुनिक शिक्षा का आमतौर से, स्त्री-शिक्षा का खासतौर से, विरोधी सिद्ध करने के लिए, शुक्लजी के वाक्य से उक्त अंश निकालना जरूरी था।

तिलक जब डॅकन कालेज के छात्र थे तब उन्हें मिल्टन, शेली और बायरन का काव्य प्रोफेसर वर्ड्स्वर्थ ने पढ़ाया। यह प्रोफेसर वर्ड्स्वर्थ प्रकृति प्रेमी कवि वर्ड्स्वर्थ के पोते थे। प्रोफेसर शूट ने उन्हें इतिहासकार गिबन, राजनीतिज्ञ बर्क और दार्शनिक ह्यूम के विचारों का ज्ञान कराया। जो कुछ पढ़ाया जाता था, उसके अतिरिक्त वह स्वयं बहुत कुछ पढ़ते थे। "वह अपना काफी समय राजनीति और दर्शनशास्त्र के लेखकों, विशेष रूप से हेगल, कान्ट, स्पेन्सर, मिल, बेन्थम, वोल्तेयर और रूसो के अध्ययन में लगाते थे।" (Tahmankar, Lokamanya Tilak,

पृ० १६)। कालेज में उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने कानून का विषय लिया था। १८८० में अपने मित्रों के सहयोग से उन्होंने जो शिक्षा संस्था कायम की, उसका नाम 'न्यू इंग्लिश स्कूल' था। इसके छात्र वैसे ही मैट्रिक की परीक्षा पास करते थे जैसे सरकारी स्कूलों के। १८८२ में शिक्षा आयोग के अध्यक्ष सर विलियम हन्टर ने इस स्कूल का काम देखकर लिखा था, "पूरे भारत में अभी तक मैंने इस तरह का एक भी संस्थान नहीं देखा जिसकी तुलना इस संस्था से की जा सके। यद्यपि इस संस्था को सरकार से कोई सहायता नहीं मिलती पर वह इस देश के सरकारी हाई स्कूलों से ही होड़ करे और होड़ में जीत जाये, ऐसा नहीं है; वह दूसरे देशों के स्कूलों का भी मजे में मुकाबला कर सकता है।" (उप०, पृ० २४)। तिलक ने अपने मित्रों के साथ डॅकन एजूकेशनल सोसायटी की स्थापना की। न्यू इंग्लिश स्कूल निजी संस्थान से बदलकर सार्वजनिक संस्थान बना, तब उसे यह नाम दिया गया। १८८५ में इस सोसायटी ने फर्गुसन कालेज स्थापित किया। इस कालेज के बारे में तम्हनकर ने लिखा है, "फर्गुसन कालेज के संवर्धकों को विश्वास था कि भारतीय समाज को सर्वाधिक आवश्यकता पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार की है। यह ज्ञान सुधार कार्य में सहयोगी होगा और राष्ट्रीय पुनर्जीवन का साधन बनेगा।" (उप०, पृष्ठ ३३)।

मजे की बात है कि पाश्चात्य शिक्षा के विरोधी के रूप में वीर भारत ने तिलक का नाम लिया है, गाँधी का नहीं। इस सम्बन्ध में डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने लिखा है, "होमरूल के दिनों में जब वे स्वराज्य के पैगम्बर के रूप मे देश भ्रमण करते थे तो उन्होंने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि देश में बौद्धिक विमोचन और राजनीतिक प्रबोध का एक कारण शिक्षा की अंग्रेजी पद्धति है। इस विषय में उनके विचार महात्मा गाँधी से भिन्न थे। महात्मा गाँधी, विशेषत: 'हिन्द स्वराज्य' में, पाश्चात्य सभ्यता के कठोर आलोचक जान पड़ते हैं। असहयोग आन्दोलन के दिनों में गाँधी ने अंग्रेजी शिक्षा का स्पष्ट और निर्मम विरोध किया।" (डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, **लोकमान्य तिलक : जीवन और दर्शन**, आगरा, १९८२, पृ० २४)। वीर भारत के चक्रव्यूह में शुक्लजी असहयोग आन्दोलन और पाश्चात्य शिक्षा के विरोधी हैं। गाँधीजी असहयोग आन्दोलन के समर्थक हैं, अतः उन्हें पाश्चात्य शिक्षा का समर्थक भी होना चाहिए। शुक्लजी तिलकपंथी थे, अत: तिलक को भी पाश्चात्य शिक्षा का विरोधी होना पड़ेगा। उल्लेखनीय है कि १९०१ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्ति निकेतन में अपनी 'ब्रह्मचर्य' पाठशाला कायम की थी।

असहयोग आन्दोलन से १५ साल पहले शुक्लजी ने ऐडिसन के उन निबन्धों का अनुवाद किया था जिनमें कल्पना के रूपों और उसकी शक्ति का विवेचन किया गया था। जिस साल असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ, उसी साल शुक्लजी का किया हुआ हेकल की पुस्तक का अनुवाद प्रकाशित हुआ। विकासवाद पर हेकल की पुस्तक का विरोध यूरुप का समस्त पादरी समुदाय कर रहा था। ये रामचन्द्र शुक्ल

पाश्चात्य शिक्षा के विरोधी थे ! शुक्लजी अच्छी तरह जानते थे कि असहयोग आन्दोलन में परस्पर विरोधी विचारधाराओं के लोग थे। इनमें एक ओर ऐसे लोग थे जो "यूरोप के किसी नवीनतम उन्माद को मानव प्रगति का चरम बिन्दु समझकर स्वीकार कर लेते हैं और उस प्रत्येक वस्तु का सफाया कर देना चाहते हैं जो अतीत से उपलब्ध हुई है," दूसरी ओर उसमें ऐसे लोग भी हैं जो "प्राचीन भारत के स्वप्नचिन्तन में निरत हैं एवं पुरातन अवशेषों की प्रत्येक वस्तु के पुनरुत्थान का विचार कर रहे हैं।" इस आन्दोलन में ऐसे लोग हैं जो "देश के प्रति भक्ति के आधुनिक बोध से ओत-प्रोत हैं", उसमें ऐसे लोग भी हैं जो "जाति, धर्म या मत के आधार पर एकता के विचारों को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं।" ('दस्तावेज़', पृ० ७)। शुक्लजी ने उन लोगों का विरोध किया है जो पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारत की प्राचीन उपलब्धियों का तिरस्कार करते हैं, उन्होंने पुनरुत्थानवादियों का विरोध भी किया है जो जाति, धर्म या मत के आधार पर सामाजिक एकता कायम करना चाहते हैं। पुनरुत्थानवाद का सीधा सम्बन्ध सामंती अवशेषों से है। शुक्लजी उसका विरोध करते हैं, यह उनके सामंत विरोधी दृष्टिकोण का प्रमाण है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य में जो युग प्रवर्तन किया, उसका सम्बन्ध शुक्लजी ने नयी शिक्षा से जोड़ा था। इस प्रकार : "नयी शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाजहित आदि की नयी उमंगें उत्पन्न हो रही थीं।...बंग देश मे नये ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नयी रुचि और भावना का प्रतिबिंब आने लगा था। पर हिन्दी साहित्य अपने पुराने ढर्रे पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया।" (**इतिहास**, पृ० ५३५)। माना जाता है कि नयी शिक्षा का प्रभाव सबसे पहले और सबसे ज्यादा बंगाल पर पड़ा। शुक्लजी ने नयी शिक्षा का और बंगला साहित्य पर उसके प्रभाव का सकारात्मक मूल्यांकन किया है और उसके संदर्भ में भारतेन्दुकालीन साहित्य को प्रस्तुत किया है। नयी शिक्षा और अंग्रेजों की शिक्षानीति एक ही चीज नहीं हैं। शुक्लजी के लिए जिस शिक्षा से मन में देशहित और समाजहित की उमंगें उठें, वह नयी शिक्षा है। अंग्रेजों ने जो शिक्षानीति निर्धारित की थी, उसका उद्देश्य दूसरा था।

भारतेन्दु के साहित्य में एक ओर अंग्रेजी राज और उसके समर्थकों की आलोचना थी, दूसरी ओर उसमें रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का विरोध भी था। भारतेन्दु-साहित्य के साम्राज्यविरोधी और सामंतविरोधी, दोनों पक्षों का उल्लेख शुक्लजी ने किया है। **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** प्रहसन में 'धर्म और उपासना के नाम से समाज में प्रचलित अनेक अत्याचारों का जघन्य रूप दिखाते हुए उन्होंने राजा शिवप्रसाद को लक्ष्य करके खुशामदियों और केवल अपनी मानवृद्धि की फिक्र में रहनेवालों पर भी छींटे छोड़े। भारत के प्रेम में मतवाले,

देशहित की चिन्ता में व्यग्र, हरिश्चन्द्रजी पर सरकार की जो कुदृष्टि हो गई थी उसके कारण बहुत कुछ राजा साहब ही समझे जाते थे।" (उप०, पृ० ५४७-४८)। भारतेन्दु के भक्तिपरक साहित्य के साथ शुक्लजी ने उनके रूढ़िविरोधी पक्ष का उल्लेख फिर इस प्रकार किया था, "एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नयी भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाजसुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे।" (उप०, पृ० ५५०)।

शुक्लजी साहित्य के सामंतविरोधी पक्ष पर ध्यान तो देते ही हैं, बहुत बड़ी बात यह है कि वह सामंतविरोध की शुरूआत अंग्रेजी राज की स्थापना से, अथवा भारतेन्दु से, नही मानते। भारतेन्दु ने साहित्य को हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। "इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया।" (उप०, पृ० ५३५)। शुक्लजी के इतिहास में पहले भक्तिकाल है, फिर रीतिकाल है। यह रीतिकाल ही जीवन और साहित्य के बीच विच्छेद का काल है। सामंती संस्कृति और सामंती अभिरुचि का साहित्य है रीतिवादी साहित्य। शुक्लजी ने इस साहित्य का विरोध किया था। उनका विरोध सम्पूर्ण और निरपेक्ष नही है, और न यह आवश्यक था। पर यह सही है कि शुक्लजी ने रीतिवादी साहित्य का जितना विरोध किया है, उतना हिन्दी साहित्य के अन्य किसी इतिहासकार ने नहीं। व्यवहार मे उनका सामंतविरोध प्रत्यक्ष है। शुक्लजी की नुक्ताचीनी करनेवाले जितने विद्वान् हैं, वे कही प्रत्यक्ष, कही अप्रत्यक्ष रूप से, रीतिवाद का समर्थन अवश्य करते हैं।

वीर भारत तलवार ने शुक्लजी की विचारधारा को सुसंगत रूप से जनविरोधी सिद्ध करने के उद्देश्य से लिखा, "उन्होंने सिर्फ रूसी जनता को ही मूर्ख नहीं कहा, वे नाथ सिद्धों की अनुयायी जनता, गाँधी के असहयोग आन्दोलन के पीछे जानेवालों और छायावाद के समर्थकों को भी मूर्ख या अनपढ़ समझते थे। (इसीलिए निराला ने उन पर 'हमारे कालेज का बचुआ, जब से एफ० ए० फेल हुआ' कविता लिखकर शुक्लजी पर जवाबी हमला किया था)। जैसे नाथो-सिद्धों, गाँधीवादियों और छायावादियों से उनका विरोध आवेशजन्य न था, वैसे ही रूस की नीची श्रेणियों की क्रान्ति से उनका विरोध आवेशजन्य न था।" (२१)। नाथों-सिद्धों का रहस्यवाद, गाँधीवाद, छायावाद, सब वादों के विरोध का उल्लेख है, केवल रीतिवाद के विरोध का उल्लेख नहीं है! इस विरोध के उल्लेख मात्र से वीर भारत की सारी मोर्चाबन्दी ध्वस्त हो जाती। शुक्लजी ने दरबारी कवियों के अत्युक्तिपूर्ण, अश्लील शृंगार वर्णन की आलोचना करते हुए लिखा था, "इसका कारण जनता की रुचि नही, आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।" (इतिहास, पृ० २९१)। जनता की रुचि की पहचान जैसी शुक्लजी को थी, वैसी साहित्य के अन्य इतिहासकारों को नहीं रही।

गीतों की परम्परा का विवेचन करते हुए शुक्लजी ने लिखा था, "लिखित रूप में आकर उनका रूप पण्डितों की काव्य-परम्परा की रूढ़ियों के अनुसार बहुत कुछ बदल जाता है। इससे जीवन के कैसे-कैसे योग सामान्य जनता का मर्म स्पर्श करते आये हैं और भाषा की किन-किन पद्धतियों पर वे अपने गहरे भावों की व्यंजना करते आये हैं, इसका ठीक पता हमें बहुत काल से चले आते हुए मौखिक गीतों से ही लग सकता है।" (उप०, पृ० २०१)। जैसे जनता की रुचि राजा-महाराजाओं की रुचि से भिन्न थी, वैसे ही वह पण्डितों की रुचि से भिन्न थी। पण्डितों के पास हैं काव्य-परम्परा की रूढ़ियाँ, सामान्य जनता के पास है मर्मस्पर्श करनेवाले जीवन के योग, गहरे भावों की व्यंजना करनेवाली भाषा की पद्धतियाँ। इसीलिए "देश की अन्तर्वर्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिए ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह अत्यन्त आवश्यक है।" (उप०)। लोक गीतों के बारे में यह सब सोचनेवाले शुक्लजी के लिए यह कहना अत्यन्त स्वाभाविक था कि "सूरसागर किसी चली आती हुई गीत काव्य-परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।" (उप०, पृ० २००)।

सूरसाहित्य में जीवन और साहित्य के बीच विच्छेद नहीं है, रीतिवादी साहित्य में यह विच्छेद है। इस विच्छेद को दूर किया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने। इस तरह भारतेन्दुकालीन साहित्य पुराने लोकवादी साहित्य का नया विकास सिद्ध होता है।

शुक्लजी ने रूसी क्रान्ति का विरोध किया, यह किसी जनविरोधी विचारधारा का परिणाम नहीं है। लेकिन वीर भारत तलवार 'फिलहाल' नाम के पत्र में निरन्तर सोवियत संघ का जो विरोध कर चुके हैं, वह अवश्य जनविरोधी विचारधारा का परिणाम है। विश्व पैमाने पर साम्राज्यवाद और सोवियत संघ का अन्तर्विरोध विश्व राजनीति का मुख्य अन्तर्विरोध पहले भी था, आज भी है। जो लोग सोवियत संघ को शोषक साम्राज्यवादी देश कहकर विश्वराजनीति के मुख्य अन्तर्विरोध पर पर्दा डालते हैं, नवस्वाधीन देशों और स्वाधीनता आन्दोलनों को सोवियत संघ से दूर ठेलने की कोशिश करते हैं, वे वस्तुगत रूप से अमरीकी साम्राज्यवाद की मदद करते हैं।

शुक्लजी ने छायावाद का विरोध किया, उन्होंने उसका समर्थन भी किया। निरालाजी ने शुक्लजी पर व्यंग्य कविता लिखी और उन्होंने उन्हें श्रद्धाञ्जलि भी अर्पित की :

अमा निशा थी समालोचना के अम्बर पर
उदित हुए जब तुम हिन्दी के दिव्य कलाधर।

वीर भारत इस कविता का उल्लेख नही करते।

शुक्लजी के विरोधी रीतिवाद के समर्थक हैं तो वे तन्त्रमन्त्र, योगसम्बन्धी चमत्कारों के समर्थक भी हैं। शुक्लजी ने "वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी जोगियों" की बात कही थी। वीर भारत ने इनका समास बनाकर "नाथसिद्धों"

की रचना की। शुक्लजी ने इनकी सकारात्मक भूमिका भी स्वीकार की थी। "अर्थशून्य बाहरी विधिविधान, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि की निस्सारता का संस्कार फैलाने का जो कार्य वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी जोगियों के द्वारा हुआ, उसका उल्लेख हो चुका है।" (इतिहास, पृ० ७४)। अर्थशून्य बाहरी विधिविधान —धर्म-सम्बन्धी रूढ़िवाद की यही विशेषता है। सिद्ध और नाथपंथी योगी इसे निःसार मानते थे, शुक्लजी भी उसे निःसार मानते थे। लेकिन ये लोग सिद्ध और योगी थे अपने तन्त्र-मन्त्र के कारण, योगबल से करामात और चमत्कार दिखाने के कारण। शुक्लजी ने इस तन्त्र-मन्त्रवाद का विरोध करते हुए लिखा था, "सामान्य अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित जनता पर इनकी बानियों का प्रभाव इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि वह सच्चे शुभ कर्मों के मार्ग से तथा भगवद् भक्ति की स्वाभाविक हृदय पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मन्त्र, तन्त्र और उपचारों में जा उलझे और उसका विश्वास अलौकिक सिद्धियों पर जा जमे?" (उप०, पृ० ७५)।

१ जून, १९८६ के 'टाइम्स आफ इण्डिया' के इतवारी परिशिष्ट में जे० टी० नाम से एक पत्रकार ने कमलापति त्रिपाठी पर अपने रेखाचित्र की समाप्ति इस वाक्य से की है : पण्डितजी अन्ततः कौन-सा रास्ता पकड़ेंगे, "शायद उनके ज्योतिषी और तान्त्रिक ही जानते हैं।" गांधीजी भक्त थे, वैष्णव थे, तन्त्रमन्त्र से दूर थे। यह पूंजीवादी नेतृत्व के सांस्कृतिक ह्रास का चिह्न है कि उस पर उनके बाद, कांग्रेस के भीतर और बाहर, तन्त्र-मन्त्रवाद का प्रभाव पड़ा। शुक्लजी भक्ति के समर्थक थे, तन्त्र-मन्त्रवाद के विरोधी थे। यह हिन्दी आलोचना में ह्रास का चिह्न है कि उनके बाद अनेक अशिक्षित या अर्धशिक्षित लेखक तन्त्र-मन्त्रवाद का समर्थन करने लगे।

वीर भारत तलवार को "नाथसिद्धों" से इतना ही वास्ता है कि वह उन्हें मोतीलाल नेहरू के साथ शुक्लजी के विरुद्ध पेश कर सकते हैं। उनकी बुनियादी मान्यता यह है, "बाकी भारतीय समाज की ही तरह भारतीय पूंजीपति वर्ग भी सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ, धर्मभीरु और रूढ़िवादी था।" (१३)। इस पूंजीपति वर्ग का अभ्युदय हुआ अंग्रेजी राज में। अंग्रेजी राज से पहले क्या था? "वर्णाश्रम धर्म की गोद में पली सामन्ती संस्कृति की आचार संहिता।" (उप०)। सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन के बिना यह आचार संहिता कैसे बदल जायेगी? अंग्रेजी राज में पाश्चात्य सभ्यता का प्रकाश फैला; उसके पहले भारत सामन्त-कालीन अन्धकार में डूबा हुआ है। उस अन्धकार में नाथ, सिद्ध या कोई भक्त सामन्तविरोधी कैसे हो जायेगा? वीर भारत अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका स्वीकार करते हैं; उसी परिमाण में वह इस राज से पहले भारतीय साहित्य की सामन्तविरोधी भूमिका अस्वीकार करते हैं। वह पूंजीपति वर्ग को उतना ही पिछड़ा हुआ और रूढ़िवादी मानते हैं जितना बाकी भारतीय समाज को। और हर देश, हर काल में जनता को मूर्ख कहने का आरोप लगाते हैं शुक्लजी पर! पूंजीवाद पिछड़ा हुआ और रूढ़िवादी है तो पूंजीवादी नेतृत्व में जो आन्दोलन चलेगा, वह

भी जनता को पिछड़ा हुआ और रूढ़िवादी बनाये रहेगा। वीर भारत के लिए पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग के बीच मध्यवर्ग का अस्तित्व नहीं है। इसलिए चन्द्रशेखर आजाद से शुक्लजी के सम्बन्ध का विवरण पढ़कर वह मध्यवर्ग की साम्राज्य विरोधी चेतना के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकालते। उनके लिए मध्यवर्ग छोटे ज़मींदारों की देन है। शेष सामन्त वर्ग के साथ ये जमींदार भी ब्रिटिश साम्राज्य का आधार हैं। इसलिए राजनीति और साहित्य में इस वर्ग की भूमिका भी मूलतः प्रतिक्रियावादी होगी। तब अंग्रेजी राज को छोड़कर और कौन प्रगतिशील है?

वीर भारत तलवार की कुछ मान्यताएँ काफी जल्दी-जल्दी बदलती रही हैं। 'राष्ट्रीय आन्दोलन और रामचन्द्र शुक्ल' नाम के लेख में भूस्वामियोंवाला मध्यवर्ग बहुत महत्त्वपूर्ण है। साल-भर पहले के एक लेख में ('आलोचना', ७०) पूंजीपतियों वाला मध्यवर्ग महत्त्वपूर्ण है। इस लेख का शीर्षक है 'हिन्दी प्रदेश में समाजवादी चेतना का प्रसार'। इसमें उन्होंने बताया है कि 'जनतान्त्रिक बुर्जुआ बुद्धिजीवियों में' दादा भाई नौरोजी, रमेशचन्द्र दत्त आदि तो हैं ही, इनके साथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी हैं। जिन मुद्दों को दादाभाई नौरोजी आदि ने उठाया था, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी "अंग्रेजी राज की आलोचना करते हुए लगभग इन्हीं मुद्दों को उठाया था।" (उप०, पृ० ७१)। राधामोहन गोकुलजी इसी क्रम में "स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप देशी व्यापार उद्योग की कुछ सुधरी हालत पर खुशी प्रकट करते हैं, भेद मूलक सीमा शुल्कों को हटाकर भारतीय व्यापार उद्योग के विकास का मार्ग साफ करने की माँग करते हैं, अंग्रेजों की दलाली के बजाय अपने स्वतन्त्र उद्योग खड़े करने को कहते हैं। और व्यापारी और पूंजीपतिवर्ग को सफलता के लिए बुद्धिमान बनने को कहते हैं। य सारी बातें भारत की बुर्जुआ जनतान्त्रिक चेतना की माँगें थी।" (उप०, पृ० ७३)।

स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप, देशी व्यापार-उद्योग की हालत थोड़ी-सी सुधरी थी। भारत में बुर्जुआवर्ग था, उसके साथ बुर्जुआ जनतान्त्रिक चेतना थी। अक्सर मध्यवर्ग के शिक्षित लोगों का एक समुदाय पूंजीपतिवर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, वीर भारत ने पूंजीपतिवर्ग से मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व कराया है! "अपने अधिकारों के लिए बेचैन शिक्षित मध्यवर्ग के बुर्जुआ प्रतिनिधियों ने साम्राज्यवाद के खिलाफ अपना जनाधार व्यापक करने के लिए असन्तुष्ट मजदूर किसानों को संगठित करने का फैसला किया। साम्राज्यविरोधी संघर्ष को व्यापक बनाने के लिए मजदूर वर्ग को संगठित करने की योजना विपिनचन्द्र पाल और तिलक की थी।" (उप०, पृ० ७५)। केवल शहरी मध्यवर्ग नहीं, राष्ट्रीय आन्दोलन का व्यापक जनाधार था; तिलक-जैसे नेता उस जनाधार को व्यापक बनाने के लिए प्रयत्नशील थे।

वीर भारत ने बतलाया था कि जो मध्यवर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल था, उसके दो हिस्से थे। एक था "निम्न और साधारण मध्यवर्ग, जो किसान-

मजदूरों से बहुत दूर न था," दूसरा था "उच्च मध्यवर्ग, जिसके हाथों में आन्दोलन का नेतृत्व था, लेकिन जो किसान-मजदूरों से कोई खास सहानुभूति न रखता था।" (उप०)। विपिनचन्द्र पाल और तिलक कांग्रेस के नेता थे, अवश्य उच्च-मध्यवर्ग के सदस्य रहे होंगे। इस उच्च-मध्यवर्ग के भी दो हिस्से थे। किसानों को संगठित करने का प्रयास मदनमोहन मालवीय ने भी किया था। "पाल और तिलक गरमदली कांग्रेसी थे, मालवीय नरमदली कांग्रेसी थे।" (उप०)। वीर भारत ने तीनों को "बुर्जुवा राष्ट्रवादी" कहा है पर स्पष्ट है, बुर्जुआ राष्ट्रवाद नरम और गरम दो किस्मों का था। गरम किस्म का राष्ट्रवाद मजदूरो को संगठित करके ब्रिटिश सरकार को झुकाना चाहता था। "१९१८-१९ में देश के विभिन्न हिस्सों में बम्बई, मद्रास, कलकत्ता और कानपुर में मजदूरों की हड़तालों की जो लहर चली, उन मजदूरों को सम्बद्ध करने की भूमिका बहुत-कुछ तिलकपन्थियों ने निभायी थी।" (उप०)। 'तिलकपन्थी' शब्द की व्यंजना यहाँ दूसरी तरह की है। मुख्य बात यह है कि तिलकपन्थी कार्यकर्ता राष्ट्रीय आन्दोलन का जनाधार व्यापक बना रहे थे।

"लेकिन मजदूर-किसानों को संगठित करने की दिशा में कांग्रेस का नेतृत्व इसलिए नही बढ़ा कि उसे मजदूर-किसान वर्गों के अधिकारों में निष्ठा थी, बल्कि इसलिए बढ़ा कि मजदूर-किसानों के बल पर ही वह अपने वर्गीय हितों की रक्षा कर सकता था।" (उप०)। मजदूरों और किसानों के प्रति निष्ठा न सही, पूँजीपतिवर्ग के हितों के प्रति निष्ठा तो थी। इस वर्ग के हित साम्राज्यवाद के हितों से टकराते थे। अपने वर्गीय हितों की रक्षा के लिए कांग्रेसी नेतृत्व मजदूरों और किसानों को संगठित करने की दिशा में बढ़ा। "मजदूर किसानों के संगठन बुर्जुवा राष्ट्रवाद के हाथों में साम्राज्यवाद के साथ सौदेबाजी के लिए मोहरे थे।" (उप०)। मान लिया मोहरे थे पर दूसरे लेख से ये मोहरे गायब कैसे हो गये?

'हिन्दी प्रदेश में समाजवादी चेतना का प्रसार', 'आलोचना' में प्रकाशित वीर भारत तलवार के इस लेख में पूंजीपतिवर्ग है, मजदूरवर्ग है, मध्यवर्ग है; जमींदार और किसान कुछ दूर हैं। समाजवादी चेतना के प्रसार का आधार जमींदार और किसान तो हो नही सकते, पूँजीपतिवर्ग और मजदूरवर्ग की चर्चा वाजिब है। लेकिन स्वाधीनता आन्दोलन में मजदूरवर्ग जनवादी क्रान्ति के कार्य पूरे करता है, समाजवादी क्रान्ति के नही। वीर भारत ने गंगाधर पन्त के एक लेख "अवध के जमींदार और काश्तकार" का हवाला देते हुए उनसे राधामोहन गोकुलजी की तुलना की है। "जैसे पन्त किसानों के शुभचिन्तक थे, वैसे ही राधामोहनजी मजदूरों के। लेकिन पन्त के सामने यह स्पष्ट न था कि जमीदारी अत्याचार और शोषण के खिलाफ किसान सगठित होकर संघर्ष कर सकते हैं। राधामोहनजी के सामने भी यह स्पष्ट न था कि पूँजीपतिवर्ग की स्वार्थपरता और शोषण के खिलाफ मजदूर-वर्ग संवद्ध होकर संघर्ष चला सकता है। न गंगाधर पन्त जमींदारी प्रथा का अतिक्रमण चाहते हैं, न राधामोहन पूंजीवाद का।" (उप०, पृ० ७३)। बड़े जमींदार

साम्राज्यवाद के सामाजिक आधार हैं, साम्राज्यवाद से राष्ट्रीय पूंजीपतियों का अन्तर्विरोध है। दोनों के शोषण में फर्क है। जमींदारी प्रथा को खत्म करना है, पूंजीवाद को खत्म नहीं करना; उसका जो हिस्सा साम्राज्यवाद का समर्थन करता है, केवल उसे खत्म करना है। लेकिन वीर भारत के अनुसार जैसे जमींदारी प्रथा का अतिक्रमण जरूरी था, वैसे ही पूंजीवाद का। अर्थात् भारत में जैसे सामन्त-विरोधी क्रान्ति जरूरी थी, वैसे ही पूंजीवादविरोधी क्रान्ति जरूरी थी। इस लेख में वीर भारत तलवार ऐम० ऐन० राय की सर्वहारा क्रान्ति का समर्थन कर रहे हैं। ऐम० ऐन० राय के गुरु थे त्रोत्स्की। लेनिन और स्तालिन से उनका मतभेद इस बात को लेकर था कि पराधीन देशों में जनवादी क्रान्ति नहीं, सर्वहारा क्रान्ति होनी चाहिए।

'राष्ट्रीय आन्दोलन और रामचन्द्र शुक्ल'—इस दूसरे लेख में शहरी सर्वहारा का स्थान देहाती सर्वहारा ने ले लिया है। देहाती सर्वहारा में खेत मजदूर हैं और उन-जैसे निर्धन किसान हैं। "जिन दिनों शुक्लजी ने यह लेख लिखा, उन दिनों अवध के इलाके में बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में किसानों का एक बड़ा आन्दोलन चला था।...उस आन्दोलन में खेत मजूर बड़ी संख्या में शामिल हुए थे। उन्हें मजूरी बहुत कम मिलती थी—उनसे बेगार बहुत ज्यादा ली जाती थी। आन्दोलन मुख्यतः गरीब और साधारण किसानों का था। खेत मजूर उनके साथ थे।" (१८)। क्रान्ति की यह मंजिल तो फरवरी १९१७ में रूस-जैसे स्वाधीन देश में भी नहीं थी। जारशाही के विरुद्ध बोल्शेविक पार्टी ने सामन्तविरोधी क्रान्ति की सफलता के लिए धनी और निर्धन, सभी किसानों का संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रयास किया था। स्तालिन ने जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों का भेद बताते हुए लिखा था, "फरवरी १९१७ तक हमने अपना काम सर्वहारा वर्ग और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी डिक्टेटरशिप के नारे के अन्तर्गत किया था जबकि फरवरी १९१७ के बाद इस नारे का स्थान सर्वहारा वर्ग और गरीब किसानों की समाजवादी डिक्टेटरशिप ने ले लिया।" जनवादी क्रान्ति के दौरान सर्वहारा वर्ग किसानों के साथ किस तरह का संयुक्त मोर्चा बनाता है, यह दिखाने के लिए स्तालिन ने लेनिन की यह स्थापना उद्धृत की: "निरंकुश सत्ता [जारशाही] के प्रतिरोध को बलपूर्वक दबाने और पूंजीपतिवर्ग की अस्थिरता को पंगु कर देने के लिए सर्वहारा वर्ग को किसान समुदाय से सहयोग करके जनवादी क्रान्ति पूर्णतः सम्पन्न करनी चाहिए।" आगे स्तालिन ने कहा, "दूसरे शब्दों में—निरंकुश सत्ता के खिलाफ, पूंजीपतिवर्ग को तटस्थ करते हुए, सभी किसानों के साथ, जनवादी क्रान्ति के लिए।" फिर "पूंजीपतिवर्ग के विरुद्ध—शहर और देहात के निम्न पूंजीपतिवर्ग को तटस्थ करते हुए—गरीब किसानों और आबादी के, आमतौर से, अर्ध सर्वहारा स्तरों के साथ समाजवादी क्रान्ति के लिए।" (Stalin, Problems of Leninism, मास्को, १९४७, पृ० १८३):

जिस तरह का संयुक्त मोर्चा समाजवादी क्रान्ति के लिए रूस में दरकार था,

उस तरह का संयुक्त मोर्चा वीर भारत ने १९२१ के पराधीन भारत में बनाया। इतिहास के इस प्रस्तुतीकरण का सोधा सम्बन्ध आज की राजनीति से है। साम्राज्यवाद से भारत का अन्तर्विरोध पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ, सामन्ती अवशेष खत्म नहीं हुए। भारत समाजवादी क्रान्ति नहीं, नयी जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में है। एक ओर पूंजीपतिवर्ग का पिछलगुआ दक्षिणपन्थी अवसरवाद, दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग को शेष जनता में अलग-थलग कर देनेवाला वामपन्थी अवसरवाद—दोनों का वस्तुगत परिणाम एक ही है : नयी जनवादी क्रान्ति की शक्तियों को छिन्न-भिन्न कर देना।

९. प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल

प्रेमाश्रम और अवध का किसान आन्दोलन—इस विषय पर वीर भारत तलवार ने शोध प्रबन्ध लिखा है। जुलाई-सितम्बर ८४ की 'आलोचना' वाले लेख के अन्त में इस प्रबन्ध का ज़िक्र है। अवध के किसान आन्दोलन से प्रेमाश्रम का कोई संबंध नहीं है, यह दिखाने के लिए तो उन्होंने यह प्रबन्ध लिखा न होगा। अवध में सन् २०-२२ में एक शक्तिशाली आन्दोलन चला, उस आन्दोलन की पृष्ठभूमि में ही प्रेमाश्रम का अध्ययन करना उचित है, अभी तक किसी ने इस सम्बन्ध पर ध्यान नहीं दिया, यहाँ पहली बार इस सम्बन्ध पर विस्तार से विचार किया गया है—ऐसा ही कुछ उन्होंने शोध प्रबन्ध में लिखा होगा, वर्ना 'प्रेमाश्रम और अवध का किसान आन्दोलन'—इस तरह का नाम सार्थक न होगा। यह आन्दोलन हिन्दी जनता के इतिहास का, और भारत के स्वाधीनता आन्दोलन को, समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं, पर उसका प्रेमाश्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है।

बाबा रामचन्द्र जून १९२० में पाँच सौ किसानों को लेकर इलाहाबाद पहुँचे थे। वहाँ उन्होंने पुरुषोत्तमदास टण्डन, जवाहरलाल नेहरू, गौरीशंकर मिश्र आदि नेताओं से कहा था कि वे एक आयोग बनायें जो किसानों की दुरवस्था की जाँच करे। (Kapil Kumar, Peasants in Revolt, दिल्ली, १९८४, पृ० ९१-९२)। इसके बाद जवाहरलाल नेहरू ने देहात का दौरा किया था। जून के अन्त में ५३ हजार किसानों ने ताल्लुकदारों के खिलाफ पट्टी में सभा की थी। (उप०, पृ० ९४)। बाबा रामचन्द्र को पहली बार अगस्त १९२० में गिरफ्तार किया गया था। (उपर्युक्त, पृष्ठ ९८)। किसानों के विद्रोह के भय से अधिकारियों ने उन्हें लोगों की नजर से बचाकर छोड़ा, दुबारा वह फर्वरी सन् २१ में गिरफ्तार किये गये। प्रेमचन्द फर्वरी सन् २० में प्रेमाश्रम समाप्त कर चुके थे। किसान आन्दोलन का सारा घटनाक्रम उसके बाद का है। अमृतराय के अनुसार "मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखनकाल २ मई, १९१८ से २५ फर्वरी, १९२० तक है, जो कि पाण्डुलिपि पर ही अंकित है। प्रकाशन १९२१ के पूर्वार्द्ध में हुआ।"

(**प्रेमचन्द : कलम का सिपाही**, इलाहाबाद, १९६२, पृ० ६५४)। इस सूचना के अलावा उपन्यास के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द ने अपना लेखन कार्य जून सन् २० से पहले पूरा कर लिया था। सत्याग्रह आन्दोलन और अवध का किसान आन्दोलन लगभग एक ही समय आरम्भ हुए थे। तिलक और गाँधी में मतभेद कौंसिलों के बहिष्कार को लेकर हुआ; सत्याग्रह आन्दोलन का एक खास मुद्दा यह बहिष्कार था। बाबा रामचन्द्र भी हिन्दू मुस्लिम एकता आदि के साथ कौंसिलों के बहिष्कार का प्रचार करते थे। (Peasants in Revolt, पृ० १०८)। **प्रेमाश्रम** में कौंसिलों का बहिष्कार नहीं है, इसके विपरीत चुनाव हुए, "ज्ञानशंकर ने मैदान मार लिया; लेकिन प्रेमाश्रम निवासियों को जो सफलता प्राप्त हुई वह आश्चर्यजनक थी···सबसे बड़ी फतह प्रेमशंकर की थी।·· यहाँ लोग पहले से ही सेवाधर्म के अनुगामी थे। अब उन्हें अपने कार्यक्षेत्र को और विस्तृत करने का सुअवसर मिला। ये लोग नये-नये सुधार के प्रस्ताव सोचते···।" (**प्रेमाश्रम**, इलाहाबाद, १९६२, पृ० ३९७-९८)। प्रेमचन्द कौंसिलों का उपयोग करने के पक्ष में हैं। प्रेमाश्रमवासियों की नीति न तो सत्याग्रह आन्दोलन के अनुरूप थी, न किसान आन्दोलन के। जून सन् २० तक गाँधी और तिलक दोनों जिस नीति का समर्थन करते रहे थे, उसी का समर्थन **प्रेमाश्रम** में है। कौंसिलों का चुनाव उपन्यास के चौंसठवें अध्याय में है, उसके बाद बस एक अध्याय और है, फिर उपसंहार है। उपसंहार में "बलराज रेशमी साफा बाँधे, मिर्जई पहने, घोड़े पर सवार" आता दिखायी देता है; "वह अब जिला सभा का सदस्य था।" (उप०, पृ० ४०९)।

प्रेमचन्द यदि चाहते तो हिन्दी रूपान्तर के तैयार होने, फिर उसके प्रकाशित होने, तक उसके अन्तिम अध्यायों में परिवर्तन कर सकते थे पर ऐसा करना उन्होंने आवश्यक न समझा था। **प्रेमाश्रम** में न तो कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन को चित्रित किया गया है, न अवध के किसान आन्दोलन को। लेकिन प्रेमचन्द ने यह कैसे लिखा, "सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया।"? (**प्रेमाश्रम**, पृ० २३९)।

सत्याग्रह का जन्म दक्षिण अफ्रीका में हुआ था। १९१५ में गाँधीजी ने अहमदाबाद में सत्याग्रह आश्रम स्थापित किया था। इसके बाद उन्होंने चम्पारन और खेड़ा में सत्याग्रह का प्रयोग किया, इस प्रयोग का सीधा सम्बन्ध किसानों से था। इस प्रयोग को देखकर प्रेमचन्द सत्याग्रह के बारे में यह राय कायम कर सकते थे कि उसमें अन्याय का दमन करने की शक्ति नही है। उन्हें साधारण प्रतिरोध से सन्तोष नहीं था, वह ऐसा प्रतिरोध चाहते थे जो अन्याय का दमन कर सके। इससे तुलनीय है शुक्लजी का क्षोभ कि पंजाब में ढाये गये अत्याचार और **इस जुर्म के कर्णधारों का बिना दण्ड पाये मुक्त घूमना** प्रत्येक राष्ट्रभक्त भारतीय के हृदय को गहरे क्रोध से भर देता है। ('दस्तावेज़', पृ० ४)। १९०८ में खुदीराम बोस को फाँसी दी गयी। प्रेमचन्द "खुदीराम की एक तसवीर ले आये और बड़े प्रेम से अपने कमरे में उसे टाँग लिया।" (**प्रेमचन्द : कलम का सिपाही**, पृ० ९८)।

शुक्लजी की तरह प्रेमचन्द को क्रान्तिकारियों से गहरी सहानुभूति थी। खुदीराम बोस, रामप्रसाद बिस्मिल, भगतसिंह जैसे क्रान्तिकारियों की परम्परा में है प्रेमचन्द का मनोहर। 'ऐक्शन' से पहले वह भरपेट भोजन करता है, फिर गहरी नींद सोता है; चलने से पहले बेटे को समझाता है, "अपने मरजाद की रक्षा करना मरदों का काम है। ऐसे अत्याचारों का हम और क्या जवाब दे सकते हैं? बेइज्जत होकर जीने से मर जाना अच्छा है।" (**प्रेमाश्रम**, पृ० १९७-९८)। अन्यायी का दमन करना उचित है, इस दृढ़ विश्वास के कारण उसका मनोबल अटूट है, चित्त पूरी तरह उसके नियन्त्रण में है।

मनोहर अहीर है। वीर भारत के अनुसार अवध के किसान-आन्दोलन में गरीब किसानों और खेत मजदूरों ने भाग लिया; "इनमें ज्यादातर कुर्मी, अहीर और दूसरी छोटी जातियों के थे जो खुद हल चलाते थे।—खेत मजदूरों की ज्यादा जरूरत धनी किसानों और जमींदारों को थी। जमीन के बड़े टुकड़े भी ज्यादातर इन्हीं के पास थे। शुक्लजी ने जमीदारों के साथ-साथ जिन 'किसानो' के 'उत्पीड़न' की बात कही, वे ऐसे ही ऊँची जातवाले किसान थे। ये कई कारणों से जमींदारों के साथ थे।" (१८-१९)। एक ओर ऊँची जातियों के जमींदार और उनका साथ देनेवाले धनी किसान है, दूसरी ओर उनका विरोध करनेवाले नीची जाति के गरीब किसान और खेत मजदूर हैं। वर्गसंघर्ष का अर्थ हुआ ऊँची जातियों से नीची जातियों का संघर्ष! लेकिन **प्रेमाश्रम** में कुर्मियों और अहीरों को नीची जाति का नहीं माना गया। लखनपुर के किसानों में सबसे ज्यादा जमीन—चालीस बीघे—सुक्खू चौधरी के पास है (**प्रेमाश्रम**, पृ० ४०९) और वह कुर्मी हैं (उप०, पृ० ९)। गौस खाँ के अनुसार मनोहर के पास बीस बीघे जमीन थी (उप०, पृ० २३)। वह स्वयं खेत मे काम करता था पर उसके यहाँ एक हलवाहा भी था। बलराज भोजन करने बैठा, "उसके एक ओर मनोहर था और ज़रा हटकर उसका हलवाहा रंगी चमार बैठा हुआ था।" (उप०, पृ० ६०)। किसानों ने जमीन लीपने से इन्कार किया था; तहसीलदार ने उन्हें बल प्रयोग द्वारा जमीन लीपने को बाध्य किया। बैरिस्टर इर्फान अली ने तहसीलदार से जिरह करते हुए कहा, "मगर आपको इससे तो इन्कार नही हो सकता कि आमतौर पर अहीर और ठाकुर यह काम नहीं करते।" (उप०, पृ० ३६०)। ज्ञानशंकर ने गौस खाँ के कातिल के बारे में पूछा तो फैजू ने कहा, "वही मनोहर अहीर है।" (उप०, पृ० २०३)।

अंग्रेजी राज में छोटे जमींदार और धनी किसान तबाह हो रहे थे, और वे बड़े जमींदारो, ताल्लुकदारो और विदेशी राज्यसत्ता से लड़ रहे थे। अवध में किसानों के आदि संगठनकर्ताओं मे झिंगुरीसिंह थे। मौजा रूरे, तहसील पट्टी, जिला प्रतापगढ़ में उन्होंने महदेवसिंह के सहयोग से १९१७ में किसान सभा बनायी थी। (Peasants in Revolt, पृ० ७१)। बाबा रामचन्द्र इस सभा में बाद को १९१८-१९ में शामिल हुए। (उप०, पृ० ७३)। झिंगुरीसिंह की सामाजिक स्थिति यह थी : "उनके पुरखे पुराने-जमाने मे छोटे जमीदार थे लेकिन वह स्वयं गरीब थे और

उनका लालन-पालन मामूली ढंग से हुआ था।" (उप०)। अवध में ऐसे तबाह जमींदार भरे हुए थे। भारत में किसान आन्दोलनों पर अपनी पुस्तक मे धनगरे ने अवध के जमींदारों और किसानों के बारे में दिलचस्प आँकड़े दिये हैं। १९२० में २०० रुपये या उससे ज्यादा सालाना मालगुजारी देनेवाले १४,३५१ जमींदार थे (D. N. Dhanagare, Peasant Movements in India, 1920-1950, Oxford University Press, Bombay, 1983, पृ० ११४)। "इस वर्ग में जो लोग ५,००० रुपये या उससे ज्यादा की भारी सालाना मालगुजारी देते थे, उनकी संख्या बहुत कम थी।" (उप०, पृ० ११५)।

१ से २४ रुपये तक मालगुजारी देनेवाले जमींदार सबसे ज्यादा हैं—७९,४५३। ये पूरे जमींदार समुदाय का लगभग आधा हैं—४५.६८ प्रतिशत। जिस सरकारी विवरण से धनगरे ने ये आँकड़े दिये हैं, उसके बारे में लिखा है, इसमें १ रुपये से कम सलाना मालगुजारी देनेवालों को, तथा खेत मजदूरों को, छोड़ दिया गया है। "सारे संयुक्त प्रान्त में १९२१ में १५ लाख जमींदार ऐसे थे जो एक रुपये से कम मालगुजारी देते थे। अवध में भूमिहीन खेतमजूरों की सख्या १,८३,९०३ थी।" (उप०, पृ० ११४)। धनगरे ने **गरीब किसानों** में (क) उन जमींदारों को गिना है जो २५ रुपये से कम मालगुजारी देते थे; (ख) उन आसामियों को गिना है जो ५० रुपये से कम लगान देते थे; (ग) उन बटाईदारों को गिना है जिन्हें (क) श्रेणी के जमींदारों से या (ख) श्रेणी के आसामियों से अलग नही किया जा सकता। (उप०, पृ० ११५)। इससे जाहिर है कि वीर भारत की नीति के अनुसार किसान आन्दोलन चलाया गया होता तो उसमें गरीब आदमी एक-दूसरे का गला काटते होते, और इससे लाभ बड़े जमींदारों और विदेशी राज्यसत्ता को होता। इसी प्रकार ऊँची-नीची जातियों के आधार पर किसान आन्दोलन चलाया जाता तो वह बहुत जल्दी विघटित हो जाता।

अवध के किसान आन्दोलन में ऊँची जातियों के नेता थे, नीची जातियों के भी। इस आन्दोलन में "जाति बिरादरीवाला तनाव गायब था।" (Peasants in Revolt, पृ० २२४)। क्यों गायब था? इसलिए कि किसान, **बिरादरी के हित** में नहीं, वरन् किसानों के सामंत विरोधी **वर्गहित** में संगठित हो रहे थे। नौकरियों के प्रतिष्ठानों में और शिक्षा संस्थानों में बिरादरीवाला तनाव आजकल जोरों पर है क्योंकि क्रान्तिकारी संघर्षों का स्थान अवसरवाद और तिकड़म ने ले लिया है। लेकिन अवध के किसान आन्दोलन में "बाबा रामचन्द्र, अमोल शर्मा, देव नारायण पाण्डेय और रामलालजी शर्मा ब्राह्मण थे; झिंगुरी सिंह, सहदेव सिंह, राम अवतार और सालिक कुर्मी थे। बृजपाल सिंह और ठाकुरदीन सिंह राजपूत थे। माताबदल कोरी थे, रामगुलाम और मदारी पासी थे।" (उप०)। स्वाधीन भारत में बिरादरियोंवाला तनाव बढ़ा है। क्रान्तिकारियों के लिए आसान रास्ता यह है कि कुछ बिरादरियों को प्रगतिशील मानें, कुछ को प्रतिक्रियावादी। जो प्रगतिशील हों, उनके साथ हो जायें। सन् ३७ में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने पर साम्प्रदायिक

तनाव बढ़ा। कुछ क्रान्तिकारियों ने मुस्लिम सम्प्रदायवाद में जातीय आत्मनिर्णय की माँग छिपी हुई देखी और उसका समर्थन किया। पंजाब में इस समय हिन्दू सम्प्रदायवाद है, सिख सम्प्रदायवाद है। दोनों में कोई एक तो प्रगतिशील होगा ही! आप आसपास देखें तो ऐसे लोग मिल जायेंगे जो बिरादरियों के आधार पर किसान-क्रान्ति कर रहे हैं और पंजाब में सम्प्रदायवाद विशेष के आधार पर जातीय आत्मनिर्णय की समस्या हल कर रहे हैं! अवध के किसान आन्दोलन ने बिरादरीवाद और सम्प्रदायवाद दोनों को हटाकर सामाजिक एकता का नया आदर्श देश के सामने रखा था।

कपिल कुमार का यह विवरण खूब ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए : "अवध का किसान आन्दोलन साम्प्रदायिक और जाति बिरादरीवाले तनावों से मुक्त था। धार्मिक और जाति बिरादरी के सम्बन्ध किसान आन्दोलन को वर्ग एकता के आधार पर विकसित होने से रोकते हैं, इस प्रचलित धारणा के प्रतिकूल हम देखते हैं कि अवध में अत्याचार का मुकाबला करने में हिन्दू और मुसलमान एक साथ थे। इलाहाबाद के लिए जो किसान मार्च हुआ, उसमें हिन्दू किसानों और मुस्लिम किसानों, दोनों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। किसान नेता बाबा रामचन्द्र किसानों को संगठित करने के लिए रामायण के उद्धरण देते थे; उन्हें प्रतापगढ़ जेल से छुड़ाने में मुस्लिम किसान सक्रिय थे और यह काम उन्होंने बिस्मिल्लाह कहकर किया। अयोध्या में किसान सम्मेलन के दौरान पुजारियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों के लिए मन्दिरों के दरवाज़े खोल दिये थे और वहाँ उन्होंने रात में एक साथ शरण ली।" (उप०, पृ० २२३)। बाबरी मस्जिद और राम जन्मभूमि को लेकर जो झगड़ा हुआ, उसका सम्बन्ध क्या इसी अयोध्या से था?

वीर भारत ने शुक्लजी पर आरोप लगाया है कि उन्होंने जलियानवाला काण्ड का ज़िक्र किया पर "खिलाफत के सवाल पर चुप्पी साध ली।" (१३)। पर खिलाफतियों ने बाबा रामचन्द्र के साथ जो व्यवहार किया था, उसके बारे में स्वयं वीर भारत ने क्यों चुप्पी साधी है? जनवरी १९२१ में रायबरेली में किसान आन्दोलन तेज़ी पर था। मुंशीगंज में किसानों पर गोलियाँ चलायी गयीं और बहुत-से किसान मारे गये। 'प्रताप' ने इसे छोटा जलियानवाला काण्ड कहा था। (उप०, पृ० १३४)। खिलाफती नेता इस प्रयत्न में लगे थे कि बाबा रामचन्द्र रायबरेली के किसानों से न मिलने पायें। वह बाराबंकी में थे, उन्हें खिलाफती नेता मौलाना अब्दुल बारी ने लखनऊ बुलाया। लखनऊ पहुँचने पर उन्हें मुंशीगंज की घटना का समाचार मिला। वह तुरत रायबरेली जाना चाहते थे, पर उन्हें जाने न दिया गया। वह अब्दुल बारी के यहाँ कैदी की-सी हालत में थे ("he was virtually a prisoner of Abdul Bari." उप०, पृ० १३६)। वह रोये-गिड़गिड़ाये पर कोई नतीजा न निकला। जब भी बाहर जाने की कोशिश की, पहरेदारों ने उन्हें रोक लिया। रायबरेली की स्थिति के बारे में गाँधीजी का आदेश पाने के लिए अब्दुल बारी ने मोहम्मद अली को तार दिया। गाँधीजी की ओर से शौकत अली का तार

आया कि रामचन्द्र अहिंसा के सिद्धान्त के अनुसार किसानों को शान्त करें। गाँधी-जी ने इस तार की पुष्टि की। "अब्दुल बारी ने परेशानी में पड़े हुए रामचन्द्र से इन तारों के आधार पर कहा कि उन्हें कहीं भी जाने न दिया जायेगा क्योंकि नेताओं की यही इच्छा है।" (उप०, पृ० १३७)। बारी के घर में बन्द रहकर तो बाबा रामचन्द्र किसानों को शान्त कर न सकते थे; स्पष्ट ही खिलाफती नेता गाँधीजी के आदेश का उल्लंघन करके बाबा रामचन्द्र को रोके हुए थे। बाबा रामचन्द्र अपना यह अनुभव भूले नहीं। जब वह पकड़े गये और उन पर मुकदमा चला तो "उन्होंने खिलाफती नेता शौकत अली की सेवाएं अस्वीकार कर दीं और अपनी पैरवी खुद की।" नीचे कपिल कुमार की पाद टिप्पणी है: "शायद वह अपने प्रति अब्दुल बारी का दुर्व्यवहार भूल नहीं पाये। बारी संयुक्त प्रान्त के सबसे बड़े खिलाफती नेता थे। और इस तरह दूसरे खिलाफती की सेवाएं अस्वीकार कीं।" (उप०, पृ० १६०)।

ऐसा लगता है कि खिलाफत के समर्थन को छोड़कर बाकी अनेक मुद्दों पर बाबा रामचन्द्र कांग्रेस की नीति मानते थे। "रामचन्द्र हिन्दू-मुस्लिम एकता, स्वदेशी को प्रोत्साहन, किसानों की एकता, बच्चों की शिक्षा, बाहरवालों को उपज की बिक्री [स्थानीय बनियों की लूट से बचने के लिए], रेल मार्गों के प्रसार और कौंसिलों के बहिष्कार का प्रचार करते थे।" (उप०, पृ० १०८)। अवध का किसान आन्दोलन राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का अंग था। बाबा रामचन्द्र ने बाराबंकी का दौरा किया, वहाँ उन्होंने इस आन्दोलन की माँगों का प्रचार किया और जनता की साम्राज्यविरोधी चेतना को उभारा। "रामचन्द्र ने कोशिश की कि किसान आन्दोलन ऐसे रास्ते चले जिससे कांग्रेस का कार्यक्रम अमल में आये। २९ दिसम्बर को उन्होंने रुदौली में अपने श्रोताओं से कहा कि जिला अधिकारियों और पुलिस का जुल्म बर्दाश्त न करें, उनका आह्वान किया कि वह स्वदेशी और खादी को अपनायें। वह व्याख्यानों में सरकार के खिलाफ आग उगलते थे। वह अंग्रेजों से कहते थे, यहाँ से जाओ, यह देश तुम्हारा नहीं है। उनकी घोषणा थी कि सरकार दगाबाज, अत्याचारी और बेईमान है और जब तक इसे निकाल न लूंगा, दम न लूंगा।...रामचन्द्र ने एक पखवारे तक बाराबंकी का दौरा उन्हीं दिनों किया था जब नागपुर में कांग्रेस अधिवेशन हुआ था जिसमें असहयोग के कार्यक्रम का अनुमोदन हुआ था।" (उप०, पृ० ११८-२०)।

बाबा रामचन्द्र का वास्तविक नाम श्रीधर बलवन्त जोधपुरकर था। ग्वालियर के एक गाँव में एक मराठी भाषी ब्राह्मण परिवार में उनका १८६४ में जन्म हुआ था। फिजी में उन्होंने कुलीगीरी की, कुलियों की दशा सुधारने का आन्दोलन किया। अंग्रेज ब्राह्मणों को शक की निगाह से देखते थे; उनके शक से बचने के लिए उन्होंने अपना नाम रामचन्द्र राव रखा। किसानों में धार्मिक प्रचार करते हुए उन्होंने उनकी दुरवस्था देखी। "शुरू में उनकी प्रतिक्रिया यह थी कि किसानों और जमींदारों में मेल-जोल के लिए काम करें।" (उप०, पृ० ८२-८३)। बाबा राम-

चन्द्र ने अवध के किसानों को बहुत-सी बातें सिखायीं, कुछ उनसे सीखीं भी। बलराज ने सरकारी चपरासी से कहा, "मियाँ, हमारी गरमी पाँच-पाँच रुपल्ली के चपरासियों के मान की नहीं है, जाओ, अपने साहब बहादुर के जूते सीधे करो, जो तुम्हारा काम है; हमारी गरमी के फेर में न पड़ो; नहीं तो हाथ लग जायेंगे। उस जन्म के पापों का दण्ड भोग रहे हो, लेकिन अब भी तुम्हारी आँखें नहीं खुलती ?" (**प्रेमाश्रम**, पृ० ५७)। अवध में किसान आन्दोलन के संगठित होने से पहले नौजवान किसानों के ये तेवर थे। **प्रेमाश्रम** का सम्बन्ध अवध के किसान-आन्दोलन से नहीं है पर अवध के किसानों से है। (इसकी चर्चा **प्रेमचन्द और उनका युग**, चौथा संस्करण, के अन्तिम अध्याय में है।)

मार्च १९२१ में कढ़िया, रायबरेली का किसान-संघर्ष इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है कि उसका संगठन एक सैनिक ने किया था। बृजपालसिंह नवीं भोपाल इन्फैन्ट्री में सिपाही थे, साढ़े तीन महीने की छुट्टी पर आये हुए थे। उनका घर ज़िला प्रतापगढ़ के एक गाँव में था, वह किसानों का संगठन रायबरेली में कर रहे थे। एक महिला ताल्लुकदारिन ने आसामियों से कहा—इस बाहर के आदमी को निकाल दो। इस पर किसानों ने ताल्लुकदारिन की थुड़ी बोल दी। बृजपालसिंह के नेतृत्व में किसानों ने रियासत के कारिन्दे को बरखास्त करने की माँग की। ताल्लुकदारिन ने सरकार से सहायता माँगी। पुलिस मदद को आ गयी और उसने बृजपालसिंह को पकड़ लिया और उनके हथकड़ियां डाल दी। बृजपालसिंह ने विरोध किया और कहा कि वह जर्मनी में चार साल तक युद्ध बन्दी रहे थे और जर्मनों तक ने उन्हें हथकड़ियाँ न पहनायी थी।" (Peasants in Revolt, पृ० १६६)। पुलिस अफसर ने गालियाँ देना शुरू किया तो बृजमोहनसिंह ने उससे चुप रहने को कहा और किसानों को ललकारा—पुलिस के हाथों अपने नेताओं की बेइज़्ज़ती होने दोगे तो तुम्हारा ज़िन्दा रहना बेकार है। लगभग सात सौ किसान इकट्ठा हो गये थे। उन्होंने लाठियों और ईंटों से पुलिस पर हमला किया और बृजपालसिंह तथा अन्य नेताओं को छुड़ा लिया। पुलिस ने गोली चलायी। जगमोहन ब्राह्मण मारे गये, कई लोग घायल हुए। एक आदमी को मरते और दूसरों के शरीर से खून बहते देखकर किसान पुलिस पर टूट पड़े। पुलिसदल भागकर ताल्लुकदारिन की कोठी में जा छिपा। किसानों ने कोठी को घेर लिया। आसपास के गाँवों से और किसान आ गये और डिप्टी कमिश्नर, पुलिस सुपरडंट भी कुमक लेकर पहुँचे। बृजपालसिंह ने डिप्टी कमिश्नर से किसानों की शिकायतें सुनने और इन्साफ करने को कहा। डिप्टी कमिश्नर ने एक न सुनी तो बृजपालसिंह ने पुलिस के जवानों से कहा, ऐ हिन्दुओ, ऐ मुसलमानो, हम सब भाई-भाई हैं, तुम्हें हमारा साथ देना चाहिए। किसानों से कहा, महात्मा गाँधी ग्यारह बजे आयेंगे और डिप्टी कमिश्नर का काम ठीक करेंगे। इस पर किसानों ने महात्मा गाँधी की जय बोली। कोठी के सामने बैलगाड़ियाँ अड़ाकर उन्होंने रास्ता रोक दिया था। किसान बड़े अफसरों को पुलिस का जुल्म दिखाने के लिए दो शहीदों के शव और चार-पाँच घायलों को

खाटों पर लाये। एक घायल को इलाज के बहाने पुलिस पड़ोस के गाँव में ले गयी, डाक्टर के साथ बृजपालसिंह गये। वहाँ उन्हें पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। उन्हें चार साल की सख्त कैद और तीन महीने काल कोठरी में रहने की सज़ा दी गयी। (उप०, पृ० १६५-६६)।

तिलक ने युद्ध बन्दियों की जो भूमिका मन में सोची थी, वह निराधार नहीं थी। कम-से-कम उसका एक निदर्शन यहाँ मौजूद है। फौज के जवानों से किसानों की मैत्री अंग्रेजों के लिए कितनी खतरनाक हो सकती है, वे जानते थे, और उनके दोस्त ताल्लुकदार भी जानते थे। राम गोपाल सिंह के नाम से किसी ने वाइसराय को खत लिखा था कि ताल्लुकदारों के जान-माल को खतरा है और १८५७ से भी ज्यादा खतरनाक गदर होनेवाला है। (उप०, पृ० ६७-६८)। यह पत्र बृजपालसिंह वाली घटना की प्रतिक्रिया में न लिखा गया था, वह घटना मार्च सन् २१ की है और यह पत्र सितम्बर सन् २० का है। पर इससे पता चलता है कि वह घटना अपवाद रूप न थी; उथल-पुथल के चिह्न पहले से दिखायी दे रहे थे। "जाँच करने से पता चला कि राम गोपाल सिंह फर्ज़ी नाम था पर अधिकारियों को विश्वास था कि इस पत्र में उस क्षेत्र के ताल्लुकदारों की भावनाएं सही ढंग से व्यक्त हुई थीं।" (उप०, पृ० ६८)। अवध के किसान-आन्दोलन के दौरान हर घटना से ज़ाहिर होता है कि ताल्लुकदारी के खिलाफ संघर्ष तुरत साम्राज्य विरोधी संघर्ष में बदल जाता है। सामंत विरोधी संघर्ष की सफलता उसके साम्राज्य विरोधी पक्ष के प्रसार पर निर्भर है। किसानों के देशप्रेम की भावना को कम करके न आंकना चाहिए। ताल्लुकदारिन की कोठी को घेरनेवाले किसान जब महात्मा गाँधी की जय बोल रहे थे, तब वे इसी देशप्रेम की भावना को व्यक्त कर रहे थे; इस प्रकार वे अपने वर्ग संघर्ष को राष्ट्रीय आन्दोलन से जोड़ रहे थे।

प्रेमाश्रम की विशेषता यह है कि उसमें अंग्रेजी राज अत्याचारी जमीदारों का समर्थक ही नहीं है वरन् स्वतन्त्र रूप से, उनसे अलग, वह किसानों पर अत्याचार करता है। ज्वालासिंह की पत्नी शीलमणि बतलाती है, किस तरह युद्ध का खर्च चलाने के लिए अंग्रेजों ने अपनी प्रजा से कर्ज़ लिया : "अधिकारियों ने दीन-दरिद्र प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार किये, तरह-तरह के दबाव डाले, यहाँ तक कि उन्हें अपने हल-बैल बेचकर सरकार को कर्ज़ देने पर मजबूर किया।" (प्रेमाश्रम, पृ० ३४३)।

वर्षा समाप्त होने पर सरकारी अफसर देहात के दौरे पर निकलते हैं। प्रेमचंद ने इनकी तुलना कीड़ों-मकोड़ों से की है। लेकिन कीड़े-मकोड़े दो तरह के होते हैं। "वर्षा के आदि में राजसिक कीट और पतंग का उद्भव होता है, उसके अन्त में तामसिक कीट और पतंग का। उनका उत्थान होते ही देहातों में भूकम्प-सा आ जाता है और लोग भय से प्राण छिपाने लगते हैं।" (उप०, पृ० ५३)। ये अफसर प्रजा की दशा का ज्ञान प्राप्त करने, न्यायप्रार्थी के द्वार तक पहुंचने के उद्देश्य से निकलते हैं लेकिन उनकी सदिच्छाएँ बहुत जल्दी गायब हो जाती हैं,

"सत्य और न्याय पैरों के नीचे आ जाता है, लोभ और स्वार्थ की विजय हो जाती है।" (उप०)। सरकारी अफसरों को लूट-पाट के लिए जैसी सुविधा देहात में होती है, वैसी शहरों में नहीं। "वहाँ प्रत्येक वस्तु के लिए उन्हें जेब में हाथ डालना पड़ता है, किन्तु देहातों में जेब की जगह उनका हाथ सोंटे पर होता है या किसी दीन किसान की गर्दन पर! जिस घी, दूध, शाक-भाजी, मांस-मछली आदि के लिए शहर में तरसते थे, जिनका स्वप्न में भी दर्शन नहीं होता था, उन पदार्थों की यहाँ केवल जिह्वा और बाहु के बल से रेल-पेल हो जाती है। जितना खा सकते हैं, खाते हैं, बार-बार खाते हैं, और जो नहीं खा सकते, वह घर भेजते हैं। घी से भरे हुए कनस्तर, दूध से भरे हुए मटके, उपले और लकड़ी, घास और चारे से लदी हुई गाड़ियाँ शहरों में आने लगती हैं।...देहातवालों के लिए वह बड़े संकट के दिन होते हैं, उनकी शामत आ जाती है, मार खाते हैं, बेगार में पकड़े जाते हैं; दासत्व के दारुण निर्दय आघातों से आत्मा का भी ह्रास हो जाता है।" (उप०)। राज्य-सत्ता अपने मातहत अधिकारियों की लूट और उनके आतंक के ज़रिये इस प्रकार किसानों को अपने दासत्व का, अंग्रेजी राज मे गुलामी का, बोध कराती है।

जिस घटना में किसानों से घास छीलने और जमीन लीपने को कहा गया था, उसका सम्बन्ध ऐसे ही अधिकारियों के दौरे से था। वह कोई अनोखी घटना न थी, मानों यह जताने के लिए प्रेमचंद ने लिखा, "लखनपुर शहर से दस ही मील की दूरी पर था। हाकिम लोग आते और जाते यहाँ जरूर ठहरते। अगहन का महीना लगा ही था कि पुलिस के एक बड़े अफसर का लश्कर आ पहुँचा। तहसीलदार स्वयं रसद का प्रबन्ध करने के लिए आये। चपरासियों की एक फौज साथ थी। लश्कर में भी सवा-सौ आदमी थे। गाँव के लोगों ने यह जमघट देखा तो समझा कि कुशल नहीं है। मनोहर ने बलराज को ससुराल भेज दिया और ससुरालवालों को कहला भेजा कि इसे चार-पाँच दिन न आने देना। लोग अपनी-अपनी लकड़ियाँ और भूसा उठा-उठाकर घरों में रखने लगे। लेकिन बोवनी के दिन थे; इतनी फुरसत किसे थी?" (उप०, पृ० १७८)।

किसानों को सताने के लिए अंग्रेजों की सरकार जमीदारो पर निर्भर नहीं है पर इसी काम के लिए जमीदार उस सरकार के शस्त्रबल पर निर्भर हैं। जमीदार साम्राज्यवाद का सामाजिक आधार हैं, इस तरह कि आधार अपने अस्तित्व के लिए ऊपर की इमारत पर निर्भर है, साम्राज्यवाद की इमारत अपने अस्तित्व के लिए उस आधार पर निर्भर नही है। साम्राज्यवाद निश्चिन्त भाव से छोटे जमींदारों को तबाह करता जाता है; इससे इमारत के डगमगाने की शंका उसे ज़रा भी नही है। उसके वास्तविक सहयोगी बड़े-बड़े ताल्लुकदार और हैदराबाद-कश्मीर जैसी रियासतों के राजा हैं। जमीदारी प्रथा सारे भारत में नही थी पर कश्मीर से लेकर त्रावनकोर-कोचीन तक, राजकोट से लेकर कूच बिहार तक देशी रियासतों का जाल बिछा था। असली शतरंज के मोहरे ये राजा और नवाब थे। संवैधानिक सुधारों की राजनीति में कांग्रेस को मात देने के लिए साम्राज्यवाद इन मोहरों से

अपना खेल खेलता था। मायाशंकर ने अपने इलाके में किसानों को जमीन का मालिक बना दिया। अंग्रेजी राज की इमारत ज्यों-की-त्यों खड़ी रही। बलराज ने जिला सभा में बेगार रोकने का बिल तो पास करा लिया पर उसे कानून तभी माना जायेगा जब जिलाधीश उसे मंजूर कर लेंगे। बलराज कहता है, "अन्त में मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। देखें, जिलाधीश क्या फैसला करते हैं।" (उप०, पृ० ४१०) बलराज ने जिस बेगार का विरोध किया था, उसका सम्बन्ध जमींदारों से नहीं सरकारी अफसरों से था। बलराज ने मायाशंकर को बताया, "वही बेगार का प्रश्न छिड़ा हुआ था। खूब गर्मागर्म बहस हुई। मेरा प्रस्ताव था कि जिले का कोई हाकिम देहात में जाकर गाँववालों से किसी तरह की खिदमत का काम न ले, जैसे पानी भरना, घास छीलना, झाड़ू लगाना, जो रसद दरकार हो वह गाँव के मुखिया से कह दी जाय और बाजार भाव से उसी दम दाम चुका दिया जाय। इस पर दोनों तहसीलदार और कई हुक्काम बहुत भन्नाये। कहने लगे, इससे सरकारी काम में बड़ा हर्ज होगा।" (उप०, पृ० ४०६-१०)। मुख्य अन्तर्विरोध उस राज्यसत्ता से है जिसके प्रतिनिधि ये तहसीलदार और हुक्काम हैं।

सन् २० में तिलक कौंसिलों का उपयोग करने के पक्ष में थे। इसके लिए वीर भारत ने उन्हें आड़े हाथों लिया है, लेकिन **प्रेमाश्रम** में प्रेमचन्द भी तो कौंसिलों के उपयोग के पक्ष में थे। उनके बारे में वीर भारत ने एक शब्द नहीं कहा। सन् ३०-३२ का सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्वराज्य की प्राप्ति के बिना समाप्त हो गया, तब गाँधीजी इन कौंसिलों में जाने के अलावा कांग्रेस को और कौन-सा रास्ता दिखा रहे थे? और प्रेमचन्द भी इस नीति का समर्थन कर रहे थे या नहीं? जुलाई सन् ३३ में प्रेमचन्द ने लिखा था, "हम यह चाहते हैं कि यदि प्रान्तीय कौंसिल में सरकार किसानों के हित के लिए कोई कानून बनाना चाहती है, तो जनता के प्रतिनिधियों को चाहिए कि वे सरकार का समर्थन करें।" (**प्रेमचन्द के विचार**, भाग-एक, पृ० ४६१-६२)। जनवरी १६३४ में प्रेमचन्द ने टिप्पणी के शीर्षक रूप में गाँधीजी के शब्द दिये—**बेकार बैठने से काउंसिल में जाना अच्छा है**, फिर लिखा, "ये हैं वह शब्द जो महात्मा गाँधी ने राष्ट्र की वर्तमान स्थिति पर विचार करके दिल्ली में श्रीमुख से कहे थे। महात्माजी का आदर्शवाद व्यावहारिक आदर्शवाद है। ...इस समय कांग्रेस को अपना कार्यक्रम बदलना पड़ेगा और चारों ओर बाधाओं को देखते हुए काउंसिल प्रवेश के सिवा कोई दूसरा मार्ग नहीं रह गया है।" (उप० पृ० २२५-२६)। अप्रैल १६३४ में प्रेमचन्द ने लिखा, "कहा जाता है काउंसिलों में जाकर हमने इतने दिनों में क्या कर लिया? लेकिन काउंसिलों मे न जाकर ही हमने क्या कर लिया? हाँ, अगर कुछ किया, तो यह किया कि बीसों ही ऐसे कानून पास करा दिये, जो शायद कांग्रेसवालों के काउंसिलो में रहते हुए इतनी आसानी से पास न हो सकते। गुड़ खाने और गुलगुलों से परहेज करनेवाली नीति बहुत कुछ अच्छी नीति नहीं है।" (उप०, पृ० २५५)।

प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल, इन दोनों ही साहित्यकारों का विकास अन्त-

विरोधों से मुक्त नही था। अक्सर ये अन्तर्विरोध एक से हैं। शुक्लजी के अन्तर्विरोधों के बारे में हल्ला मचाना और प्रेमचन्द के अन्तर्विरोधों के बारे में चुप रहना कुछ अच्छी नीति नही है। शुक्लजी का विचार था कि अंग्रेजों से पहले का सामन्ती समाज सन्तुलित और सामंजस्यपूर्ण था। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द के विचार देखें : "पच्छिमी जीवन की नस-नस में, अणु-अणु में संघर्ष भरा हुआ है। उसी तरह भारतीय जीवन के अंग-अंग में अहिंसा और धर्म बसा हुआ है।···संघर्ष में गोलबन्दी होती है···भारत में इस तरह की गुटबन्दी का प्रमाण नही मिलता।··· प्रत्येक वर्ग का कार्य क्षेत्र नियत था। उस क्षेत्र के अन्दर वह अपना जीवन व्यतीत करता था। ब्राह्मण, समाज और राष्ट्र का नेता था, इसलिए नहीं कि उसमें धनबल था, या बाहुबल था, इसलिए कि उसमे ज्ञानबल था। वैश्य धन कमाता था; पर उस धन को जनहित में खर्च करता था। मनोवृत्तियाँ कुछ इस तरह की हो गयी थी कि लोग अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्तव्यो का ज्यादा विचार करते थे। उस वक्त का राजा केवल सिंहासन की शोभा न बढ़ाता था; बल्कि उसे रात-दिन प्रजा के हित की चिन्ता रहती थी।" (उप०, पृ० २०७)। प्रेमचन्द ने यह सब सितम्बर १९३२ में लिखा था!

वीर भारत ने प्रश्न किया है : "क्या शुक्लजी के पूरे साहित्य में कही भी इसका आभास मिलता है कि वे जमीदारी प्रथा को उठा देने के पक्ष में थे?" (२२)।

प्रतिप्रश्न : क्या प्रेमचन्द के पूरे साहित्य में कही भी इसका आभास मिलता है कि वे जमींदारी प्रथा को हमेशा, हमेशा के लिए बनाये रखने के पक्ष में थे?

उत्तर है : मिलता है। इस प्रकार "जमीदारों में भी और सब समुदायों की भाँति अच्छे भी हैं, बुरे भी। अगर जमींदार अपने अन्याय से अपने को इतना कलंकित न कर ले, कि उसका अस्तित्व ही दूसरों की आँखो में खटकता हो, तो वह किसानों का मुखिया, नेता और रक्षक बना हुआ अनन्तकाल तक जीवन का उपभोग कर सकता है। स्वराज्यकाल में लगान तो कुछ-न-कुछ जरूर ही कम हो जायगा, किसान पचास सैकड़े से कम की कमी को स्वीकार न करेंगे, और उसी के साथ जमीदार की आमदनी भी कम हो जायेगी, लेकिन क्या स्वराज्य, न्याय और धर्म से इतना शून्य हो जायेगा, कि वह किसी समुदाय के जायज हकों का अपहरण कर ले? यह असम्भव है। जमीदार रहेंगे, उनका आदर और सम्मान भी रहेगा, उनका रोब दाब भी रहेगा, हाँ बेगार न रहेगी, नजराने न रहेंगे, अन्धाधुन्ध लूट न रहेगी, मगर होंगे वे अपने घर के राजा।" (**प्रेमचन्द के विचार**, भाग-एक, पृ० ४२-४३)।

हर वर्ग में भले-बुरे आदमी होते हैं, जमीदार वर्ग में भी है। उनके कुछ हक जायज हैं, कुछ नाजायज हैं। नाजायज हक खत्म कर दो, जायज हक बनाये रहो। जायज हकों को खत्म करने—अर्थात् जमींदारी प्रथा को निर्मूल करने—का मतलब है स्वराज्य का न्याय और धर्म से शून्य हो जाना। जमींदारों को सुधारने की जरूरत है, सुधर जायें तो सभी जमींदार, न सुधरें तो उनमें जो भले हैं, वे, किसानों

के मुखिया, नेता और रक्षक बनकर **अनन्त काल तक** जीवन का उपभोग कर सकते हैं। प्रेमचन्द ने ये विचार अप्रैल १९३० में प्रकट किये थे।

वीर भारत के लिए सवाल सामन्तवाद का है। किसानों का, "शोषण उत्पीड़न जैसे बड़े जमींदार करते हैं, वैसे ही छोटे जमींदार भी करते थे;" (२२)। प्रेमचन्द की राय इससे कुछ भिन्न थी। नवम्बर १९३३ में उन्होंने लिखा था, "छोटा जमींदार अपने असामियों पर ज्यादा सख्ती करते डरता है। उसका पुलिस पर, अदालत के कर्मचारियों पर और अधिकारियों पर इतना प्रभाव नही होता, कि वह कानून अपने हाथ में ले सके और उसे जिस तरह चाहे तोड़-मरोड़ सके। प्यादों और लठैतों की फौज रखने का भी उसके पास साधन नहीं होता। फिर बहुधा वह अपने असामियों ही के गाँव में रहता है और उनकी यथार्थ स्थिति से वाकिफ होने के कारण बेजा सख्ती नहीं करता, कुछ मुलाहज़ा मुरव्वत भी होती ही है। इसके विपरीत बड़ा जमींदार तो अपने इलाके का बादशाह होता है। असामियों से उसका कोई निजत्व नहीं होता।" (**प्रेमचन्द के विचार**, भाग-एक, पृ० ४९७)।

यहाँ प्रेमचन्द के विचारों में अन्तर्विरोध का सवाल नही है। उन्होंने छोटे जमींदारों की तुलना में बड़े जमींदारों को शासन से अधिक सम्बद्ध, अधिक अत्याचारी ठीक ही समझा है। शुक्लजी ने छोटे जमींदारों की आर्थिक स्थिति पर अधिक जोर दिया था, वह दृष्टिकोण ज्यादा सही है। पड़ोस में रहने से मुरौवत हो, यह जरूरी नहीं है। कुछ पति एक ही घर में रहते हुए स्त्री से बड़ा क्रूर व्यवहार करते हैं। अन्तर्विरोध वीर भारत के विचारों में भी नही है। वह सुसंगत रूप से ऐसी वामपन्थी नीति का अनुमोदन करते हैं जिससे जनता की एकता टूटे और साम्राज्यवाद का हित हो।

पुरानी शिक्षा के बारे में प्रेमचन्द ने १९३२ में लिखा था, "बौद्धकाल तक गुरुकुल प्रथा जीवित रही। मुसलिम युग में वह प्रथा नष्ट हो गयी और उसके नष्ट होते ही राष्ट्र नौका का लंगर उखड़ गया। जीवन के किसी विभाग पर नियन्त्रण न रह सका। वर्ण और आश्रम, जो आर्य संस्कृति के स्तम्भ थे, अपना असली रूप खोकर जात-पांत के रूप में आ गये और गेरुए वस्त्रधारी, अकर्मण्य, पेट के बन्दों ने संन्यास और वानप्रस्थ का स्थान छीन लिया। अंग्रेजी राज्य में नये-नये विद्यालय खुले मगर उनका आदर्श और उद्देश्य कुछ और था। वह दफ्तरी शासन का एक विभाग मात्र था जिसका उद्देश्य सत्य की खोज और संस्कृति का विकास नहीं, दफ्तरों के लिए कर्मचारियों का निर्माण था। यहाँ की पुस्तकों पर, शिक्षा विधि पर, अंग्रेजी राज की छाप थी।" (उप०, भाग-दो, पृ० २०२)। नयी शिक्षा के ऊपर अंग्रेजी राज की जो छाप थी, उसे वीर भारत ने मिटा दिया है; नयी शिक्षा का समर्थन उनके लेख में अंग्रेजी राज का समर्थन बन गया है।

वीर भारत ने व्यक्तिवाद को लेकर शुक्लजी की बड़ी नुक्ताचीनी की है। शुक्लजी ने अपने लेख में "व्यक्तिवादी महत्व की अतिरंजित धारणा" की आलोचना की थी; वीर भारत ने 'अतिरंजित' को एक तरफ सरका दिया। शुक्ल-

जी ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उन विचारों पर आक्षेप किया था जो "अधिकांश स्थितियों में इतने अस्पष्ट एवं असन्तुलित हैं कि वे सामाजिक एवं नैतिक अनुशासन के सम्पूर्ण बोध को निष्प्रभ कर देते हैं।" ('दस्तावेज', पृ० ५)। वीर भारत के विवेचन में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विचार सभी स्थितियों में इतने स्पष्ट एवं सन्तुलित होते हैं कि वे सामाजिक एवं नैतिक अनुशासन के सम्पूर्ण बोध को प्रभामण्डित कर देते हैं! अब नयी शिक्षा और व्यक्तिवाद पर प्रेमचन्द के विचार देखें। सितम्बर १९३३ में उन्होंने लिखा था, "समाज पर अब तक व्यक्तिवाद की प्रमुखता रही है और हमारी शिक्षा प्रणाली भी व्यक्ति का ही समर्थन करती थी। बचपन से ही व्यक्ति का विकास होने लगता है और युनिवर्सिटियों में जाकर पूरा हो जाता है। उस साँचे में ढलकर युवक आत्मसेवी, घोर स्वार्थी, मित्रता में भी स्वार्थ की रक्षा करनेवाला, पक्का उपयोगितावादी और घमण्डी होकर रह जाता है। [निःसन्देह जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय जैसे संस्थानों में इसके शानदार अपवाद हैं पर कुल मिलाकर यह बात जितना सन् ३३ में सही थी, उससे ज्यादा सन् ८६ में सही है। फर्क इतना ही है कि पहले की शिक्षा पर अंग्रेजी छाप थी, अब अमरीकी छाप है, और शिक्षा का प्रतिष्ठान जितना ही ऊँचा होता है, यह छाप भी उतना ही गहरी होती है।—रा. वि. श.] हमारी शिक्षा हमारी सामाजिक चेतना को नहीं जगाती, उसका उद्देश्य अपने फायदे के लिए समाज से काम निकालना है। समाज केवल इसलिए है कि उसे बढ़ने और संचय करने का अवसर दे। वही मनुष्य सफल समझा जाता है, जो समाज को खूब अच्छी तरह एक्सप्लाइट कर सके। व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि व्यक्ति को मजबूर होकर उसी लीक पर चलना पड़ता है, दूसरा कोई रास्ता नहीं है।" (उप०, पृ० २२१)।

शुक्लजी पर वीर भारत का आरोप है कि वह ब्रिटिश शासन से भारतीय पूंजीवाद के "अन्तर्विरोध को नही देखते, इसे महत्व देना तो दूर रहा।" (१०)। पर शुक्लजी उद्योगीकरण के विरोधी नही थे, वह तोल्स्तोय और गाँधी के अनुयायी नही थे। प्रेमचन्द उद्योगीकरण के मामले में तोल्स्तोय और गाँधी के अनुयायी थे, वह उद्योगीकरण के विरोधी थे, तब ब्रिटिश शासन से देशी पूंजीवाद के अन्तर्विरोध को क्या महत्व देते? १९१९ में उन्होंने लिखा था, "और क्या यह व्यापार और कल-कारखानों की उन्नति, तरह-तरह के यन्त्रों का आविष्कार, जिस पर नये युग को इतना गर्व है, विशुद्ध सौभाग्य है जबकि सिगरेट कौड़ियों के मोल बिकता है, बटन और टीन के खिलौने मारे-मारे फिरते हैं मगर दूध और घी, मकई और ज्वार का स्थायी अकाल पड़ा हुआ है, जबकि देहात उजड़ते जाते हैं और शहरों की आबादियाँ बढ़ती जाती हैं।" (उप०, भाग-तीन, पृ० ४६१-६२)। **प्रेमाश्रम** में राय कमलानन्द देशी पूंजीवाद के प्रतिनिधि, कम्पनी के एक एजेण्ट, से कहते हैं, "निस्सन्देह आप कई हज़ार कुलियों को काम में लगा देंगे, पर यह मजूरे अधिकांश किसान ही होंगे और मैं किसानों को कुली बनाने का कट्टर विरोधी हूँ। मैं नहीं चाहता कि वे लोभ के वश अपने बाल-बच्चों को छोड़कर कम्पनी की छावनियों में जाकर रहें

और अपना आचरण भ्रष्ट करें। अपने गाँव में उनकी एक विशेष स्थिति होती है। उनमें आत्म प्रतिष्ठा का भाव जाग्रत रहता है। बिरादरी का भय उन्हें कुमार्ग से बचाता है। कम्पनी की शरण में जाकर वह अपने घर के स्वामी नही, दूसरे के गुलाम हो जाते हैं, और बिरादरी के बन्धनों से मुक्त होकर नाना प्रकार की बुराइयाँ करने लगते हैं।" (**प्रेमाश्रम**, पृ० ८६)।

प्रेमचन्द औद्योगिक विकास का महत्व नहीं समझते; सामाजिक विकासक्रम में आमतौर से, पराधीन देशों के सन्दर्भ में खास तौर से, वह औद्योगिक विकास के महत्व की अनदेखी करते हैं। बिरादरी के बन्धनों का जितना विरोध प्रेमचन्द ने किया है, उतना अन्य किसी हिन्दी लेखक ने नहीं किया। वह यह भी जानते हैं कि उद्योगीकरण मजदूरों को ऐसी परिस्थितियों में रहने को बाध्य करता है कि बिरादरियों के बन्धन टूट जाते हैं। छोटे पैमाने का उत्पादन इन बन्धनों का निर्माण करता है, बड़े पैमाने का उत्पादन उन्हें ध्वस्त करता है। फिर भी वह उद्योगीकरण के विरोधी हैं! राय कमलानन्द प्रेमचन्द के ही विचार प्रकट करते हैं, "हम अगणित मिलें खोलेंगे, बड़ी संख्या में कारखाने कायम करेंगे, परिणाम क्या होगा? हमारे देहात वीरान हो जायेंगे, हमारे कृषक कारखानों के मजदूर बन जायेंगे, राष्ट्र का सत्यानाश हो जायेगा।" (उप०, पृ० २६५)।

सितम्बर १९३२ में, कथा साहित्य के दायरे से बाहर, 'जाग्रति' शीर्षक टिप्पणी में, प्रेमचन्द ने लिखा था, "कलों के आविष्कार ने व्यवसायिकता की एक हवा-सी फैला दी है। यह व्यवसायिकता पश्चिमी सभ्यता का कलंक है। संसार का जितना अहित इस व्यवसायवाद से हुआ है और आगे होगा, वह अभूतपूर्व है। इसी का यह कुपरिणाम है कि जो लोग अपने घरों में बैठकर अपना काम करते थे, वे अब मिलों में आकर गुलामी करने पर मजबूर हैं।" (**प्रेमचन्द के विचार**, भाग-दो, पृ० २०७)। प्रेमचन्द औद्योगिक विकास को सामाजिक ह्रास का लक्षण मानते हैं, इसलिए वह औद्योगिक सर्वहारा को बिरादरी के बन्धनों में जकड़े हुए किसान से पिछड़ा हुआ नैतिकता में पतित मानते हैं। **गोदान** में गोबर गक्कर की मिल में मजदूरी करता है। गाँव मे ज्यादा मेहनत करता था, थकता न था, यहाँ पस्त हो जाता है। "सभी श्रमिकों की यही दशा थी। सभी ताड़ी या शराब में अपनी दैहिक थकन और मानसिक अवसाद को डुबाया करते थे।" (**गोदान**, इलाहाबाद, १९५४, पृ० २८०)। मज़दूरवर्ग के प्रति इस दृष्टिकोण से बोल्शेविक क्रान्ति का मेल नही है। रूस, जर्मनी और ब्रिटेन की तुलना में, पिछड़ा हुआ देश था। बड़े पैमाने पर उसका औद्योगिक विकास, वास्तव में, बोल्शेविक क्रान्ति के बाद हुआ। प्रेमचन्द के लिए उद्योगीकरण और पूँजीवाद लगभग समानार्थी शब्द हैं। बोल्शेविक क्रान्ति ने पूँजीवाद को खत्म किया, जरूर उद्योगीकरण को भी खत्म किया होगा! यह धारणा स्पष्ट रूप मे व्यक्त नही हुई पर उनकी तर्क योजना में सतह के नीचे विद्यमान है। 'जागृति' वाली टिप्पणी में उन्होंने मज़दूरों के बारे में लिखा, "मिल का स्वामी उनसे अधिक-से-अधिक काम लेकर कम-से-कम मजूरी देना चाहता है, और

यह संघर्ष यहाँ तक जोर पकड़ गया है कि योरोप के प्रत्येक देश में इसे उखाड़ फेंकने का प्रयत्न जोरों से हो रहा है। रूस ने तो उसे उखाड़ ही दिया, पर अन्य देशों में भी कम या ज्यादा संघर्ष छिड़ा हुआ है। मिलों में थोड़े से मजूर बहुत-से आदमियों का काम कर लेते हैं, इसलिए बहुत-से लोग बेकार रहते है।" (**प्रेमचन्द के विचार**, भाग-दो, पृ० २०७-०८)। रूस ने पूँजीवाद को खत्म कर दिया लेकिन कारखाने रहेंगे तो थोड़े से मजूर बहुत से आदमियों का काम करेंगे ही। बेकारी की समस्या कैसे हल होगी? पूंजीवादी देश बेकारी दूर करने के लिए ज्यादा माल बनाते हैं, उस माल की खपत के लिए बाजार खोजते हैं। "व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद इस तरह एक स्थान पर आकर मिल जाते हैं।" (उप०, पृ० २०८)। सही बात है। लेकिन व्यवसायवाद की जड़ क्या है? वही मशीनों से चलनेवाले उद्योग-धन्धे! "इस व्यावसायिक संस्कृति ने कल-प्रधान राष्ट्रों के लिए लाजिम कर दिया है कि उनके अधिकार में पराधीन राष्ट्रों की अधिक-से-अधिक संख्या हो।" (उप०)। कल-प्रधान राष्ट्र ब्रिटेन है, जर्मनी है, रूस भी है! कल-प्रधानता से मुक्त हुए बिना, अर्थात् उद्योगीकरण को रोके बिना, वह साम्राज्यवाद का मार्ग छोड़कर समाजवाद के मार्ग पर कैसे चलेगा?

प्रेमचन्द का समाजवाद भारतीय वेदान्त से, सन्तों के मानवतावाद से, बहुत मिलता-जुलता है। शिक्षा सम्बन्धी जिस टिप्पणी में प्रेमचन्द ने व्यक्तिवाद की आलोचना की है, उसी में सामाजिक क्रान्ति की चर्चा करते हुए उन्होने वेदान्ती मानवतावाद की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। लिखा है: "लेकिन समाज-व्यवस्था में बड़े वेग से क्रान्ति हो रही है। कम्युनिज्म का प्रचार हो या न हो पर समाज का आदर्श बदल गया है। भारत जैसे रूढ़ियों के गुलाम देश दस-बीस साल और परलोक चिन्तन में पड़े रहें लेकिन संसार समष्टि की ओर जा रहा है और सच पूछो तो समष्टिवाद की अनीश्वरता, जो हर आदमी के लिए समान अवसर की व्यवस्था करती है, जो किसी का जन्म-सिद्ध या परम्परागत अधिकार नही मानती, ईश्वरता के कही निकट है। एकात्मवाद का प्रकट रूप इसके सिवा और क्या हो सकता है। मानवी सभ्यता का और धर्म का सबसे ऊँचा आदर्श 'संसार व्यापी भाई-चारा रहा है। आदि से हम उसी ओर जाने की चेष्टा कर रहे हैं···समाज के सामने उससे ऊँचे आदर्श की सृष्टि नहीं हुई।" (उप०, पृ० २२१)।

कम्युनिज्म का प्रचार हो या न हो, जा रहे हैं सब एक ही आदर्श की ओर। यह आदर्श समष्टिवाद का है। समाजवाद का पर्याय है समष्टिवाद। इस समष्टिवाद का दार्शनिक आधार है एकात्मवाद। वेदान्त का पर्याय है एकात्मवाद। एकात्मवाद का प्रकट रूप है संसार व्यापी भाई-चारा। आदिकाल से हम इसी आदर्श की ओर चल रहे हैं, पहुँचे अभी तक नही। वह आदर्श है ही इतना ऊँचा, इतना ऊँचा कि समाज के सामने उससे ऊँचे आदर्श की सृष्टि नही हुई, मार्क्सवाद कुछ भी करे! उद्योगी-करण, सर्वहारावर्ग का संगठन, बोल्शेविक पार्टी की भूमिका आदि बातें यहाँ अप्रासंगिक हैं। प्रेमचन्द ने बोल्शेविक क्रान्ति को और सोवियत संघ के समाजवाद

को अपने ढंग से समझा था। उन्होंने बोल्शेविक क्रान्ति का समर्थन किया, शुक्लजी ने उसका विरोध किया। ऊपर से देखने में दोनों के बीच बहुत बड़ा फासला है। वास्तव में इतना ज़्यादा फासला है नहीं। पुराने समाज के सन्तुलित होने के बारे में दोनों के विचार एक से थे। सन्तुलन का आधार थी वर्ण-व्यवस्था। लेकिन दोनों विद्वान् भक्ति साहित्य से प्रभावित थे और यह साहित्य मूलतः वर्ण-व्यवस्था का विरोधी था। प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल दोनों के मानवतावाद का एक आधार भक्ति साहित्य में प्रतिपादित मनुष्य मात्र की समानता का भाव है। प्रेमचन्द ने समाजवाद को इस मानवतावाद से जोड़ा था। शुक्लजी ने भी वर्गहीन समाज की धारणा को अपने ढंग से समझा था। **कामायनी** के प्रसंग में लिखा था : "विज्ञान द्वारा सुख साधनों की वृद्धि के साथ-साथ विलासिता और लोभ की असीम वृद्धि तथा यन्त्रों के परिचालन से जनता के बीच फैली हुई अशक्तता, दरिद्रता आदि के कारण वर्तमान जगत् की जो विषम स्थिति हो रही है उसका भी थोड़ा आभास मनु की विद्रोही प्रजा के इन वचनों द्वारा किया गया है—

प्रकृत शक्ति यन्त्रों से तुमने सब की छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

वर्गहीन समाज की साम्यवादी पुकार की भी दबी-सी गूँज दो-तीन जगह है।" (**हिन्दी साहित्य का इतिहास**, पृ० ८३५)।

प्रेमचन्द वेदान्त से प्रभावित थे और नास्तिक थे। शुक्लजी कभी-कभी वेदान्तियों की तरह बातें करते हैं पर वह संसार को मिथ्या प्रपंच नहीं कहते। वह एक ओर भारत के प्राचीन दर्शन लोकायत से, दूसरी ओर इंग्लैण्ड के सत्रहवी-अठारहवी सदियों के भौतिकवाद से प्रभावित थे। अपने इस दार्शनिक बोध का उपयोग उन्होने दरबारी साहित्य और सामन्ती काव्यशास्त्र के खण्डन के लिए किया। आलोचना में रीतिवाद विरोध का वही महत्व है जो कथा साहित्य में भारतीय किसानों के चित्रण का है। रामचन्द्र शुक्ल महान् आलोचक हैं और प्रेमचन्द महान् कथाकार हैं क्योंकि दोनों ही भारतीय रूढ़िवाद के विरोधी हैं, मूलतः दोनों ही सामन्त विरोधी लेखक हैं।

प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल का लेखन अन्तर्विरोधों से मुक्त नहीं है, अक्सर ये अन्तर्विरोध एक-से हैं। उनका साहित्य इन अन्तर्विरोधों को पार करते हुए विकसित होता है। शुक्लजी का आलोचना साहित्य अपने तमाम अन्तर्विरोधों के बावजूद उस वामपन्थी लेखन से कही ऊँचे स्तर का है जो प्रच्छन्न रूप से साम्राज्यवाद का समर्थक है। शुक्लजी के अन्तर्विरोधों को अतिरंजित ढंग से प्रस्तुत करना और प्रेमचन्द के अन्तर्विरोधो के बारे में चुप्पी साधना नये ढंग का अवसरवाद है जिसका कारण शुक्ल विरोधी मोर्चे में अनेक प्रकार के सिद्धान्तहीन लेखकों का शामिल होना है। वीर भारत ने प्रेमचन्द के अन्तर्विरोधो को नही देखा, कोई बात नही। उनकी उपलब्धियों को किस रूप में देखा है? अवध के किसान आन्दोलन का जो चित्र उन्होंने खींचा है, वह यदि सामन्तविरोधी आन्दोलन है तो प्रेमचन्द

सामन्तविरोधी लेखक नहीं हैं। वैसे आन्दोलन का चित्रण न तो **प्रेमाश्रम** में है, न उनके अन्य किसी उपन्यास में। और अवध के किसान आन्दोलन का जो चित्र वीर भारत ने खींचा है, वह खुद अपने में कहाँ तक सही है? वीर भारत ने सर्वहारा क्रान्ति सम्बन्धी अपनी आज की समझ को उस समाज पर आरोपित किया है जिसकी मुख्य समस्या अंग्रेजी राज से मुक्ति पाना था। साम्राज्यवाद से भारतीय जनता के अन्तर्विरोध अभी बने हुए हैं, उस समय तो भारत पर साम्राज्यवाद का सीधा शासन था। सर्वहारा क्रान्ति की मंजिल में हम आज भी नहीं हैं, उस समय तो और भी नहीं थे। अवध के किसान आन्दोलन मे किस तरह व्यापक स्तर पर किसानों को संगठित किया गया, इसका सही ढंग से अध्ययन करें तो हम आज के जनवादी आन्दोलन के लिए सही निष्कर्ष निकाल सकते हैं। सामाजिक इतिहास के प्रति सही दृष्टिकोण हो तो साहित्य के इतिहास के प्रति भी दृष्टिकोण सही होगा। दोनों के ही प्रति वीर भारत का दृष्टिकोण गलत है।

१०. स्वदेशी आन्दोलन और नयी शिक्षा

'आलोचना' के जिस अंक में वीर भारत तलवार का लेख 'राष्ट्रीय आन्दोलन और रामचन्द्र शुक्ल' छपा है, उसी में शुक्लजी का लेख 'भारत को क्या करना चाहिए?' भी छपा है। 'असहयोग और अव्यापारिक श्रेणियाँ' की तरह यह भी उनके एक अंग्रेजी लेख का अनुवाद है। १९०७ के इस लेख से १९२१ वाले दूसरे लेख को समझने में मदद मिलती है और उनके समग्र साहित्यिक लेखन को समझने में मदद मिलती है। उसकी मुख्य स्थापनाओं की चर्चा यहाँ प्रासंगिक है।

शुक्लजी के चिन्तन की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रश्न एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इनका जुड़ना स्वतःस्फूर्त ढंग से नही हुआ, शुक्लजी ने उन्हें सचेत रूप से जोड़ा है। प्रत्येक प्रश्न को हल करनेवाले कार्यकर्ता अलग-अलग होंगे पर यदि वे "सिर्फ अपने काम से ही मतलब रखें तो क्या उससे काम चल जायेगा? नही।" देश को "समाज-सुधारक, राजनीतिक [राजनीतिज्ञ], आन्दोलनकर्ता, कवि और शिक्षाविद्—इन सबकी एक ही साथ, एक ही समय में, जरूरत है।" प्रश्न चौमुखी प्रगति का है, केवल एक दिशा में बढ़ने का नही। विभिन्न कार्य क्षेत्रों में काम करनेवाले काफी आदमी हैं या नही, इस सबकी देखभाल करनेवाले लोग भी चाहिए। अभी स्थिति यह है कि एक कार्यक्षेत्र का आदमी अपने दायरे में बन्द रहता है, दूसरे कार्यक्षेत्र के बारे में बहुत कम जानता है। "बहुधा हमें किसी एक विशेष कार्यक्षेत्र से सम्बन्ध रखनेवाले ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जो दूसरी तरह के काम करनेवालों के बारे मे बहुत हल्के ढंग से बात करते हैं। किसी भी स्थिति में यह वांछनीय नही है।" राजनीतिक कार्यकर्ता साहित्य के बारे में बहुत कम जानते हैं। यह स्थिति १९०७ में थी, १९८६ में भी है। अनेक साहित्यकार राजनीति से साहित्य को दूर रखना चाहते हैं। इसके

लिए सन् १९४७ से पहले इतना प्रयत्न नहीं किया गया जितना १९४७ के बाद। १९५२ में जिन लोगों ने शुक्लजी पर एकांगी समाजशास्त्रीयता का दोष लगाया था, उनका उद्देश्य यही था कि साहित्य को सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों से दूर रखा जाये। शुक्लजी के लिए कवि, शिक्षाविद्, राजनीतिज्ञ—सब एक ही उद्देश्य से प्रेरित हैं। इससे निष्कर्ष यह निकलेगा कि भाषा और साहित्य की सेवा देश की सेवा का ही एक रूप हैं, साहित्यिक लेखन भी देशप्रेम की अभिव्यक्ति है, शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा तो यह एक सामाजिक दायित्व का निर्वाह था।

सामाजिक समस्याओं में शुक्लजी ने सबसे पहले बालविवाह की कुप्रथा की ओर ध्यान दिया है। ऐसी कुरीतियों पर ध्यान देना इसलिए जरूरी है कि "इनका असर सीधे उस सामाजिक स्रोत पर पड़ता है, जहाँ से हमें प्रत्येक क्षेत्र में काम करने के लिए कार्यकर्ता प्राप्त होते हैं।" उदाहरण के लिए बालविवाह को लें। इस प्रथा ने समाज के विभिन्न क्षेत्रों में जो नुकसान पहुँचाया है, उसे पूरी तरह कौन बयान कर सकता है?" शुक्लजी बालविवाह की कुप्रथा को शारीरिक, मानसिक और नैतिक पतन का एकमात्र कारण मानते हैं। केवल अपने परिवार के बारे में सोचना, देश के बारे में न सोचना—मानसिक और नैतिक पतन का यह रूप है। परिवार की समस्याएँ शुक्लजी राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। "अपने अतिरिक्त दूसरी बातों पर ध्यान देने के लिए आवश्यक शक्ति और अवकाश से हमे वंचित करके यह प्रथा हमें स्वार्थी बना देती है और इस प्रकार हमारे अन्दर सारी राष्ट्रीय भावनाओं के विकास को अवरुद्ध कर देती हैं।" परिवार का पुनर्गठन होना चाहिए—राष्ट्रीय भावनाओं के विकास के लिए; इस पुनर्गठन में सबसे बड़ी बाधा है बालविवाह।

भारत दुर्दशा में सत्यानाश फौजदार कहता है :

बालकपन में ब्याहि प्रीतिबल नास कियो सब।

वही बात शुक्लजी नये सन्दर्भ में दोहरा रहे थे। शुक्लजी को रूढ़िवादी सिद्ध करने के लिए वीर भारत ने तिलक का उल्लेख बार-बार किया है, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उल्लेख एक बार भी नही किया। पाश्चात्य शिक्षा की युगान्तरकारी भूमिका दिखाने के लिए उन्होने नेहरू परिवार की चर्चा की, भारतेन्दु के परिवार की चर्चा नहीं की। भारतेन्दु ने 'नाटक' नाम के निबन्ध में अपने पिता के लिए लिखा है, "उनके सब विचार परिष्कृत थे। बिना अँगरेजी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली-भाँति विदित था।" काशी मे लेफ्टिनेण्ट गवर्नर टामसन के समय में लड़कियों का पहला स्कूल खुला तो "हमारी बड़ी बहिन को उन्होंने उस स्कूल में प्रकाश रीति से पढ़ने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत ही कठिन था क्योंकि इसमें बड़ी ही लोकनिन्दा थी।" (**भारतेन्दु ग्रन्थावली**, प्रथम भाग, काशी, सं० २०३१, पृ० ७८८)। "नेहरू परिवार की पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त स्त्रियों ने" एक पत्रिका निकाली 'स्त्री दर्पण'। इससे पहले "संवत् १९३१ में भारतेन्दुजी ने स्त्री शिक्षा के लिए 'बालाबोधिनी' निकाली थी।" (रामचन्द्र शुक्ल, **हिन्दी साहित्य का**

इतिहास, पृ० ५४७)। विलायत यात्रा करने पर विष्णुनारायण दर ने प्रायश्चित किया, मोतीलाल नेहरू ने इन्कार कर दिया। भारतेन्दु इससे और पहले **भारत दुर्दशा** में लिख गये थे :

रोकि बिलायत गमन कूप मंडूक बनायो।

वीर भारत के अनुसार पाश्चात्य शिक्षा की युगान्तरकारी भूमिका यह थी कि वह एशिया में मनुष्य मात्र के व्यक्ति स्वातन्त्र्य की सामान्य रूप से, और नारी जाति के व्यक्ति स्वातन्त्र्य की विशेष रूप से, घोषणा कर रही थी; तब राष्ट्र-वादियों की एक धारा सामन्ती संस्कृति की आचार संहिता की रक्षा करने में लगी थी। इस धारा के प्रतिनिधि तिलक थे "जिनका साम्राज्यवाद विरोध तो उग्र था, पर १२ वर्ष से कम उम्र की लड़की से पति का संभोग करना वे हिन्दू धर्म की पवित्र पहचान समझते थे।" (१३)। सामन्ती संस्कृति की तुच्छता दिखाने के लिए वीर भारत को तिलक याद आये, पड़ोस के स्वामी दयानन्द क्यों याद नहीं आये ? प्रश्न है : विवाह का समय और प्रकार कौन-सा अच्छा है ? **सत्यार्थप्रकाश** में इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है : "सोलहवें वर्ष से लेके चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है।" बारह साल की कन्या के ब्याह की बात तो यहाँ कट ही गयी, आगे निकृष्ट, मध्यम और उत्तम श्रेणियों के विवाहों की जो व्याख्या की गयी है, वह विशेष शिक्षाप्रद है। "इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह, बीस की स्त्री तीस-पैंतीस व चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है।" (**सत्यार्थप्रकाश**, दिल्ली, सं० २०११, पृ० ७६)। स्वामी दयानन्द के इस मत का उल्लेख करने से पाश्चात्य शिक्षा की, अतः अंग्रेजी राज की, ऐतिहासिक आवश्यकता प्रमाणित न होती।

१८९१ में भारत की ब्रिटिश सरकार ने स्वीकृति-वय-विधेयक पारित किया। इस बिल का विरोध तिलक के अलावा बंगाल में सर रमेशचन्द्र मित्र और सुरेन्द्र-नाथ बनर्जी ने भी किया। रमेशचन्द्र मित्र ने कहा कि इससे जनता में असन्तोष फैलेगा और समाजसुधार के काम में मदद मिलना तो दूर, उसमें रुकावट पड़ेगी। तिलक ने महाराष्ट्र में विधेयक का तीव्र विरोध किया। बहरामजी मरवानजी मलाबारी नाम के पारसी सज्जन ऐसा कानून बनाने के लिए ब्रिटेन में प्रचार कर रहे थे। उनका एक प्रस्ताव यह था : "पति के द्वारा बारह वर्ष से कम उम्र की पत्नी के साथ वैवाहिक सम्पर्क स्थापित करने को दण्डनीय अपराध माना जाये।" (विश्वनाथप्रसाद वर्मा, **लोकमान्य तिलक**, पृ० ४१)। तिलक विवाह जैसे कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। वह स्वयं बालविवाह के समर्थक न थे। उनका कहना था कि समाजसुधारक खुद आगे आयें, बालविवाह की जगह वयस्क युवा-युवतियों के विवाह का नियम बनायें, उसे अपने परिवार में लागू करें, जो तोड़े उसे दण्ड दें।

तिलक के जीवनी लेखक केलकर ने २६ अक्तूबर १८९० को विवाह सम्बन्धी

सुधार पर विचार करने के लिए आयोजित सभा का विवरण दिया है। इसमें एक प्रस्ताव पेश किया गया था और उस पर अन्य व्यक्तियों के साथ तिलक के हस्ताक्षर भी थे। "प्रस्ताव के मसौदे में कुछ सुधार तुरत करने का सुझाव भी था। इसके अनुसार लड़की की आयु विवाह के समय १६ वर्ष होनी चाहिए और लड़के की २०। ४० वर्ष की आयु के बाद पुरुषों को विवाह न करना चाहिए। इस बात पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया था कि उन्हें ब्याह करना ही हो तो विधवाओं से ब्याह करना चाहिए। इसके अतिरिक्त तिलक ने अपनी ओर से एक विशेष व्यक्तिगत पर्चा भी भेजा। उसमें उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि उनकी राय में कानून बनाकर जनता पर समाजसुधार लादने से कुछ भला होने के बदले सत्यानाश होगा। उनके विचार से यह बहुत जरूरी था कि जो लोग समाजसुधारों के लिए लड़ रहे थे, वे जिस कानून को दूसरों पर लादना चाहते थे, उसकी धाराओं के अनुसार वे व्यवहार में स्वयं आचरण करने की प्रतिज्ञा करें; सरकार से कानून बनाने के लिए कहने से पहले शर्त यह होनी चाहिए कि एक निश्चित संख्या कुछ ऐसे व्यक्तियों की हो जो अपने परिवारों में प्रस्तावित समाजसुधार लागू करने की शपथ लें।" (N. C. Kelkar, Life and Times of Lokamanya Tilak, Translated by D. V. Divekar, 1928, Madras, पृ० १९३)। यह बात तिलक के अन्य जीवनी लेखकों ने भी दोहरायी है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि "१२ वर्ष से कम उम्र की लड़की से पति का संभोग करना वे हिन्दू धर्म की पवित्र पहचान समझते थे।" यह वाक्य स्वयं वीर भारत की मानसिकता की पहचान है। उल्लेखनीय है कि तिलक ने "अपनी पुत्रियों को अंग्रेजी पढ़ने के लिए स्कूल भेजा था और जब तक वे सोलह वर्ष की न हुईं; उनका ब्याह न किया।" (Tahmankar, Tilak, पृ० ४९)।

वीर भारत ने आगे लिखा है, "महाराष्ट्र की पण्डिता रमाबाई ने पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से पितृसत्तात्मक सामन्तवादी संस्कृति के खिलाफ बगावत कर वैयक्तिक स्वतन्त्रता का झण्डा फहराया था। तिलक ने उसका विरोध कर 'सामाजिक और नैतिक अनुशासन' की वकालत की थी।" (१३)। रमाबाई का परिचय इस प्रकार है : "वह एक सुपठित निर्धन ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुई थीं। उनका विवाह अति अल्प आयु में हो गया था पर वह शीघ्र ही विधवा हो गयी। फिर कलकत्ता पहुँच गयीं। यद्यपि वह निर्धन थीं, फिर भी सौभाग्य से उन्हें संस्कृत का विशद ज्ञान था। यह ज्ञान उनके बहुत काम आनेवाला था। संस्कृत में उनके धाराप्रवाह व्याख्यानों और वाद-विवाद में उनकी विलक्षण प्रतिभा से कलकत्ते का विद्वत्समाज खूब प्रभावित हुआ।" (Tahmankar, Tilak, पृ० ४२)। रमाबाई की आधारभूमि संस्कृत की थी; उन्होंने आगे चलकर संस्कृत के विशद ज्ञान से काम लिया। इन सबका पाश्चात्य शिक्षा से कोई सम्बन्ध न था। अंग्रेजी न जानने से उन्हें अपने काम में कठिनाई हुई। अंग्रेजी सीखने के लिए उन्होंने पुणे के बालिका विद्यालय की अधिकारी मिस हरफोर्ड से दोस्ती की। इस

दोस्ती के फलस्वरूप वह इंग्लैण्ड गयी और वहाँ ईसाई हो गयी। अंग्रेजी सीख लेने पर उन्होंने आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज आदि अनेक स्थानों पर भाषण दिये। उनकी नियुक्ति संस्कृत अध्यापिका के पद पर एक महिला विद्यालय में हुई। उन्हें अमरीका आने का निमन्त्रण मिला। वहाँ ईसाई धर्म प्रचारक संस्थाओं ने उनके काम में बहुत दिलचस्पी दिखायी। उन्होंने दस साल तक उन्हें खर्च देते रहने का वादा किया। तै हुआ कि वह एक महिला शिक्षा संस्थान का संचालन करेंगी, उसमें मामान्य शिक्षा दी जायेगी, "धार्मिक शिक्षा जैसी कोई चीज न होगी, धार्मिक शिक्षा देनी ही होगी तो वह ईसाई धर्म की होगी। अपने अमरीकी दाताओं से रिआयतें पाकर उन्होने बम्बई में ११ मार्च, १८८९ को शारदा सदन की स्थापना की। संस्थान में प्रवेश के लिए उच्चवर्ग की विधवाओं को तरजीह दी जाती थी।" (Kelkar, Tilak, पृ० २१७-१८)। वीर भारत तलवार ने अमरीकी पैसे और ईसाइयत के प्रचार का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा।

दिसम्बर १८८९ में न्यूयार्क के साप्ताहिक 'क्रिश्चियन वीकली' ने शारदा सदन की प्रगति पर रिपोर्ट प्रकाशित की। इसमें कहा गया था : "इस समय शारदा सदन में सात युवती विधवाएँ हैं। इनमें दो ने ईसाइयत के प्रति अपना प्रेम दर्शाया है। वे नियमित रूप से रमाबाई के साथ दैनिक प्रार्थना मे शामिल होती हैं। संस्थान में धर्म सम्बन्धी पूरी आजादी है। इस आज़ादी से किसी का कोई अहित नही हुआ। इससे प्रतीत होता है कि सदन स्पष्ट ही ईसाई संस्थान है।" (Tahmankar, Tilak, पृ० ४३-४४)। तिलक के पत्र 'केसरी' ने इस रिपोर्ट की ओर ध्यान आकर्षित किया और रमाबाई के संस्थान का विरोध किया। डा० भाण्डारकर और न्यायमूर्ति रानडे ने संस्थान मे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। उन्होंने अपने वक्तव्य में यह भी कहा था, "हमें खेद है कि हमने रमाबाई के प्रति व्यक्तिगत रूप से जो विरोध ज्ञापित किया, उसका कोई फल न निकला। यदि सदन को खुले धर्मप्रचारक संस्थान के रूप में चलाना है, तो हम उससे किसी तरह का सम्बन्ध न रखेंगे।" (उप०, पृ० ४४)। "कुछ साल बीतने पर शारदा सदन खुलकर ईसाई [संस्थान] बन गया। उसका मुख्यालय पुणें से हटकर पास के एक गाँव में चला गया। स्वभावतः लोगो की आँखों के सामने से हट गया तो उनके दिमाग से भी हट गया।" (Kelkar, Tilak, पृ० २२२)।

अंग्रेजी राज में भारतीय जनता के साम्राज्यविरोधी जागरण के अनेक स्तर थे, अनेक रूप थे। एक ही प्रदेश में उसकी अनेक, एक दूसरे से भिन्न, धाराएँ थी। तिलक सम्भवतः मानते थे कि सबसे पहले स्वराज्य के लिए प्रयत्न करना चाहिए, समाजसुधार की समस्या उसके बाद हल करेंगे। "उन्हें विश्वास था कि अस्पृश्यता निवारण, विधवाविवाह, स्त्रीशिक्षा, बालविवाह पर रोक आदि सभी समाज-सुधार, एक बार देश राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त कर ले तो, किसी कठिनाई के बिना सम्पन्न हो जायेंगे।" (Tahmankar, Tilak, पृ० ५०)। शुक्लजी का दृष्टि-कोण इससे भिन्न था। भारत को क्या करना चाहिए—इस प्रश्न का मतलब यह

था कि "अपनी सामाजिक स्थिति को देखते हुए भारत को क्या करना चाहिए, अपनी राजनीतिक परिस्थिति को बदलने के लिए भारत को क्या [कौन से] कदम उठाने चाहिए।" पहले राजनीतिक परिस्थिति, फिर सामाजिक स्थिति—यह अनुक्रम शुक्लजी के यहाँ नहीं है। उन्हें समाजसुधारकों, राजनीतिज्ञों आदि की "एक ही साथ, एक ही समय में, जरूरत है।" वह वास्तव में सामाजिक कार्यों को राजनीतिक कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। "महत्व के लिहाज से जिस चीज़ पर हमें सबसे पहले ध्यान देना चाहिए, वह है सामाजिक बुराइयों को दूर करने का काम।" इनमें उन्होने सबसे पहले बालविवाह की कुप्रथा को लिया क्योंकि यह "हमारे अन्दर सारी राष्ट्रीय भावनाओं के विकास को अवरुद्ध कर देती हैं।" स्वाधीनतासंग्राम के दौरान सामाजिक रूप से राष्ट्र को अपना कायाकल्प करना है। समाजसुधार के सन्दर्भ में शुक्लजी को तिलकपन्थी कहना स्पष्ट ही भ्रामक है।

नये ढंग का समाज चाहिए, "शक्तिशाली समाज"; इसकी पहचान यह है कि उसके "सदस्य कोई भी काम करने को तैयार हों।" फिर इनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य सरकारी नौकरियाँ पाना नही, सामाजिक दायित्व के निर्वाह की क्षमता होना चाहिए। नयी शिक्षा ऐसी हो "जो दूसरी बातों के अतिरिक्त एक उच्च उत्तरदायित्व के भाव से किसी को युक्त कर देती है और उसकी महत्वाकांक्षाओं के लिए ऐसे क्षेत्र प्रदान करती है, जो सलाम बजाने या मालगुजारी इकट्ठा करने के काम से बड़े होते हैं।" सरकारी नौकरियों को मुआवजा समझनेवाले छोटे जमीदारों की स्थिति सन् २१ में शुक्लजी को दयनीय जान पड़ी, यहाँ भी ये नौकरियाँ शिक्षा के प्रधान उद्देश्य से दूर हैं। ध्यान देने की बात है कि नयी शिक्षा के प्रसंग में शुक्लजी बंगाल का नाम लेते है और वहाँ इस शिक्षा का प्रसार देखकर प्रसन्न होते हैं। "हमें इस बात से खुशी है कि बंगाल के हमारे भाई बहुत अरसे से महसूस की जा रही इस कमी को दूर करने की कोशिश कर रहे हैं।" **हिन्दी साहित्य का इतिहास** में भारतेन्दुयुगीन साहित्य का विवेचन करते हुए शुक्लजी नयी शिक्षा के प्रति १९०७ की यह धारणा दोहराते हैं।

पर शिक्षा को सरकारी स्कूलों के अहाते से बाहर निकालकर शुक्लजी उसे आम जनता के बीच ले जाने की बात कहते हैं। उनका राजनीतिक उद्देश्य स्पष्ट है। "शिक्षा से मेरा मतलब सामान्य महत्व के मामलों के बारे में हमारे नेताओं की राय का [अर्थात् राजनीतिक विचारों का] अशिक्षित जनता तक सम्प्रेषण भी है, ताकि अवसर आने पर उनका [उसका] सहयोग (अशिक्षित जनता का—अनु०) मिलने से न रह जाये।" नेताओं की राय से जनता परिचित होगी तो अवसर आने पर—राजनीतिक आन्दोलन में—उनसे सहयोग करेगी। शहरो को देखते अशिक्षित जनता गाँवों में अधिक है। इस जनता के लिए शुक्लजी शिक्षा का कार्यक्रम निर्धारित करते हैं: "प्रत्येक ग्रामवासी को यह जानना चाहिए कि अधिक काम करने के बाद भी उसे उसके बदले में कम क्यों दिया जाता है, प्रत्येक नागरिक को

यह बताया जाना चाहिए कि उसकी सेवाओं की इतनी कम माँग क्यों है, और वस्तुतः प्रत्येक भारतीय को यह साफ-साफ पता होना चाहिए कि उसका देश दिन-ब-दिन और गरीब क्यों होता जा रहा है? आप अगर चाहें तो इसे राजनीतिक शिक्षा भी कह सकते हैं।" जो बात महावीरप्रसाद द्विवेदी ने **सम्पत्तिशास्त्र** में कही थी, वही बात शुक्लजी ने इस लेख में कही। आगे चलकर यही बात जनार्दन भट्ट ने कही। 'सरस्वती' में **सम्पत्तिशास्त्र** के कुछ अंश १९०७ में प्रकाशित हुए थे। 'इण्डियन रिव्यू' में शुक्लजी का लेख भी इसी साल छपा था। महावीरप्रसाद द्विवेदी जिस हिन्दी नव जागरण के संयोजक हैं, उसी का एक अंश है शुक्लजी का शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम। जैसे भारत के विभिन्न भाषाओं में रचे हुए साहित्य से अलग भारतीय साहित्य नहीं है, वैसे ही भारत के विभिन्न प्रदेशों के जातीय नव-जागरण से अलग राष्ट्रीय जागरण नही है। ये जातीय नवजागरण परस्पर सम्बद्ध हैं', पृथक् भी हैं; उनके सामान्य लक्षण हैं, विशेष भी। भारतेन्दु ने १८७९ में लिखा था, "भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किन्तु वे जनसाधारण के दृष्टिगोचर नही होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तके बनें और वे सारे देश, गाँव-गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जाये। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना शीघ्र ग्रामगीत फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है, उतना साधारण शिक्षा से नही होता।" (रा०वि० शर्मा, **भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा**, पृ० १२)। भारतेन्दु 'साधारण शिक्षा' से अलग 'गाँव-गाँव में साधारण लोगों में' ग्रामगीतो द्वारा देशोन्नति के विचार फैलाना चाहते थे। उसी तरह रामचन्द्र शुक्ल स्कूली शिक्षा से अलग सामान्य महत्व के मामलों के बारे में नेताओं की राय अशिक्षित जनता तक पहुँचाना चाहते थे। सामान्य महत्व के मामलों का अर्थ है राजनीति और अर्थशास्त्र की मोटी-मोटी बातें जनता को बताना।

इस तरह की शिक्षा के लिए लिखित साहित्य काफी नही है। शुक्लजी कहते हैं, "इस प्रकार की शिक्षा देने के लिए हमें विभिन्न तरीके और साधन अपनाने चाहिए। स्कूल और कालेज ही शिक्षा के एकमात्र स्थान नही होने चाहिए। सुविधाजनक स्थानों पर सार्वजनिक भाषणों का आयोजन करके और ऐसे लोगों को गाँवों में भेजकर, जो अशिक्षित जनता को उन्हें [उसे] प्रभावित करनेवाली परिस्थितियों के बारे में समझाकर उसे काम करने का रास्ता बतलायें—हम बहुत कुछ कर सकते हैं।" बलिया के मेले में देशोन्नति पर व्याख्यान देकर भारतेन्दु ने इसी नीति का सूत्रपात किया था। हिन्दी काव्य के तृतीय उत्थान के बारे में जब शुक्लजी ने लिखा था, "गाँव-गाँव राजनीतिक और आर्थिक परतन्त्रता के विरोध की भावना जगायी गयी" (**इतिहास**, पृ० ७७८), तब वह अंशतः अपने १९०७ के

स्वप्न को ही साकार होते देख रहे थे।

ज्ञान की अनेक शाखाएँ हैं। सबका विवेचन आवश्यक नहीं है। मूल बात है देश का उद्योगीकरण; इसके लिए तकनीकी शिक्षा दरकार है। "भारत की आर्थिक स्थिति की माँग यह है कि किसी भी दूसरे काम से पहले उसके उद्योग धन्धों का परिवर्धन और परिष्कार किया जाये और यह, जिसे हम तकनीकी शिक्षा कहते हैं, उस पर सबसे ज्यादा निर्भर करता है।" गाँधीजी कुछ दिन बाद उद्योगीकरण का विरोध करनेवाले थे, उनके सर्वोदयी अनुयायी अब भी करते हैं। इनसे भिन्न शुक्लजी भारत को औद्योगिक दृष्टि से विकसित एक सशक्त, आधुनिक राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं। देश को पुराने जमाने की तरफ लौटाने के बदले वह उसके पूँजीवादी विकास के समर्थक हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी की उन्नति पर अपने पद्यबद्ध व्याख्यान में कहा था,

जानि सकैं सब कछु सबहि बिबिध कला के भेद।
बनै बस्तु कल की इतै मिटै दीनता खेद।

रामशंकर शर्मा व्यास ने भारतेन्दु की जीवनी में लिखा था कि वे चार काम करना चाहते थे। इनमें चौथा काम यह था: "एक शिल्पकला का पश्चिमोत्तर देश में कालेज स्थापित करता।" (**भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नव जागरण की समस्याएँ**, पृ० ७७)। यहाँ शिल्पकला प्रौद्योगिकी है, मूर्तिकला नहीं। १८७२ में उन्होंने लिखा था, "अंग्रेज लोग केवल हम लोगों को उसी शिक्षा का उपदेश करते हैं जिसमें किसी प्रकार की शिल्पादिक कोई कला न हो केवल पण्डित मात्र बन जाये।" (उप०, पृ० ७१)। रामचन्द्र शुक्ल इसी शिक्षा नीति का अनुसरण कर रहे थे। भारत की आर्थिक और सामाजिक प्रगति के साथ साहित्य का विकास सम्बद्ध है। यह विकास देशी भाषाओं के माध्यम से सम्पन्न होगा। "भारतीय जन मानस को एक सामंजस्यपूर्ण धरातल पर लाने में देशी भाषा के बढ़ते हुए साहित्य की जो भूमिका है, उसकी शायद हम उपेक्षा नहीं कर सकते।" आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों के कार्यकर्त्ता साहित्य की उपेक्षा नहीं कर सकते। साहित्य का निश्चित सामाजिक उद्देश्य है—भारतीय जन मानस को एक सामंजस्यपूर्ण धरातल पर लाना।

भारत में अंग्रेजी राज और उसके समर्थकों की आलोचना करते हुए लिखा है, "जहाँ तक हम देख पाये हैं, साम्राज्यवाद ही भारत में ब्रिटिश राष्ट्र की नीति की प्रेरक शक्ति रहा है।" कहने को ब्रिटेन में लोकतन्त्र कायम है पर भारत में ब्रिटिश नीति लोकतन्त्र द्वारा निर्धारित नहीं होती, वह साम्राज्यवाद द्वारा निर्धारित होती है। ऊपर से देखने में यहाँ लोकतन्त्र की अनेक संस्थाएँ कायम कर दी गयी हैं। "हमारे पास म्युनिसिपल बोर्ड है, लेजिस्लेटिव काउंसिलें हैं, क्या नहीं है? लेकिन दिखावे के अलावा उनका और कोई मकसद भी है?" बहुत से लिबरल विचारक अंग्रेजों द्वारा भारत में कायम किये हुए इस लोकतन्त्र के गुन गाते थे, कहते थे और अब भी कहते हैं, अंग्रेजों ने हमें राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया, हमें लोकतन्त्र सिखाया।

उनका यह लोकतन्त्र उनकी शिक्षा नीति से अलग कोई चीज न था। शुक्लजी अंग्रेजों की शिक्षा नीति की जगह नयी शिक्षा नीति पेश कर रहे हैं, स्वभावतः वह उनके लोकतन्त्र की आलोचना भी करते हैं। आप चाहें तो कह सकते हैं, शुक्लजी पाश्चात्य शिक्षा के विरोधी थे, वह लोकतन्त्र के विरोधी भी थे। शुक्लजी ने लोकतन्त्र के रूप और सारतत्व में भेद किया था: "इसमें शक नहीं कि वे रूप को सुरक्षित रखते हैं, लेकिन वे उसके सारतत्व को खत्म कर देते हैं।" यदि ब्रिटेन के लोकतन्त्र से भारत के लोकतन्त्र की तुलना की जाये तो पता चलेगा कि "भारतीय प्रशासन में उनकी अपनी ब्रिटिश परिकल्पना का एक रेशा भी नही दिखायी देता।" ब्रिटेन में तकनीकी और गैरतकनीकी शिक्षा के अनुपात पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि उस अनुपात का एक रेशा भी भारत में नहीं है। इसी तरह ब्रिटेन में शहरी और देहाती आबादी के अनुपात पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि भारत में ब्रिटेन के औद्योगिक विकास का रेशा भी नहीं है। और ब्रिटेन का यह औद्योगिक विकास भारत के उद्योग धन्धों का नाश करने के बाद हुआ था।

भारत में ब्रिटिश लोकतन्त्र की जय बोलनेवालो का अच्छा-खासा दल था। इसके सदस्य "उस परम सत्ता के साथ एकाकार हो जाते हैं। इस तरह हिन्दुओं की अवधारणा के अनुसार वे मोक्ष प्राप्त करते हैं।" जो लोग शासन की थोड़ी-बहुत आलोचना करते हैं, उन्हें "बहुत ही चालाकी भरे ढंग से 'लाखोंलाख लोगों के स्व-घोषित प्रतिनिधि' कहा जाता है।" नतीजा यह कि प्रशासनिक जगत् में प्रतियोगिता के लिए जगह नहीं है, योग्यता की जाँच का मौका नहीं है। "यह बनावटीपन और चालाकी की दुनिया है। यहाँ सिर्फ़ 'अनुभव' की जरूरत है, जो सलाम बजाने और 'हुजूर' के हुक्म को दोहराने का ही दूसरा नाम है।" इसलिए जो लोग देश की उन्नति के लिए काम करना चाहते हैं, उन्हें 'राजकीय मान्यता' प्राप्त करने का विचार छोड़ देना चाहिए। यदि वे निःस्वार्थ भाव से काम करते हैं तो उन्हें अपना पुरस्कार 'ईमानदार दिलों' में खोजना चाहिए, यदि स्वार्थ भाव से काम करते हैं तो 'बटुओं में खोजना चाहिए।' स्वार्थ साधक देशभक्तों की कमी न थी; शुक्लजी के मन में इनके प्रति घृणा का भाव है। यदि कवि आपका यश गायें, स्त्रियाँ आप पर फूल बरसायें, बुरी स्थितियों में फँस जाने पर आँसू बहायें, आप जहाँ जायें 'राष्ट्रीय उत्साह का सागर' साथ चले, आपकी 'एक झलक पाने को' लोग बेचैन रहें, तो "क्या मानवीय अहं की तुष्टि के लिए यह पर्याप्त नही है?" जनता द्वारा किया गया यह अभिनन्दन बटुओं में मिलनेवाले पुरस्कार से बड़ा है, जी हुजूरी से प्राप्त की हुई राजकीय मान्यता से बड़ा है।

शुक्लजी के चिन्तन में शिक्षा का प्रसार और उद्योग धन्धों का प्रसार एक दूसरे से जुड़े हैं। शिक्षा का प्रसार होने पर शिक्षितों की संख्या बढ़ेगी। "यह तो तय है कि उन सारे लोगों को हमारी कचहरियाँ रोजगार नहीं दे सकेंगी।" इसलिए "हमें उद्योग और शिक्षा के विभिन्न केन्द्र खोलने होंगे।" शुक्लजी को विश्वास है, "कितने ही ज्यादा लोग क्यों न हों, काम हमेशा उनके लिए काफी होना चाहिए।"

स्वदेशी आन्दोलन चल रहा है। शुक्लजी को इससे बड़ी आशाएँ हैं। "यह लाखों लोगों को भुखमरी से बचाने के लिए और नियमित रोजगार के अभाव में भटक रहे लाखों लोगों को काम देने के उद्देश्य से चलाया गया आन्दोलन है।" जो इस आन्दोलन के साथ हैं, वे हमारे दोस्त हैं, जो अलग हैं, वे उदासीन हैं, "और जो हमारी मुखालिफत करते हैं, वे हमारे दुश्मन हैं।" स्पष्ट है, दुश्मनों से किसी तरह का समझौता न किया जायेगा।

स्वदेशी आन्दोलन हुल्लड़बाजी में समाप्त न हो जाये, यह चिन्ता शुक्लजी को १९०७ में भी है। वह स्वदेशी आन्दोलन को दृढ़ता से चलाने और चलाते रहने के पक्ष में हैं। "मेरे देशवासियो, जो इलाज आपने खोजा है, वही एकमात्र इलाज है, उसे दृढ़ता से पकड़े रहिए। अपनी पकड़ ढीली न होने दीजिए, वरना वह हमेशा के लिए हाथ से निकल जायेगा और आपका विनाश सुनिश्चित हो जायेगा।" सन् २१ के लेख में शुक्लजी ने स्वदेशी आन्दोलन के बारे में जो कुछ कहा, वह उनकी १९०७ की मान्यताओं के अनुरूप है। जलियानवाला काण्ड का जवाब सुनिश्चित योजना के अनुसार देना चाहिए। नया आन्दोलन हुल्लड़बाज़ी में न खत्म हो जाना चाहिए। १९०७ में वह देशवासियों से कह रहे थे, "अपने दुश्मनों को अपने बारे में यह कहने का मौका न दीजिए—'उनका सोचना ज्यादातर एक छूत की बीमारी की तरह होता है। वे किसी मत को ऐसे पकड़ते हैं जैसे उन्हें सर्दी लगी हो। और जब तक यह दौरा उन पर रहता है, तब तक इसके अलावा छोटी या बड़ी कोई भी दूसरी चीज़ ऐसी नही होती, जिसे लेकर वे इतना भयानक गर्जन-तर्जन करें। लेकिन दौरा गुजरने के एक घण्टे के अन्दर ही वे सबकुछ भूलकर बैठ जाते हैं।' " असहयोग आन्दोलन के सिलसिले में शुक्लजी ने जिस हुल्लड़बाजी की चर्चा की है, उसकी तुलना उक्त चेतावनी से करें तो उनका आशय स्पष्ट हो जायेगा।

उद्योगीकरण के बिना देश की कोई समस्या हल नही हो सकती। शुक्लजी की शिक्षा सम्बन्धी नीति स्वदेशी आन्दोलन का अंग है, देशी भाषाओ में साहित्य रचना भी इस आन्दोलन के अन्तर्गत है। भारत के औद्योगिक विकास की माँग सामन्त-वर्ग की माँग न थी; वह न बड़े ज़मींदारों की माँग थी, न छोटे ज़मीदारों की। वह साम्राज्यवाद के सहारे मुनाफा कमानेवाले व्यापारियो की माँग थी। भारत का अपना औद्योगिक पूँजीवाद अभी लगभग अस्फुट अवस्था में था; यह उसकी माँग थी। यह मध्यवर्ग के देशभक्त युवकों की माँग थी जो पुरानी सामंती व्यवस्था को बहाल करने के बदले यूरप की तरह अपने देश का आर्थिक विकास करना चाहते थे। शुक्लजी समाज और साहित्य को विकासवादी दृष्टि से देखते थे; विकासवादी दृष्टि बड़े या छोटे भूस्वामियों की वर्गदृष्टि नही थी।

११. स्वाधीनता आन्दोलन और सर्वहारा क्रान्तिवाद

१९०७ में शुक्लजी का चिन्तन उस समय के लिबरल नेताओं के चिन्तन से आगे बढ़ा हुआ है। लिबरल नेता समाज-सुधार के लिए, आधुनिक शिक्षा के प्रसार के लिए, भारत में लोकतन्त्र की स्थापना के लिए अंग्रेजी राज को जरूरी समझते थे। शुक्लजी इस सबके लिए भारतीय जनता के अपने प्रयत्नों का भरोसा करते थे। उस समय के कांग्रेसी नेताओं के लिए स्वाधीन भारत की स्थिति ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर थी, बाहर नही। औपचारिक रूप से उन्होंने पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा १९३० में की, अनौपचारिक रूप से डोमीनियन स्टेटस उनका लक्ष्य १९४७ तक बना रहा। १९४५-४७ के जन आन्दोलन—नाविक विद्रोह, आज़ाद हिन्द फौज के नेताओं से सम्बन्धित प्रदर्शन, मजदूरों की हड़तालें, किसानों के संघर्ष आदि—के दबाव से लाभ उठाकर उन्होने डोमीनियन स्टेटस से कुछ अधिक प्राप्त किया पर ब्रिटिश साम्राज्य से अपने आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्ध बनाये रहे। भारत में सशस्त्र क्रान्ति का प्रयास करनेवाले युवक, वासुदेव बलवन्त फडके, खुदीराम बोस, लाला हरदयाल, रामप्रसाद बिस्मिल, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, ये सब पूर्ण स्वाधीनता के समर्थक थे, इनकी कल्पना मे स्वाधीन भारत की स्थिति ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर नही, बाहर थी। बालकृष्ण भट्ट को क्रान्तिकारियों से गहरी सहानुभूति थी। वीर भारत तलवार ने उन्हें 'उग्रपन्थी राष्ट्रवादी' ठीक कहा है। ('आलोचना', जुलाई-सितम्बर, '८४; पृ० ७४)। रामचन्द्र शुक्ल को भी इनसे गहरी सहानुभूति थी; इसी अर्थ में वह भी 'उग्र राष्ट्रवादी' थे। वह उन साम्राज्य-विरोधी लेखकों के प्रतिनिधि हैं जो भारत को पूर्णतः स्वतन्त्र, ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर, एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं। भारत मे सशस्त्र क्रान्ति का प्रयास करनेवाले युवक क्रमशः इस सिद्धान्त की ओर बढ़ रहे थे कि जनता को, विशेष रूप से किसानों को संगठित करके ही क्रान्ति के प्रयास में सफलता मिल सकती है। रामप्रसाद बिस्मिल ने यह बात बहुत स्पष्ट रूप में **आत्मकथा** में लिख दी थी।

शुक्लजी १९०७ में लिबरलों से आगे हैं, बहुत से लोकतन्त्रवादियों से भी आगे हैं। उनकी शिक्षा प्रसार योजना की विशेषता है, उसमें जनता की भूमिका। स्कूलों और कालेजों से बाहर प्रत्येक ग्रामवासी को यह जानना चाहिए कि अधिक काम करने के बाद भी उसे उसके बदले में कम क्यों दिया जाता है। स्वाधीनता आन्दोलन से किसान की स्थिति में परिवर्तन होना चाहिए। किस तरह परिवर्तन होगा, यह सब शुक्लजी ने नही लिखा किन्तु परिवर्तन होना चाहिए, यह आशय स्पष्ट है। शुक्लजी ने चन्द्रशेखर आजाद से किसानों को संगठित करने के बारे में जो कुछ कहा, और **हिन्दी साहित्य का इतिहास** में उन्होंने गाँव-गाँव राजनीतिक और **आर्थिक परतन्त्रता** के विरोध की भावना जगाने की जो बात लिखी, इससे उनके लोकतन्त्रवाद की दिशा पहचानी जा सकती है। यह नये जनतन्त्र की दिशा है,

समाजवादी चेतना की दिशा है।

पर शुक्लजी ने तुलसीदास के लिए लिखा था, "उनका लोकवाद वह लोकवाद नहीं है, जिसका अकाण्ड ताण्डव रूस में हो रहा है। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी न हिला सके, अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिए कोई फल ही न देख सके।" १९१७ से लेकर अब तक पूंजीवादी लेखक यही कहते आये हैं कि रूस की जनता गुलाम है, उसे अपनी मेहनत का फल नहीं मिलता, वह अधिकारियों की आज्ञा के बिना हाथ-पैर भी नही हिला सकती। शुक्लजी पर इस प्रचार का असर हुआ था, उसे उन्होंने सच मान लिया था। लेनिन को जो सफलता मिली, उसका कारण उन्होंने यह समझा कि नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ और लेनिन ने उससे लाभ उठाया। रूस से भागकर बहुत से लेखक दूसरे देशों में शरण ले रहे थे, इसे शुक्लजी ने अपनी स्थापना का प्रमाण माना। उन्होंने लिखा, "जनता के किसी भाग की दुर्वृत्तियों के सहारे जो व्यवस्था स्थापित होगी, उसमें गुण, शील, कला-कौशल, बल-बुद्धि के असामान्य उत्कर्ष की सम्भावना कभी नही रहेगी, प्रतिभा का विकास कभी नही होगा। रूस से भारी-भारी विद्वानों और गुणियों का भागना इस बात का आभास दे रहा है।" (**तुलसीदास**, सं० २००५, पृ० ४४)। ब्रिटेन, अमरीका आदि देशों में धुआँधार प्रचार किया गया था कि सोवियत सत्ता साहित्य और संस्कृति की शत्रु है। यह प्रचार अभियान अभी तक जारी है। शुक्लजी इससे प्रभावित हुए थे।

सोवियत साहित्य पुराने समय की सम्पूर्ण साहित्यिक उपलब्धियों का निषेध है, यह धारणा भी खूब प्रचारित की गयी थी। १९३९ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अन्तर्गत साहित्य परिषद के स्वागताध्यक्ष पद से अपने भाषण में शुक्लजी ने कहा था, "योरप की दशा तो आजकल यह हो रही है कि वहाँ जीवन के हर एक विधान से उसे धारण करनेवाला शाश्वत तत्व निकलता जा रहा है। क्या राजनीति, क्या समाज, क्या साहित्य सब डगमगा रहे हैं। रूस के बोल्शेविकों की बात सुनिये तो वे बड़ी उपेक्षा से अब तक के सारे साहित्य को ऊँचे वर्ग के लोगों का साहित्य बताकर बढ़ैयों, लोहारों और मजदूरों के साहित्य का आसरा देखने को कहेंगे। जर्मनी की ओर दृष्टि दौड़ाइये तो वहाँ केवल नात्सी सिद्धान्तो का समर्थक साहित्य ही सिर उठा सकता है। फ्रायड साहब अभी मरे हैं जिनकी समझ में स्वप्न भी हमारी अतृप्त वासनाओं के तृप्ति विधान के छायामय रूप हैं और काव्यादिकलाएँ भी हमारी अतृप्त कामवासनाओं की तृप्ति के विधान हैं।" (**चिन्तामणि**-३, दिल्ली, १९८३, पृ० २७६)। उस समय भारत में हिटलर की वीरता के प्रशसक काफी थे। शुक्लजी साहित्य के प्रति नात्सी नीति का विरोध करते हैं। उस समय ऐसे काफी लेखक थे जो मार्क्स की तुलना में फ्रायड को सही प्रगतिशील विचारक मानते थे अथवा मार्क्स और फ्रायड के समन्वय की बात करते थे। शुक्लजी साहित्य और ललित कलाओं को अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति न मानते थे। यह सब उनके चिन्तन का प्रगति-

शील पक्ष है। क्या समाजवादी साहित्यकारों को समस्त पुराने साहित्य का निषेध करना चाहिए? स्पष्ट ही उत्तर है, नहीं। यहाँ भी शुक्लजी की मूलभूत धारणा सही है। रह जाता है सवाल तथ्यों का। क्या यह बात सही है कि रूस में बोल्शेविक अब तक के सारे साहित्य को ऊँचे वर्ग के लोगों का साहित्य कहकर उसकी उपेक्षा करते थे, केवल सर्वहारा वर्ग का साहित्य निर्मित कराना चाहते थे? रूस में ऐसे बोल्शेविक थे। ये अति वामपन्थी और ट्रोत्स्कीवादी धारणाओं का प्रचार करते थे। लम्बे संघर्ष के बाद इन्हें बोल्शेविक दल से निकाला गया और दल के बाहर इनकी कार्यवाही रोकी गयी।

शुक्लजी का भाषण १९३९ का है। उससे दो साल पहले मार्च १९३७ के 'विशाल भारत' में शिवदानसिंह चौहान का लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' प्रकाशित हुआ। यदि शुक्लजी ने वह लेख पढ़ा हो और यह समझा हो कि बोल्शेविक लोग पुराने साहित्य की उपलिब्धयों को नकारते हैं तो इसके लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। समाजवादी क्रान्ति के सत्रह साल बाद सोवियत लेखकों के सम्मेलन में जो समाजवादी यथार्थवाद का नारा दिया गया, उसे भारत पर लागू करते हुए शिवदानसिंह चौहान ने लिखा, "साम्यवादी यथार्थवाद साहित्य की अन्य सभी धाराओं से वस्तु, रूप, प्रकाशन और सिद्धान्त में भिन्न है। वह सबका व्यतिरेक कर स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होने का दावा करता है। यह एक युद्धात्मक, असहनशील, क्रान्तिकारी धारा है।" **सबका व्यतिरेक** अर्थात् समस्त पुराने साहित्य को नकारना, चौहान की निगाह में 'साम्यवादी यथार्थवाद' का यही सारतत्व था। (यहाँ सोशलिस्ट का अनुवाद है साम्यवादी।)

ज़रा भारतीय दर्शन पर निगाह डालिये। यहाँ अनादि काल से "अनेको बेहूदी बातें गढ़-गढ़कर वर्ण व्यवस्था कायम की और रखी गयी। तब से अब तक द्वैतवाद को लीजिए या विशिष्टाद्वैतवाद को या भारतीय दर्शन के अन्य पहलुओं पर नजर डालिए; गौतम, मनु, वेदव्यास या शंकराचार्य, चाहे किसी को ले लीजिये; या इस भारतीय आदर्शवाद के नये संस्करणों पर दृष्टि डालिये—इन सब वेदान्त या कर्म की फिलासफियों में कुछ ऐसी बुनियादी बाते है, जो एक-दूसरे से अलग नही की जा सकतीं। [यहाँ आइडियलिज़म का अनुवाद है आदर्शवाद।] सभी सामन्ती समाज के (Feudal Society) औचित्य को स्वीकार करते हैं। अतः किसी प्रकार शोषित वर्ग कभी अपनी आन्तरिक एकता का अनुभव न कर सके, इसके लिए आदर्शवाद या समन्वयवाद पर खूब पालिश हुई और होती जा रही है। यह ऐसी पालिश है, जिसमें असली चेहरा दिखायी ही नही पड़ सकता।"

भारत में जितने भी दर्शन हैं, **सभी सामन्ती समाज के औचित्य को स्वीकार करते हैं**। सामन्ती समाज के औचित्य को अब स्वीकार नही किया जा सकता, अतः पुराने दर्शन को भी स्वीकार नही किया जा सकता। बात केवल भारतीय दर्शन या साहित्य की नही है, बात विश्वदर्शन और विश्वसाहित्य की है। औद्योगिक सर्वहारा के अभ्युदय से पहले, सर्वहारा क्रान्ति से पहले, दार्शनिकों ने जो कुछ सोचा है,

साहित्यकारों ने जो कुछ रचा है, सब त्याज्य है। कारण यह कि "हर एक देश, काल और समाज में यह बात सामान्य रूप से अब तक प्रचलित रही कि अब तक एक छोटी श्रेणी एक बड़ी श्रेणी पर अपनी सत्ता कायम किये जा रही है, और यह सत्ता छोटी श्रेणी के ही स्वार्थ में हमेशा रही है। अतएव 'यह सत्ता उचित है' के साबित करनेवाले विचारों में तो साम्य मिलेगा ही, चाहे होमर लिखे या कालिदास, शेक्सपियर या तुलसीदास।"

प्रगतिशील साहित्य होमर, कालिदास, शेक्सपियर और तुलसीदास की अस्वीकृति का साहित्य है। इनमें तुलसीदास की अस्वीकृतिवाली धारा काफी बलवती सिद्ध हुई है। हर दस-पन्द्रह साल के बाद इसमें ज्वार आया करता है। चौहान के लेख में इस धारा को विश्व साहित्य की अस्वीकृति के सही परिप्रेक्ष्य में देखा गया है। शुक्लजी ने जो कहा था कि बोल्शेविक अब तक के सारे साहित्य की उपेक्षा करते हैं, वह हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य के तत्कालीन सूत्रधारों के आचरण को देखते निराधार नहीं माना जा सकता।

अब हिन्दी साहित्य की स्थिति पर विचार कीजिये। "साहित्य का समाज के साथ अत्यन्त निकट सम्बन्ध रहता है" यह बताने के बाद चौहान कहते हैं, "मगर साहित्य—विशेषकर हिन्दी साहित्य, या उर्दू साहित्य—एक ऐसी परिस्थिति में उत्पन्न हुए, जब समाज की प्राचीन शृंखलाएँ स्वयं ही कमजोर हो चली थीं। इस प्रकार ये साहित्य (यद्यपि असन्तुष्ट और परतन्त्र जनता की भावनाओं को ग्रहण कर तथा उनकी आहों को अपने स्वर में भर कर प्रगतिशील हो सकते थे) उन्नति, प्रगति या विकास के सूचक न होकर समाज पर बन्धन ही बने रहे।" चौहान के इस वाक्य में स्वाधीनता आन्दोलन की अस्वीकृति छिपी हुई है। यहाँ कोई कहने-सुनने लायक साम्राज्यविरोधी संघर्ष तो था नहीं, जनता आहें भरकर रह जाती थी। पर हिन्दी उर्दू के साहित्यकार उसकी आहें भी अपने साहित्य में न भर सके। इस धारणा से तुलनीय है वीर भारत तलवार की स्थापना कि असहयोग आन्दोलन का मुख्य आधार शहरी शिक्षित मध्यवर्ग था और देश के गरीब किसानों से उसे कोई लगाव न था। यह तो हुई स्वाधीनता आन्दोलन की मूलभूत अस्वीकृति। अवध में एक वर्ग संघर्ष चला। यह संघर्ष मुख्यतः गरीब और साधारण किसानों का था और खेत मजदूर उनके साथ थे। यह वर्ग संघर्ष न तो प्रेमचन्द के कथा साहित्य में प्रतिबिम्बित है, न अन्य लेखकों की रचनाओं में। यह हुई आधुनिक हिन्दी साहित्य की मूलभूत अस्वीकृति।

अब देखें शिवदानसिंह चौहान भक्तिकाल के साहित्य के बारे में क्या कहते हैं।

"भक्तिकाल में भी केवल आत्मसमर्पण, भक्ति में तल्लीनता आदि भाव ही हमारे तुलसी, सूर आदि के साहित्य में भर पाये थे।" सवाल केवल हिन्दी साहित्य का नहीं है। सवाल पूरे भारतीय साहित्य का है। "हिन्दी साहित्य या अन्य किसी भारतीय साहित्य ने [अर्थात् अन्य किसी भाषा के साहित्य ने] कभी किसी तत्कालीन प्रचलित सामाजिक यथार्थवादी विचारधारा का दामन क्यों नहीं

पकड़ा ?"—यह मूल प्रश्न है। लेकिन साहित्य का समाज के साथ अत्यन्त निकट सम्बन्ध रहता है, अतः मूल प्रश्न सामाजिक है: "दो-तीन हजार वर्ष तक हम सामन्ती समाज में रहे। इस बीच में हमारी उन्नति क्यों न हुई, जबकि यूरोप के देशों में मनुष्य अर्द्ध-सभ्य दशा से उन्नति करता-करता सामन्तीय जमाने में आया, फिर उसकी शृंखलाओं को तोड़कर व्यावसायिक हो गया और फिर पूँजीवादी और अब एक स्थान पर यानी रूस में साम्यवादी ? आखिर यहाँ का समाज क्यों इतनी अर्द्ध सभ्य दशा में ही पड़ा दम तोड़ता रहा, हज़ारों वर्षों में राम और रावण यही दो नाम सीख पाया और आगे की एक मंजिल भी पूरी न की?" इस मूल प्रश्न का मूल उत्तर यह है कि "हमारी सामाजिक या आर्थिक प्रणाली में लगभग दो ढाई हजार वर्ष से कोई क्रान्ति नहीं हुई।" इस पर लज्जित होने के बदले यहाँ के लोग उस पर गर्व करते हैं। "हमारे यहाँ कोई क्रान्ति नहीं हुई, क्या यह कोई गौरव की बात है ? क्या भारत के धर्म के ठेकेदार इस पर शर्म से मुँह छिपाने का साहस न करेंगे ?"

इस स्थिति में अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका के बिना आप भारत के उद्धार की आशा कैसे कर सकते थे ? मुसीबत यह है कि स्वराज्य मिलने पर लोग फिर उसी पुराने ज़माने की तरफ लौट जाना चाहेंगे। "ये लोग ऐतिहासिक तथ्य की उपेक्षा तो करते ही हैं, साथ ही वर्तमान काल की ओर देखना या वास्तविकता को समझना भी नहीं चाहते। वर्तमान काल में अगर कोई हलचल या परिवर्तन है, तो यह 'असाधारण परिस्थितियों' की वजह से; अन्यथा स्वराज्य होते ही फिर वही पुराने राग की अलाप शुरू हो जायेगी। उनका ऐसा खयाल है। कौन जानता है, वे यह भी सोचते हों कि स्वराज्य होने पर बिहारी, देव, पद्माकर श्मशान से उठ आवेंगे और वाजिदअली शाह फिर से लखनऊ के नवाब बनाये जायेंगे ! शायद कोट पतलून बनानेवाले दर्जियों और बूट बनानेवाले मोचियों के अँगूठे कटवा लिये जायेंगे और अहमदाबाद, बम्बई की मिलें गोले से उड़ा दी जायेंगी; उन्हें अपना अँगरखा, मिर्ज़ई और चमरौधा जूता मुबारक। मगर प्रगतिशील साहित्यिक होने के लिए प्रगतिशील दृष्टिकोण की जरूरत पड़ती है।" वास्तविकता क्या है ? अंग्रेजी राज। इसे असाधारण परिस्थिति कौन समझता है ? वही लोग जो स्वराज्य की रट लगाये हैं। वाजिदअली शाह को अवध की गद्दी से किसने उतारा था ? अंग्रेज़ों ने। ये स्वराजी क्या चाहते हैं ? वाजिदअली शाह को फिर से लखनऊ का नवाब बनाना। कोट, पतलून और बूट पहनना किसने सिखाया ? अंग्रेज़ों ने। स्वराजी क्या चाहते हैं ? अँगरखा, मिर्ज़ई और चमरौधा जूता ! यदि भारत में अंग्रेजी राज कुछ दिन और बना रहे तो क्या बुरा है ?

हिन्दी साहित्य या अन्य किसी भारतीय साहित्य ने कभी किसी तत्कालीन प्रचलित सामाजिक यथार्थवादी विचारधारा का दामन क्यों नहीं पकड़ा—इस प्रश्न में **तत्कालीन प्रचलित** पर ध्यान दें। यहाँ के समाज में जड़ता, साहित्य और दर्शन में जड़ता—यथार्थवादी विचारधारा किसी भी काल में भारत की धरती पर तो प्रचलित हो न सकती थी, भारत के बाहर ही प्रचलित रही होगी, या फिर अंग्रेजी

राज कायम होने पर यहाँ प्रचलित हुई होगी। तो यथार्थवादी विचारधारा से प्रभावित न होने का मूल कारण था वर्णाश्रम धर्मवाली सामन्ती व्यवस्था की अपरिवर्तनशीलता। दूसरा कारण था आदर्शवाद। इसमें वेदान्त से लेकर स्वर्गनरक की पौराणिक कल्पनाएँ शामिल हैं। स्वर्ग—"वहाँ इन्द्र का वैभव है, विशाल अट्टालिकाएँ हैं, कामधेनु गाय है, अक्षयवट है, गंधर्व हैं और अक्षय सौंदर्यवाली अनन्त यौवना उर्वशी या मेनका जैसी परियाँ या हूरें हैं।" जैसे साहित्यकार वर्ण-व्यवस्थावाले समाज पर गर्व करते हैं, वैसे ही आदर्शवाद पर। "इन अक्ल के दुश्मनों को यह देखकर शर्म भी नही आती कि वे एक मुर्दे की पूँछ से बंधे हैं; लेकिन छुड़ाने का प्रयत्न नहीं करते! यही दो कारण हैं, जिनकी वजह से हमारे समाज या साहित्य में कोई जीवित विचारधारा अब तक न बह सकी।" ऐसा लगता है कि दोनों कारणों में दूसरा कारण ज्यादा शक्तिशाली था। बम्बई और अहमदाबाद में मिलें चालू हुईं, सामाजिक जड़ता किसी हद तक टूटी, पर अंग्रेजी राज में भी हिन्दी साहित्यकार कोई उल्लेखनीय कार्य न कर सके।

भारत के बाहर प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी लेखकों के दो खेमे बन गये हैं। "मगर भारतीय साहित्य में इस प्रकार श्रेणी विभाजन अभी तक नही हो पाया है, क्योंकि प्रगतिशील शक्तियों ने साहित्य के अखाड़े में अभी आकर ताल नहीं ठोंका है।" विश्व पैमाने पर जो श्रेणियाँ बनी हैं, उनमें भारतीय भाषाओं का एक भी लेखक नहीं है, न रवीन्द्रनाथ ठाकुर, न प्रेमचन्द, न अन्य कोई। भारत का प्रतिनिधित्व करनेवाले केवल एक साहित्यकार हैं, अंग्रेजी के लेखक मुल्कराज आनन्द! हिन्दी-उर्दू के लेखक प्रेमचन्द किस तरह के लेखक हैं? "हजारों वर्षों से अधिकार-च्युत, पददलित, अत्याचार पीड़ित स्त्रियों के लिए 'सेवासदन' और कर्ज और नौकरशाही के आतंक में रहनेवाले किसानों के लिए 'प्रेमाश्रम' खोलकर वे सन्तुष्ट हैं।" बेशक मरने से पहले वह यथार्थवादी लेखक बन गये पर अफसोस! "क्रान्तिकारी प्रेमचन्द का जीवन अभी शैशव में ही था कि उनका निधन हो गया।" मैथिलीशरण गुप्त? उनकी **भारत भारती** "न साम्राज्य विरोधी है और न दलित श्रेणी की भावनाओं की रक्षक। वह अगर कुछ है, तो साम्राज्यवाद की पृष्ठपोषक और ब्रिटिश साम्राज्यशाही की चाटुकार।" क्या मैथिलीशरण गुप्त इस ढंग के अकेले साहित्यकार हैं? नहीं, यह रोग अखिल भारतीय है। अंग्रेजी राज की प्रतिक्रिया स्वरूप "चारों ओर से पुनः 'वैदिककाल की ओर' की आवाज आने लगी। बंगाल में जिस प्रकार बंकिम बाबू और रवीन्द्रबाबू ने इस आवाज को ऊँचा किया, हिन्दी में गुप्तजी ने यही आवाज बुलन्द की।" अब आप समझ गये होंगे, संसार के प्रगतिशील साहित्यकारों में मुल्कराज आनन्द का नाम क्यों था, रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम क्यों नहीं था। लेकिन वैदिक काल की ओर लौट चलने की यह सनक इन सब पर क्यों सवार हुई?

इसलिए सवार हुई कि अंग्रेज सभ्य थे, भारतवासी असभ्य, बहुत से बहुत अर्द्ध सभ्य थे। "इस बार भारत पर जिन्होंने कब्जा किया, उनकी संस्कृति या सभ्यता

यहाँ के निवासियों से अधिक उन्नत थी ''उनके सपर्क में आने के कारण यहाँ की सांस्कृतिक छिन्नता होने लगी। इस कारण देश में और खासकर पढ़े-लिखे लोगों में बड़ी हलचल मचने लगी। लोगों को, और उनमें पुराने विचार के लोगों को, यह लगने लगा कि उनकी संस्कृति और सभ्यता की जमीन उनके पैरों के नीचे से तेज़ी के साथ निकलती जा रही है। इससे एक छुटपन (Inferiority Complex) या विद्वेष की भावना पैदा हुई; और वह अब तक यहाँ के लोगों में भरी हुई है। इसी भावना से प्रेरित होकर स्वभावत: लेखकों का एक समुदाय उठ खड़ा हुआ, जो अतीत के गौरव के गीत गाने लगा।" एक ओर है प्रगतिशील अंग्रेजी सभ्यता, दूसरी ओर है प्रतिक्रियावादी भारतीय सभ्यता। अंग्रेजी राज की प्रगतिशीलता जिन्होंने स्वीकार नहीं की, उनमें हैं रवीन्द्रनाथ ठाकुर और बंकिमचंद्र चटर्जी। इन्हीं के पास खड़े हैं मैथिलीशरण गुप्त।

मृत्यु से पहले प्रेमचन्द तो यथार्थवादी लेखक बन गये थे, **भारत भारती** के बाद मैथिलीशरण गुप्त का तो और भी पतन हुआ। " 'भारत भारती' के लिखने के बाद उनकी विचारधारा पतनोन्मुख होकर रामायण या महाभारत के ही कुछ प्राचीन युगों तक सीमित रह गयी।" छोड़िये मैथिलीशरण गुप्त को। यहाँ कुछ छायावादी कवि भी हैं। चौहान का मत है : "इस छायावाद की धारा ने हिन्दी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया, उतना शायद ही हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग ने भारत को पहुँचाया हो।" और रामचन्द्र शुक्ल ? वह इस योग्य भी नहीं थे कि मैथिलीशरण आदि के साथ नाम लेकर उनकी आलोचना की जाये। पन्द्रह साल बाद शिवदानसिंह चौहान ने अक्तूबर १९५२ की 'आलोचना' में शुक्लजी पर एकांगी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने का आरोप लगाया। मानना चाहिए कि इस अवधि में शुक्ल जी का महत्व इतना तो बढ़ा कि उनकी आलोचना करना जरूरी हो गया।

वीर भारत तलवार ने १९८५ में रामचन्द्र शुक्ल को अन्य साहित्यकारों से अलग करके उन पर आक्रमण किया, शिवदानसिंह चौहान ने १९३७ में समूचे भारतीय दर्शन और साहित्य पर हमला किया। यदि चौहान १९३७ में शुक्लजी पर लिखते तो बहुत कुछ वही लिखते जो वीर भारत के लेख में है। यदि वीर भारत तलवार की तर्क योजना भारतीय साहित्य पर लागू की जाये तो उसका वही रूप दिखायी देगा जो चौहान के लेख में है। दोनों की आधार भूमि एक है। अंग्रेजी राज कायम होने से पहले भारतीय समाज में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ —यह मूल स्थापना है। (**भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद** तथा **मार्क्स और पिछड़े हुए समाज** में इस स्थापना पर मैं विस्तार से लिख चुका हूँ, इसलिए यहाँ उसके बारे में और कुछ कहना अनावश्यक है।) भारतीय समाज में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, तब साहित्य और संस्कृति में परिवर्तन कहाँ से होगा ? वीर भारत की तर्क योजना के बल पर पुराने भारतीय दर्शन और साहित्य के बारे में वही निष्कर्ष निकलेगा जो शिवदानसिंह चौहान ने निकाला है।

फिर आया अंग्रेजी राज। पाश्चात्य सभ्यता का प्रकाश फैला। अन्धकार में डूबे हुए लोगों ने इसका विरोध किया। वीर भारत ने पाश्चात्य शिक्षा, व्यक्तिवाद आदि के विरोधियों में दो को चुना है, लोकमान्य तिलक और रामचन्द्र शुक्ल को। शिवदानसिंह चौहान ने समूचे भारतीय साहित्य को पाश्चात्य सभ्यता का विरोधी माना; शुक्लजी की तरह भारत के सारे लेखक वर्ण धर्म पोषक पुरानी संस्कृति से चिपके रहना चाहते हैं। शुक्लजी पर आक्रमण समूचे हिन्दी साहित्य पर आक्रमण है, यह वीर भारत के लेख के साथ चौहान के लेख को मिलाकर देखने से स्पष्ट हो जायगा। जिन आधारभूत मान्यताओं के बल पर वीर भारत ने शुक्लजी की आलोचना की है, उन्ही की तर्कसंगत परिणति है चौहान द्वारा समस्त भारतीय साहित्य का तिरस्कार। वीर भारत तलवार ने प्रेमचन्द को शुक्लजी के मुकावले खड़ा किया है पर किसानों के जिस क्रान्तिकारी आन्दोलन की कल्पना वीर भारत ने की है, वह प्रेमचन्द के साहित्य में नही है। एक तरह के किसान मजदूर आन्दोलन की कल्पना चौहान के लेख में भी है। वह आन्दोलन भी भारतीय साहित्य में कही प्रतिबिम्बित नही है। वीर भारत तलवार द्वारा शुक्लजी का और चौहान द्वारा समस्त भारतीय साहित्य के तिरस्कार का कारण है इन दोनों लेखकों का प्रच्छन्न सर्वहारा क्रान्तिवाद। इनके लिए समाजवादी विचारधारा और किसान मजदूर आन्दोलन राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए नही है, वरन् इस आन्दोलन को एक तरफ ठेलकर जनवादी क्रान्ति को सर्वहारा क्रान्ति बना देने के लिए है।

चौहान का प्रगतिशील साहित्य साम्राज्यविरोधी होगा, "लेकिन साथ ही उसे साम्राज्यशाही के सहायक भारत के महन्तवाद, सामन्तवाद तथा चमगादड़ रूपी पूंजीवाद का भी दुश्मन होना पड़ेगा।" "प्रगतिशील साहित्य शोषण का साथ नही दे सकता, चाहे वह लंकाशायर और टोकियो के पूंजीपति द्वारा हो या बम्बई या अहमदाबाद के पूंजीपति या दक्खिन के महन्तो और देशी नरेशो द्वारा हो।" देशी पूंजीवाद और विदेशी पूंजीवाद दोनों को एक साथ खत्म करना है, जनवादी क्रान्ति और सर्वहारा क्रान्ति दोनो एक साथ करनी है, इसीलिए प्रगतिशील साहित्य 'साम्यवादी यथार्थवाद' का साहित्य है। वीर भारत ने सर्वहारा क्रान्ति की बात इस तरह नही कही पर उनके निर्धन किसान और खेत मजदूर, छोटे जमीदारो और धनी किसानो के विरुद्ध हल्ला बोलकर, बढ़ते है सर्वहारा क्रान्ति की ओर। राधामोहन गोकुलजी ने **देश का धन** (१९०८) मे देशी पूंजीपतियो को जनता का 'रुधिर पान करने' वाला कहा। उनके चिन्तन मे खामी क्या है? "राधामोहनजी 'रुधिर पान' को सभ्यता को मिटाने की नही, नियन्त्रित करने की बात कहते हैं।" ('आलोचना', जु०-सि०, ८४, पृ० ७२)। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान देशी पूंजीवाद को मिटाना है, नियन्त्रित करने से काम न चलेगा।

राधामोहनजी ने कहा, देशी पूंजीपतियों मे इतनी ईमानदारी तो होनी चाहिए जितनी चोर-डाकुओ में होती है। क्या राधामोहनजी देशी पूंजीपतियों को चोर डाकू समझते थे? हर्गिज नही। "राधामोहनजी ने देश मे उद्योग-धन्धे खड़े करने

की आवाज़ उठायी थी। क्या वे चोर डाकुओं के व्यवसाय का प्रसार चाह रहे थे ?" (उप०)। बहुत माकूल सवाल है। कम्युनिस्टों को पराधीन देशों में उद्योग-धन्धे खड़े करने की माँग न करनी चाहिए। यदि वे ऐसी माँग करेंगे तो साबित होगा कि वे देशी पूंजीपतियों को चोर डाकू नहीं समझते। साम्राज्यवादी नहीं चाहते कि पराधीन देशों में उद्योग-धन्धों का विकास हो। जैसा कि वीर भारत ने बताया है, "अँगरेज़ इस काम के लिए भारत नहीं आये थे।" (१०)। तब कम्युनिस्टों को औद्योगिक विकास की माँग करना चाहिए क्या ? कैसे कर सकते हैं ? कम्युनिस्ट होकर क्या वे चोर डाकुओं के व्यवसाय का प्रसार चाहेंगे ? चाहना वही चाहिए जो साम्राज्यवादी चाहते हैं—भारत का औद्योगिक विकास न हो !

रूस स्वाधीन देश था, वहाँ पूंजीवाद का विकास हो रहा था, पर राज्यसत्ता पर सामन्त वर्ग का अधिकार था, सामन्त वर्ग का यह प्रभुत्व पूंजीवादी विकास में बाधक था। १८९६ में लेनिन ने मज़दूर वर्ग की पार्टी, रूसी सोशल डिमौक्रैटिक पार्टी, के कार्यक्रम का मसौदा तैयार किया। इसमें उन्होंने लिखा कि पार्टी निरंकुश राज्यसत्ता के खिलाफ संघर्ष चलायेगी, साथ ही "पूंजीवाद के विकास को रोकने की, फलतः मज़दूर वर्ग के विकास को रोकने की, तमाम कोशिशों" के खिलाफ युद्ध ठानेगी। (Lenin, Collected Works, मास्को, १९७२, पृ० ९६)। उद्योग-धन्धों के विकास के बिना औद्योगिक सर्वहारा का निर्माण हो जाये तो समाजवादी क्रान्ति का काम कितना सरल हो जाये, पर दुर्भाग्य से ऐसा होता नहीं है। इसलिए जो लोग समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहते हैं, वे औद्योगिक विकास का समर्थन करते हैं, उसके रास्ते में जो भी रुकावटें होती हैं, उनके खिलाफ संघर्ष करते हैं। पूंजीवादी विकास के लिए स्वच्छन्द व्यापार ज़रूरी होता है। इस तरह के विकास के मार्ग में जो रुकावटें हों, क्या उनके खिलाफ कम्युनिस्टो को संघर्ष करना चाहिए ? लेनिन की राय थी कि उन्हें संघर्ष करना चाहिए।

रूस में एक दल लोकवादियों (नरोद्निकों) का था। ये लोग मानते थे, पूंजीवाद रूस के लिए अस्वाभाविक है, उसका विकास न होना चाहिए। इनकी विचारधारा के खिलाफ संघर्ष चलाते हुए लेनिन ने १८९५ में लिखा था, "यद्यपि रूसी मार्क्सवादी इस बात पर खूब जोर देते हैं और सबसे पहले जोर देते हैं कि स्वच्छन्द व्यापार और संरक्षण की समस्या पूंजीवादी समस्या है, वह पूंजीवादी नीति की समस्या है, फिर भी उन्हें स्वच्छन्द व्यापार का समर्थन अवश्य करना चाहिए। कारण यह है कि रूस में यह खूब स्पष्ट है कि संरक्षण का स्वरूप प्रतिक्रियावादी है, उससे देश का आर्थिक विकास धीमा पड़ जायेगा, उससे समूचे पूंजीपति वर्ग का हित नही होता वरन् मुट्ठी भर परम शक्तिशाली महासेठों का ही हित होता है, और स्वच्छन्द व्यापार का अर्थ उस प्रक्रिया को तेज़ करना है जिससे पूंजीवाद से मुक्त होने के साधन प्राप्त होते हैं।" (उप०, खण्ड-१, पृ० ४३६)।

रूस तो औद्योगिक विकास में बहुत पिछड़ा हुआ था, ब्रिटेन यूरुप में सबसे विकसित पूंजीवादी देश था। लेकिन यहाँ भी राज्यसत्ता पर भूस्वामी अभिजातों

का गुट हावी था। पूँजीवाद के भरपूर विकास के लिए सत्ता पद से इस गुट को हटाना जरूरी था। किन्तु यह गुट पराधीन आयर्लैण्ड में अपनी जमीदारियाँ कायम किये था और वहाँ अपने पैर जमाये था। इसलिए ब्रिटेन के पूँजीवादी विकास के लिए आयर्लैण्ड का स्वाधीन होना जरूरी था। २९ नवम्बर, १८६९ के पत्र में मार्क्स ने कुगलमन को लिखा था, "यहाँ मुक्ति की पहली शर्त है अंग्रेज भूस्वामी गुट का तख्ता उलटना। इस शर्त का पूरा होना असम्भव बना हुआ है क्योंकि यहाँ उसके गढ़ पर तब तक हल्ला नहीं बोला जा सकता जब तक वह अपनी मजबूत मोर्चेबन्दी वाली बाहरी चौकियाँ आयर्लैण्ड में बनाये हुए है।'''आयर्लैण्ड से उसके वर्तमान सम्बन्ध के कारण न केवल इंग्लैण्ड का आन्तरिक सामाजिक विकास पंगु बना रहता है वरन् उसकी विदेशनीति, विशेष रूप से आस्ट्रिया और अमरीका से सम्बन्धित उसकी विदेश नीति, का भी यही हश्र हो रहा है।" इंग्लैण्ड के भरपूर पूँजीवादी विकास के लिए अभिजात गुट के प्रभुत्व को खत्म करना जरूरी था, रूस के भरपूर पूँजीवादी विकास के लिए इसी तरह जारशाही को खत्म करना जरूरी था। सामन्ती रुकावटों के विरुद्ध औद्योगिक विकास की माँग न करना सामन्तवाद का समर्थन करना है। पराधीन देशों में ऐसे विकास की माँग न करना सामन्तवाद के साथ साम्राज्यवाद का भी समर्थन करना है। यदि १८६९ में भूस्वामीवर्ग इंग्लैण्ड के विकास में बाधक था, तो जिस आयर्लैण्ड में उसने मोर्चेबन्दी कायम कर रखी थी, उसके पूँजीवादी विकास में तो और भी कठिनाइयाँ थी। पर भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने औद्योगिक विकास की मूल प्रक्रिया पूरी करके सर्वहारा क्रान्ति की परिस्थितियाँ तैयार कर दी थी!

शिवदानसिंह चौहान ने लिखा था, "पूँजीवादी साम्राज्यशाही के आगमन से जो एक क्रान्तिकारी शोषित मजदूर वर्ग उठ खड़ा हुआ है, जिसका उठना ऐतिहासिक और आर्थिक है, जिसका अपना अलग वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, जो अपनी महान शक्ति, महान प्रवृत्ति के कारण समाज में एक नयी व्यवस्था कायम करने की क्षमता रखता है, जो हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई का नेतृत्व ग्रहण करेगा, उस क्रान्तिकारी वर्ग की यहाँ के साहित्यिक मुँह बिचकाकर उपेक्षा कर देते हैं।" मार्क्स के लिए ब्रिटेन के शासक भूस्वामी वर्ग ने वहाँ के पूँजीवादी विकास का, अतः मजदूर वर्ग की मुक्ति का, रास्ता रोक रखा था; लेनिन के लिए रूस में यही काम और भी बड़े पैमाने पर सामन्ती वर्ग ने कर रखा था, पर भारत मे पूँजीवादी साम्राज्यशाही ने क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग तैयार कर दिया था! यह बात त्रोत्स्की चीन के लिए कह चुके थे, ऐम० ऐन० राय भारत के लिए कह रहे थे। शिवदानसिंह चौहान अपने लेख में वही बात दोहरा रहे थे।

शुक्लजी ने यूरुप और भारत के औद्योगिक विकास तथा मजदूर आन्दोलन की परिस्थितियों में भेद करते हुए लिखा था, "योरप में जब देश के देश बड़े-बड़े कल-कारखानों से भर गये हैं और जनता का बहुत-सा भाग उनमें लग गया है तब मजदूर आन्दोलन की नौबत आयी है। यहाँ अभी कल-कारखाने केवल चल खड़े हुए हैं

और उनमें काम करनेवाले थोड़े से मजदूरों की दशा खेत में काम करनेवाले करोड़ों अच्छे-अच्छे किसानों की दशा से कहीं अच्छी है। पर मजदूर आन्दोलन साथ लग गया।" (**हिन्दी साहित्य का इतिहास**, पृ० ७७९)। शुक्लजी ने यूरुप और भारत के औद्योगिक विकास में जो भेद किया था, वही भेद शिवदानसिंह चौहान की आँखों से ओझल था। मजदूर आन्दोलन का लक्ष्य था राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन सुदृढ़ हो, वह सुसंगत रूप से साम्राज्य विरोधी नीति पर चले, पर इस लक्ष्य की सिद्धि में त्रोत्स्कीवादी, रायवादी विचारधारा का प्रभाव बाधक था। शुक्लजी का आशय सर्वहारा क्रान्तिवाद के तत्कालीन प्रचार-प्रसार को ध्यान में रखने से स्पष्ट हो जायेगा। शुक्लजी के वर्तमान विरोध का कारण भी सर्वहारा क्रान्तिवाद के समकालीन प्रचार-प्रसार पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायेगा।

वीर भारत तलवार को इस बात पर आपत्ति है कि १९०८ में राधामोहन गोकुलजी ने पूँजीपतियों से कहा, कारीगरों के साथ उदारता बरतो, कम्पनियाँ बनाओ, बुद्धिमानी के साथ ईमानदारी से भी काम लो। "जिस बात को राधामोहन गोकुलजी १९०८ में नहीं पकड़ सके, उसको १९०७ में माधवराव सप्रे लिख चुके थे। मई १९०७ की 'सरस्वती' में सप्रेजी ने 'हड़ताल' शीर्षक लेख लिखा था। मजदूर किन परिस्थितियों में हड़ताल करने को लाचार होते हैं, यह बतलाते हुए उन्होंने लिखा, 'जब किसी देश की सम्पत्ति थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में आ जाती है और अन्य लोगों को मजदूरी से अपना निर्वाह करना पड़ता है, तब पूँजीवाले अपने व्यापार का सब नफा स्वयं आप ही ले लेते हैं, और जिन लोगों के परिश्रम से यह सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है, उनको वे पेट भर खाने को नहीं देते। ऐसी दशा में श्रम करनेवाले मजदूरों को हड़ताल करनी पड़ती है।' हड़ताल पूँजीपति वर्ग की मुनाफाखोरी को रोकने और अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए मजदूर वर्ग का एक अस्त्र है।" ('आलोचना', जु० सि०, '८४, पृ० ७३)। वीर भारत ने आगे चलकर शुक्लजी के मुकाबले प्रेमचन्द को खड़ा किया, वैसे ही यहाँ उन्होंने राधा मोहनजी के मुकाबले माधवराव सप्रे को खड़ा किया। पर न तो सप्रेजी सर्वहारा क्रान्तिकारी थे, न प्रेमचन्द। सप्रेजी का वाक्य यों शुरू होता है : **जब किसी देश की सम्पत्ति थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में आ जाती है**। वीर भारत ने मान लिया कि भारत की सम्पत्ति थोड़े से देशी पूँजीपतियों के हाथ में आ गयी, इसलिए मजदूर जैसा संघर्ष यूरुप में चला सकते हैं, वैसा ही संघर्ष उन्हें भारत में चलाना चाहिए। जिस बात को वीर भारत तलवार १९८४ में नहीं पकड़ सके, उसको १९०७ में माधवराव सप्रे लिख चुके थे। वह बात है यूरुप और भारत के औद्योगिक विकास में आकाश-पाताल के अन्तर की। "श्रम और पूँजी में (अर्थात् मजदूरों और कारखानेवालों में) जो हित-विरोध होता है उसका नाश करने के लिए यूरुप में यूनियन के सिवा और भी अनेक उपाय किये जाते हैं। परन्तु यूरुप और हिन्दुस्तान की आर्थिक तथा औद्योगिक दशा में आकाश-पाताल का अन्तर है। वहाँ के सब कारखाने स्वतन्त्र हैं, किन्तु यहाँ एक भी ऐसा कारखाना नहीं है जो

किसी-न-किसी तरह सरकार की कृपा पर अवलम्बित न हो। यथार्थ में इस देश के सब कारखाने या तो खुद सरकार के हाथ में हैं, या सरकार के आश्रित हैं। जैसे रेलवे, टेलिग्राफ, पोस्ट आफिस, आबपाशी, अकालरक्षण आदि सब सरकार ही के अधीन हैं। यदि यह कहा जाय कि, इस देश की गवर्नमेण्ट एक बड़े भारी कारखाने की मालिक है तो अतिशयोक्ति न होगी।" (**महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नव जागरण**, पृ० ८०-८१)।

१९३७ के शिवदानसिंह चौहान भटके हुए मार्क्सवादी थे, १९८४-८५ के वीर भारत तलवार सचेत रूप से दूसरों को भटकानेवाले मार्क्सवादी हैं। जब किसी देश की सम्पत्ति थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में आ जाती है, इस स्थिति को वह भारत पर फिट कर देते हैं। माधवराव सप्रे ने यूरुप और भारत के आर्थिक तथा औद्योगिक विकास में जो आकाश-पाताल का अन्तर बताया, उसे गोल कर जाते हैं। भारत के बारे में लेनिन को उद्धृत करते हैं, लेनिन ने तिलक की सज़ा के विरोध में बम्बई के मजदूरों के प्रदर्शन का जोरदार अभिनन्दन किया, उसके बारे में चुप्पी साध जाते हैं। तिलक भारतीय राष्ट्रवाद के प्रतिनिधि थे। उनके समर्थन में किया गया मजदूरों का प्रदर्शन देशी पूँजीवाद के विरुद्ध प्रदर्शन नहीं है, अतः वीर भारत के लिए उसका महत्व नही है। वह इतिहास का विवरण इस तरह प्रस्तुत करते हैं कि साम्राज्यवाद की भूमिका उदात्त दिखायी दे, भारत का अपना विकास क्षुद्र जान पड़े। वह राजनीतिक परिस्थितियों का विश्लेषण इस तरह करते हैं कि मुख्य शत्रु साम्राज्यवाद न प्रतीत हो वरन् साम्राज्यविरोधी शक्तियों में विघटन हो। उन्होंने शुक्लजी की विचारधारा का जो विश्लेषण किया है, वह इसी रण कौशल का नमूना है।

जब किसी देश पर कोई विदेशी शत्रु हमला कर रहा हो तब उस देश की जनता के सभी वर्गों के सामने पहला और सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य यह होता है कि वे उस शत्रु के हमले से देश की रक्षा करें, और यदि उसने अधिकार कर लिया हो तो हर सम्भव उपाय से उसके प्रभुत्व को खत्म कर दें। शत्रु सामाजिक विकास में आगे है, उसे प्रभुत्व जमाये रहने देना चाहिए जिससे हमें आगे बढ़ने का मौका मिले, यह तर्क क्रान्ति-विरोधियों का है। १८५३ में मार्क्स ने भारत पर अपने लेखों में अंग्रेज़ों की विध्वंसक भूमिका को प्रगतिशील मानते हुए भी अंग्रेज़ों के प्रभुत्व को बनाये रखने का सुझाव कहीं नही दिया। इसके विपरीत अंग्रेज़ों द्वारा प्रशिक्षित देशी सेना को उन्होंने देश की मुक्ति का साधन कहा था। १८५७ में गदर पर अपने लेखों मे उन्होंने अपनी इस स्थापना की पुष्टि की थी। १९३५ में जापान ने चीन पर हमला किया। चीन पिछड़ा हुआ देश था, औद्योगिक विकास में जापान यूरुप के विकसित देशों की श्रेणी में था, वह एशिया में ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवादों का प्रतिद्वन्दी था। वह चीन के लिए और समस्त एशिया के लिए अपनी प्रगतिशील भूमिका की घोषणा उसी तरह कर रहा था जिस तरह अंग्रेजी राज के समर्थक उसकी प्रगतिशील भूमिका की घोषणा भारत में कर रहे थे। पर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने उसकी यह घोषणा स्वीकार नही की। माओ ज़े दुंग ने कहा,

"चीन की धरती जापानियों को मिले या चीनियों के पास रहे—यह पहला सवाल है।" (माओ त्से तुंग : चुनी हुई कृतियाँ, पहला ग्रन्थ, पृ० ३३४)। भारत की धरती भारतवासियों के पास रहे या उस पर अंग्रेजों का अधिकार हो, यह सवाल भारतीय जनता के सामने १८५७ में था, १९२१ में भी था।

चीन भारत से बड़ा देश है। उसकी आबादी भारत की आबादी से बड़ी है। फिर भी तमाम सामन्तवादी पिछड़ेपन के बावजूद चीन में उतने मनुष्य भुखमरी से नहीं मरे जितने भारत में। इसका कारण यह था कि चीन पर अंग्रेजों का सीधा शासन न था जैसे भारत में था। भारत में कुछ समाज सुधारक ऐसे थे जो अंग्रेजी राज के विरोधी थे लेकिन ऐसे भी काफी थे जो उसके समर्थक थे, जो समाज सुधार के लिए अंग्रेजी राज को आवश्यक मानते थे। इनका समाज सुधार भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शोषण को बनाये रखने का एक बहाना बन गया था। १८५७ में और उसके बाद अधिकांश भारतीय सामन्तों ने अंग्रेजों का साथ दिया, ये सब प्रतिक्रियावादी थे। जो छोटे-बड़े सामन्त अंग्रेजों से लड़े, वे प्रगतिशील थे। चीन के जापान विरोधी संग्राम ने सिद्ध कर दिया कि साम्राज्यवाद से देश को मुक्त करने में पूँजीपति ही नही, सामन्त भी योगदान कर सकते हैं। अंग्रेजी राज में जो छोटे जमींदार तबाह हो रहे थे और जो बड़े जमींदार उसके आधार स्तम्भ बने हुए थे, उनमें भेद करना जरूरी था। नये पुराने सामन्ती शोषण में गुणात्मक अन्तर था, यह बात याद रखनी चाहिए। अंग्रेजी राज में सूदखोरी बहुत बड़े पैमाने पर फैली, यह बात भुलायी नहीं जा सकती।

लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में स्वाधीनता आन्दोलन किसानों और मजदूरों के नये स्तरों तक फैला। तिलक ने आन्दोलन के जो तरीके अपनाये, उनका उपयोग आगे चलकर गाँधीजी ने किया। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण था विदेशी माल का बहिष्कार। सन् २० और ३० के आन्दोलनों ने अपनी सीमाओं के बावजूद जन-जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका निबाही। इसके साथ ही यह तथ्य भी ध्यान देने के योग्य है कि भारत के बहुत से नौजवान गाँधीवादी तरीकों से अलग हटकर सशस्त्र क्रान्ति के प्रयास में लगे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के सामने पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य इन्होंने रखा। ये लोग जनता की यह आकांक्षा व्यक्त कर रहे थे कि अंग्रेजों के विरुद्ध कारगर संघर्ष चलाना चाहिए। ये लोग १८५७ के स्वाधीनता संग्राम का ऐतिहासिक महत्व जन चेतना में जगाये रहे। इनमें बहुतों ने मार्क्सवादी विचार-धारा स्वीकार की और किसानों-मजदूरों को संगठित करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। जो मार्क्सवादी कार्यकर्ता कांग्रेस में थे, वे पूँजीवादी जनतन्त्र के साथ संयुक्त मोर्चा बना रहे थे, और ऐसा मोर्चा बनाना जरूरी था, पर उससे यह साबित नहीं होता कि वे स्वयं पूँजीवादी जनतन्त्रवादी थे। चीन में १९२७ तक कम्युनिस्ट च्याङ काई शेक के दल के भीतर रहकर काम कर रहे थे, सन् ३४ के बाद उन्होंने फिर उनके साथ संयुक्त मोर्चा बनाया। इससे यह साबित नही होता कि वे कम्युनिस्ट नहीं थे। असली कम्युनिस्ट वह है जो स्वाधीनता आन्दोलन के

दौरान सर्वहारा क्रान्ति के लिए काम करे—यह मार्क्सवाद-विरोधी धारणा है और चीन से लेकर निकारागुआ तक कहीं भी कम्युनिस्ट इस नीति पर नहीं चले।

सर्वहारा क्रान्तिवाद स्वाधीनता आन्दोलन की अस्वीकृति है, इसी तरह साहित्य में वह जनता की प्रगतिशील विरासत की अस्वीकृति है। यह बीमारी कितनी पुरानी है, इसकी जानकारी शिवदानसिंह चौहान के १९३७ वाले लेख से हो जायेगी। उसमें कौन-से नये लक्षण प्रकट हुए हैं, इसकी जानकारी वीर भारत तलवार के १९८५ वाले लेख से होगी। वामपन्थी अवसरवाद के विरुद्ध विचार-धारात्मक संघर्ष चलाना पचास साल पहले जरूरी था, आज भी जरूरी है।

परिशिष्ट

राधाकृष्णदास की जीवनी तथा कविताएँ

रामचन्द्र शुक्ल ने राधाकृष्णदास की एक जीवनी* लिखी है। इसे पढ़ने से स्वयं शुक्लजी के साहित्यिक विकास का ज्ञान होता है, साथ ही भारतेन्दु-युग से शुक्लजी और महावीरप्रसाद की पीढ़ी के गहरे सम्बन्ध का भी पता चलता है।

राधाकृष्णदास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे, उनकी प्रेरणा से उन्होने 'निःसहाय हिन्दू' आदि अनेक पुस्तकें लिखी थीं। शुक्लजी ने राधाकृष्णदास के साथ मिलकर काम किया था, नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यकर्त्ताओं में राधाकृष्णदास के साथ श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल जैसे नई पीढ़ी के लोग भी थे। भारतेन्दु-युग में अनेक सभाओं और संस्थाओं द्वारा हिन्दी प्रचार के लिए जो प्रयत्न किया गया था, उसी का नया संगठित रूप थी नागरी प्रचारिणी सभा। इण्डियन प्रेस ने जब सरस्वती पत्रिका निकालने की तैयारी की, तब उसके सम्पादन का भार पहले नागरी प्रचारिणी सभा को सौंपा गया था, बाद को उसके सम्पादक महावीर-प्रसाद द्विवेदी हुए। इस तरह बीसवीं सदी में हिन्दी-साहित्य का विकास उन्नीसवी सदी की साहित्यिक प्रगति से जुड़ गया था।

भारतेन्दु ने अपने समकालीन लेखकों को अपनी देशभक्ति से जिस तरह प्रेरित किया था, वह बात शुक्लजी के लिए अभी बीते दिनो की कहानी न बन गयी थी। उस प्रेरणा की आँच कहीं उन्हें भी लगी थी। राधाकृष्णदास के बालकपन की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है, "इनका उठना-बैठना बाबू हरिश्चन्द्र ही के पास होता था। अतः एक प्रकार से इनकी शिक्षा हर घड़ी हुआ करती थी। विद्या ही की चर्चा इन्हें अधिक सुनने को मिलती थी। जिस भारतेन्दु की सभा में विद्वानों का सम्मान और उनके गुणों की परीक्षा होती थी, उसमें ये भी जा बैठते थे। जहाँ देश की दुर-वस्था पर शोक प्रकट किया जाता था, समाज की अधम गति की आलोचना होती

* मुझे जो प्रति देखने को मिली है, उसमें आवरण पृष्ठ नहीं है। सम्भवतः १९१३ में नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित हुई थी।

थी, हिन्दी की उन्नति के उपाय सोचे जाते थे, वहाँ रहकर बालक राधाकृष्ण बूढ़ों के भी कान काटने लगे।"

कुछ बातों में यह कान काटनेवाली बात शुक्लजी को पसन्द थी, कुछ बातों में नापसन्द। पन्द्रह साल की उम्र में राधाकृष्णदास ने 'दुःखिनी बाला' नाम का रूपक लिखा। इसके प्रकाशित होने के बाद काशीनाथ खत्री ने 'बाल विधवा सन्ताप' लिखा जिस पर एक लेख राधाकृष्णदास ने लिखा। विधवा-विवाह के विरोधियों को फटकारते हुए उस लेख में राधाकृष्णदास ने लिखा था, "हम लोगों के जीवन को धिक्कार है कि हम लोगों के जीते ही हमारे यहाँ की विधवा स्त्रियाँ इतना दुःख सहें, और हम लोगों के इस मिथ्या धर्म को धिक्कार है जिसके कारण लाखों अबलाओं को यह सबल दुःख भोगना पड़े। धिक्कार है उन पाखण्डी ब्राह्मणों को जो ऐसे सत्कर्म नहीं होने देते और वृथा लाखों जीवों को सताते हैं। धिक्कार है उन पुराने लोगों की बुद्धि को जो कहते हैं कि 'जो बाप-दादे करते रहे यों ही होइहै'।"

भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने रूढ़िवाद के विरुद्ध जो विकट संघर्ष आरम्भ किया था, उसकी झलक ऊपर के वाक्यों में दिखाई देती है। शुक्लजी को यह धिक्कार-फटकारवाला लेख पसन्द नहीं आया। इस पर उनकी टिप्पणी है : "एक पन्द्रह-सोलह वर्ष के बालक का विधवाओं की व्यथा वर्णन करने बैठना स्वांग-सा मालूम होता है। कभी-कभी लड़के गम्भीर आकृति बनाकर बड़ों के मुँह से सुनी हुई बातों की नकल करते हैं। यही बात यहाँ बाबू राधाकृष्णदास ने की है।" यदि राधाकृष्णदास ने सुनी-सुनाई बातें लिखी थी, तो उस समाज को धन्य कहना चाहिए जिसमें ऐसी बातें कही और सुनी जाती थीं। यदि ये बातें सुनी-सुनाई-भर न थीं वरन् समाज-सुधार के लिए उस युग की व्यापक आकांक्षा प्रकट करती थीं, तो इसके लिए राधाकृष्णदास को साधुवाद देना चाहिए।

शुक्लजी ने इसी आयु में लिखी हुई राधाकृष्णदास की अन्य पुस्तकों की प्रशंसा की है। विधवा-विवाह-सम्बन्धी लेखन की आलोचना का कारण यह है कि शुक्लजी स्वयं अभी रूढ़िवादी प्रभाव से मुक्त नहीं हुए। अन्यत्र १५ वर्ष के बालक की प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है, "पन्द्रह वर्ष की छोटी अवस्था में इन्होंने बनारस कालेज में एक डिबेटिंग क्लब जारी होने की सूचना, देखिए, किस उत्साह के साथ और कैसी अच्छी भाषा में 'कविवचन सुधा' में दी थी।" इस प्रशंसा का कारण यह है कि डिबेटिंग क्लब की सूचना में कहीं भी रूढ़िवादी धारणाओं का खण्डन नहीं है, खण्डन का अवसर भी नहीं था। जब राधाकृष्णदास सोलह साल के थे, तब वह अलीगढ़ की 'भाषा संवर्द्धिनी सभा' के सदस्य बने। शुक्लजी ने लिखा है कि सभा के "सेक्रेटरी बाबू तोताराम भी इनसे बराबर परामर्श लिया करते थे। इसी से समझ लीजिए कि इस छोटी अवस्था में इन्होंने लोगों की दृष्टि में अपने को कैसा बना लिया था।" इससे भी सिद्ध होता है कि विधवा विवाह के समर्थन में उन्होंने जो कुछ लिखा था, वह बड़ों का अनुकरण मात्र

नहीं था।

सनातनधर्मियों में किसी को 'दयानन्दी' कहना उस समय एक तरह से उसे गाली देना था। राधाचरण गोस्वामी के 'विदेश-यात्रा' लेख पर राधाकृष्णदास ने जो सम्मति भेजी थी, उसे पढ़कर राधाचरण गोस्वामी ने लिखा था कि "उसमें दयानन्दी बू आती है।" शुक्लजी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उन पर आर्य समाज का प्रभाव नहीं पड़ा। 'दुःखिनी बाला' लिखने के बाद वह तीर्थयात्रा को निकले और "बड़े भक्तिभाव से सब देवस्थानों का इन्होंने दर्शन किया।" यहाँ स्वयं शुक्लजी का भक्तिभाव रूढ़िवाद से जुड़ा हुआ है।

भारतेन्दु-युग में देशभक्ति और राजभक्ति की धाराएँ कहीं एक-दूसरे से टकराती है, कहीं नजदीक आकर घुल-मिल जाती हैं। इस घुलने-मिलने में कहीं देश-भक्ति कमजोर पड़ती है, कहीं राजभक्ति। शुक्लजी अभी—प्रथम महायुद्ध के पूर्व—राजभक्तिवाली धारा के ही साथ अधिक है। काशी में लार्ड रिपन आनेवाले हैं। कौन है लार्ड रिपन? "भारतबन्धु महात्मा लार्ड रिपन"! उनके स्वागत के वर्णन में शुक्लजी गद्यकाव्य लिखने लगे है, "मार्ग मे फूलों की वर्षा होती थी. बाजे बजते थे, शंखध्वनि के साथ-साथ जयध्वनि सुनाई पड़ती थी। नगर की सजावट का क्या कहना है।" भारतेन्दु-युग में अनेक लेखक जनता की शक्ति और उसके आन्दोलन का भरोसा न करके अंग्रेजों की न्यायप्रियता की प्रशसा के द्वारा हिन्दी के प्रचार और प्रसार में सिद्धि पाना चाहते थे। यह दृष्टिकोण शुक्लजी के अनेक विशेषणों में झलकता है यथा १८९५ ई० मे "परम न्यायशील सर ऐंटनी मैकडानल इन प्रान्तों के गवर्नर होकर आये।" किन्तु जब राधाकृष्णदास ने केदारनाथ पाठक को कचहरियों मे नागरी लिपि के व्यवहार के पक्ष मे हस्ताक्षर कराने भेजा, तब पुलिस इंस्पैक्टर तहकीकात करने आया कि नागरी के लिए कौन-कौन दस्तखत कराने गया है। कारण यह था कि "उन दिनों सूफी अंबालाल और मि० तिलक आदि पर राजविद्रोह के अभियोग चल रहे थे। चारों ओर "डिटेक्टिवो की धूम थी। थोड़े मे सन्देह में भी लोग पकड़ लिए जाते थे।" यह सब 'परम न्यायशील' ऐंटनी मैक-डानल और 'भारतबन्धु महात्मा लार्ड रिपन' के राज्य में ही होता था। स्वय केदारनाथ पाठक ने इटावा से राधाकृष्णदास को लिखा था, "डिटेक्टिवों के हाथ में पडकर हम कई दिन हैरान हुए।" अंग्रेजों ने हिन्दीभाषी जनता को दबाए रखने के लिए अरबी के बोझ मे दुरूह जो कठिन भाषा उर्दू नाम से अदालतों में चलाई थी, उसका अत्यन्त विनम्र विरोध भी उन्हें राजद्रोह दिखाई देता था।

राधाकृष्णदास जैसे-जैसे बड़े हुए, वैसे-वैसे व्यापार और साहित्य-सेवा में सन्तुलन स्थापित करने की ओर ज्यादा ध्यान देने लगे। परिणाम यह हुआ कि उनकी समाज-सुधारवाली पहले की आग अब मद्धिम पड़ने लगी। अंग्रेजो पर कविताएँ लिखकर वह उर्दू-प्रेमी अंग्रेज-भक्तों मे होड़ करने लगे। १८९८ में लाट साहब एक ईवनिंग पार्टी में शामिल होनेवाले थे। राधाकृष्णदास ने मैकडानलाष्टक कविता उन्हें भेंट करने के लिए लिखी। भेंट कबूल हो, इस प्रयत्न में इलाहाबाद

गये। मदनमोहन मालवीय तथा अन्य सज्जनों ने कविता भेंट करने की बात का अनुमोदन किया। लाट साहब से आज्ञा माँगी गयी और उन्होंने कूटनीतिक उत्तर दिया कि कविता स्वीकार की जा सकती है यदि प्रान्तीय कमेटी मंजूर करे। यह प्रान्तीय कमेटी उनके स्वागत के लिए बनी थी और उसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों तरफ के राजभक्त विद्यमान थे। एक नवाब साहब ने आपत्ति की और कमेटी ने कविता पढ़ने की अनुमति न दी। इस तरह तिरस्कृत होने पर राधाकृष्णदास निराश न हुए और कविता "श्रीमान् की सेवा में यों ही भेज दी गयी।"

फिर एक डेपुटेशन लाट साहब से मिला। इसमें राजा साहब मांडा, राजा साहब आवागढ़, राजा घनश्यामसिंह आदि 'प्रतिष्ठित' जनों के साथ मदनमोहन मालवीय जैसे विद्वान् लाट साहब से मिले। यह भारतेन्दु-युग की वह दूसरी धारा है जो जनता से कटकर अंग्रेज-भक्त सामन्तों के सहारे हिन्दी की उन्नति करने में अग्रसर थी। लाट साहब ने डेपुटेशन की बातें सुनी, उसकी प्रार्थना को 'उचित और न्यायसंगत बतलाया' किन्तु यह भी कहा कि "इतने दिनों से प्रचलित अक्षरों को एकबारगी बदलने से गड़बड़ होगा। तथापि अभी सरकार की आज्ञा प्रजा को और प्रजा की प्रार्थना सरकार को हिन्दी में भी होने की आज्ञा दी जानी चाहिए।" इसी से डेपुटेशन के लोग आनन्दविभोर हो गये। अप्रैल १९०० में मदनमोहन मालवीय ने इलाहाबाद से तार दिया कि "आज के गजट में नागरी में भी दरख्वास्त लेने और सम्मन आदि निकालने की आज्ञा छपी है।"

इसके कुछ दिन बाद ऐंटनी मैकडानल काशी आने को हुए। राधाकृष्णदास ने नई कविता लिखी—मैकडानल पुष्पांजली। नागरी प्रचारणी सभा की प्रबन्ध समिति ने निश्चय किया कि लाट साहब को धन्यवाद देने के लिए एक डेपुटेशन भेजा जाय, किन्तु लाट साहब ने सूचित किया कि केवल धन्यवाद देने के लिए डेपुटेशन भेजना आवश्यक नहीं है, "और साहित्य सम्बन्धी बातों को हमारे चीफ सेक्रेटरी से मिलकर कहिए।" फिर भी लाट साहब के स्वागत में स्टेशन खूब सजाया गया और म्युनिसिपैलिटी की ओर से ऐड्रेस दिया गया। श्यामसुन्दरदास, राधाकृष्णदास आदि कई सज्जन लाट साहब से मिले भी।

१९०८ से १९१३ के बीच जब रामचन्द्र शुक्ल ने राधाकृष्णदास की यह जीवनी लिखी थी, तब उन पर राजभक्ति का प्रभाव था, समाजसुधार के लिए युग की उग्र आकांक्षाओं से उन्हें सहानुभूति न थी, इसी के अनुरूप वह अभी साहित्य में रीतिवादी धारा के प्रखर आलोचक न बने थे। 'कविवचन सुधा' में राधाकृष्णदास ने शृंगार-रस के जो 'चुहचुहाते' दोहे और कवित्त लिखे थे, वे शुक्लजी को बहुत रुचे थे। "वर्षा की रात्रि में चन्द्रमा के बादलों से छिपने और मेंह के बरसने पर बालक राधाकृष्णदास ने कैसी उक्ति बाँधी है, देखिए और आश्चर्य कीजिए—

देख लाड़िली की दसा, चन्दा गयो लुभाय।
बदरी में मुँह ढाँकिके, नीर बहावत हाय।"

उनके समस्या-पूर्तिवाले कौशल की प्रशंसा भी शुक्लजी ने की है। " 'मन्द करै

चंदहि अमंद मुख प्यारी को' देखिए इसकी कैसी अच्छी पूर्ति इन्होंने की थी !"

हिन्दी में रीतिवाद-विरोधी संघर्ष राष्ट्रीय चेतना के निखार से सम्बद्ध रहा है। भारतेन्दु युग में एक ओर अधिकांश गद्य-साहित्य रीतिवादी प्रभाव से मुक्त है —जहाँ-तहाँ आलंकारिक पद-रचना में ही वह प्रभाव देखा जा सकता है—दूसरी ओर कविता में रीतिवादी और रीति-विरोधी धाराएँ समानान्तर चलती हैं। रीति-विरोधी धारा लोकगीतों, मुकरियों, अनेक प्रकार की व्यंग्य रचनाओं में ही अधिक प्रकट होती है; रीतिवादी धारा समस्यापूर्तिवाली, शृंगारपरक, चमत्कारवादी रचनाओं में व्यक्त होती है। राधाकृष्णदास कवि-रूप में इस दूसरी चमत्कारवादी धारा से ही अधिक सम्बद्ध थे।

प्रथम महायुद्ध के दौरान शुक्लजी ने अवश्य ही अपने मानसिक विकास की कई मंजिलें पार की होंगी। रूढ़िवादी आस्तिकता से हटकर वह चेतना और संसार के परस्पर सम्बन्ध के नये व्याख्याकार बने, विकासवादी विचारक हैकेल की पुस्तक का अनुवाद किया, भक्ति और रीति के सम्बन्ध में अपनी मान्यताएँ स्थिर कीं। हिन्दी-साहित्य के सुपरिचित आचार्य शुक्ल का यह विकास प्रथम महायुद्ध के दौरान और भारत के नवीन राष्ट्रीय उत्थान के साथ हुआ, यह बात उनकी लिखी हुई राधाकृष्णदास की जीवनी को पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है।

पुस्तक में कई जगह शुक्लजी ने राधाकृष्णदास और उनके परिवेश को तीखी विवेक-दृष्टि से परखा है। शिवनन्दन सहाय ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जो जीवनी लिखी है, उसमें इसी दृष्टि का अभाव है। राधाकृष्णदास के व्यक्तित्व को परखते हुए शुक्लजी ने बड़ी तटस्थता और आलोचनात्मक सूझबूझ से लिखा है, "इन्हें संसार का पूरा ज्ञान था। अतः अर्थ-संग्रह की चिन्ता भी इन्हें कभी नहीं छोड़ती थी। ये ग्रन्थकार भी बनना चाहते थे और नगर के धनीमानियों में भी अपनी गिनती रखना चाहते थे। ये सरस्वती के अनन्य उपासक नहीं थे। इनमें लिखने-पढ़ने की वासना इतनी तीव्र और प्रचण्ड नहीं थी कि ये संसार की और बातों की परवा न करते।" भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके फुफेरे भाई राधाकृष्णदास में यही अन्तर था। ऊपर के वाक्य लिखते समय अवश्य ही शुक्लजी का ध्यान हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व और उनकी अखण्ड निष्ठा की ओर गया होगा। स्वयं शुक्ल-जी उस निष्ठा से प्रभावित थे, उन्होंने आगा-पीछा सोचे बिना तय कर लिया था कि सारा जीवन हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा में लगाना है। यह निष्ठा उनके जीवन की बहुत बड़ी शक्ति थी; उसी के बल पर वह हिन्दी का सूत्र पकड़े हुए उस मंजिल तक पहुँचे जहाँ उनका समकालीन कोई भी प्रगतिशील भारतीय राजनीतिज्ञ पहुँचा था।

राधाकृष्णदास ब्याज पर रुपया उठाते थे, अन्नपूर्णा मिल में शेयरहोल्डर थे, चौखम्भे में रेशमी कपड़ों की दूकान खोली थी, ठेकेदारी अलग करते थे। अन्य इमारतों के अलावा नागरी प्रचारिणी सभा का भवन इन्हीं के ठेके में बना था। अफसरों से मेल किये बिना ठेकेदारी नहीं चलती। शुक्लजी के अनुसार "हाकिमों

न भी ये मेलजोल रखते थे और उनसे काम भी निकालते थे।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के परिवार में हर आदमी उन्हीं की तरह साहित्य पर सब-कुछ निछावर कर देनेवाला न था। व्यापारी लोग उन्हें उड़ाऊ-खाऊ समझकर उनसे घृणा करते थे। "अर्थोपासकों की मण्डली में उन्हें 'नालायक' की पदवी मिल चुकी थी।" लायक थे उनके छोटे भाई गोकुलचन्द्र। वह चाहते थे कि राधाकृष्णदास हरिश्चन्द्र की तरह साहित्य के दीवाने न बनें। सारा परिवार और इष्ट मित्र समुदाय—शुक्लजी के अनुसार—गोकुलचन्द्र के साथ था। इस तरह हरिश्चन्द्र अपने ही परिवार में अकेले पड़ गये थे। वह चाहते थे कि राधाकृष्णदास को साहित्य की राह पर चलाएँ पर गोकुलचन्द्र "सदा इन पर कड़ी दृष्टि रखते कि ये लेखनी हाथ में न लेने पावें।" स्वयं भारतेन्दु के भाई हिन्दी के कैसे शुभचिन्तक थे, यह इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है। शुक्लजी की प्रशंसा करनी चाहिए कि उन्होंने यह पारिवारिक अन्तर्विरोध उद्घाटित किया। गोकुलचन्द्र अपनी व्यवसाय-बुद्धि से राधाकृष्णदास को प्रभावित करने लगे। अपनी व्यवसायी मण्डली में बैठे हुए गोकुलचन्द्र राधाकृष्णदास को ताने देते—"क्यों बच्चा बाबू? दुःखिनी बाला और स्वर्णलता न लिखी जायगी।" शुक्लजी राधाकृष्णदास की प्रशंसा करते हैं कि इतना दबाव होने पर भी वह साहित्य-रचना से विमुख न हुए। "पहरा चौकी रहने पर भी ये कुछ-न-कुछ लिख ही डालते थे, पर उनकी दृष्टि बचाकर।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के घर में साहित्य लिखना अपराध माना गया। राधाकृष्णदास को भारतेन्दु की नियति से बचाने के लिए चौकी और पहरे की व्यवस्था की गयी! भारतेन्दु का एक भाई साहित्य लिखता था तो दूसरे भाई की निगाह बचाकर! "एक दिन एक रुई का बोरा रखा हुआ था और आप उसी की आड़ में बैठे कलम चला रहे थे। इतने में बाबू गोकुलचन्द्र पहुँच गये और ये पकड़े गये।"

किन्तु भारतेन्दु के निधन के बाद उनकी पुस्तकों के कॉपीराइट के बारे में गोकुलचन्द्र ने बड़ी मुस्तैदी दिखायी। दूसरी तरफ खड्गविलास प्रेस के मालिक रामदीनसिंह भी एक ही व्यवसायी थे। उन्होंने गोकुलचन्द्र को सूचित किया कि हरिश्चन्द्र अपने समस्त ग्रन्थों का स्वत्व हमें सौंप गए हैं! 'भारत जीवन' के अध्यक्ष रामकृष्ण वर्मा भारतेन्दु की पुस्तकें छापने के दूसरे दावेदार थे। गोकुलचन्द्र ने इन्हें उत्साहित किया और यह भी लिखा कि हरिश्चन्द्र के जो ग्रन्थ अधूरे रह गये हैं, "भगवत इच्छा से उनके पूर्ण करने का उल्लास रखता हूँ।" हरिश्चन्द्र का नाम अब बिकता था। साहित्य-सेवा से पैसा कमाया जा सकता है, लोग समझने लगे थे। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के पुनः प्रकाशन के प्रयत्न होने लगे। किन्तु मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने पत्र लिखा कि 'चन्द्रिका' पर हमारा स्वत्व है। निराला के निधन के बाद जो नाटक देखने को मिला, उसकी रिहर्सल भारतेन्दु के निधन के बाद हो चुकी थी। कॉपीराइट के झगड़ों के अलावा नाटक का महत्त्वपूर्ण अंश स्मारक सम्बन्धी योजनाएँ थीं। काशी से एक दैनिक पत्र निकाला जाय; एक समिति बनायी जाय जो उत्तम ग्रन्थों और लेखों पर मेडल दिया करे। राधाचरण

गोस्वामी ने कहा, ग्रन्थकारों को मेडल देने से पारितोषिक देना अच्छा है। स्मारक-योजनाओं पर शुक्लजी की टिप्पणी—"हिन्दी-प्रेमियों की गुण-ग्राहकता से यह बात शब्दों ही में समाप्त हो गयी।" हिन्दीभाषी उच्च वर्ग के प्रति शुक्लजी के मन में हल्की-सी खीझ है। वह इस वर्ग को भीतर से पहचानने लगे थे; खड्गविलास प्रेस के मालिक पर उनका व्यंग्य इस पहचान का प्रमाण है। भारतेन्दु की पुस्तकें छापने के लिए उनका आग्रह बढ़ने लगा। "उनके उत्साह की शाब्दिक तरंगें इनके (अर्थात् राधाकृष्णदास के) हृदय पर टकराने लगी। ऐसा जान पड़ा कि वे चटपट सर्वसाधारण के उपकार के लिए हानि-लाभ का विचार छोड़ भारतेन्दु कृत समस्त पुस्तकों को छापकर बाँटने लगेंगे।"

राधाकृष्णदास से जो भी सामग्री माँगी गयी, वह भेज दी गयी। भारतेन्दु की पुस्तकें खड्गविलास प्रेस से निकलने लगीं। वार्षिक मूल्य ६ रुपया रखा गया। ८० प्रतियाँ सरकार लेने लगी। किन्तु कुछ दिन बाद सरकार ने यह प्रतियाँ लेना बन्द कर दिया। इस पर शुक्लजी लिखते हैं, "अब परोपकार में रत बाबू रामदीनसिंह को उसके निकालने में घाटा दिखायी देने लगा। ग्राहकों की संख्या की भी शिकायत होने लगी।" शुक्लजी की यह दृष्टि निरन्तर पैनी होती गयी। व्यापारी वर्ग की देशभक्ति को उन्होंने जिस तरह पहचाना था, उस तरह प्रेमचन्द और निराला जैसे कुछ साहित्यकारों ने ही उसे पहचाना था। नवम्बर १८८९ के 'हिन्दोस्थान' में राधाकृष्णदास ने हिन्दी-प्रेमियों की उदासीनता पर खेद प्रकट करते हुए लिखा था, "हिन्दी के रसिको! ज़रा बताइए तो सही कि जिसने अपना जीवन आप ही लोगों को अर्पण कर दिया, आप लोगों ने उसके लिए या उसकी प्यारी हिन्दी के लिए अब तक क्या किया? कुछ नहीं; सिवाय रोने के और कुछ नहीं किया। और किसी देश में हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ होता तो क्या उनके पीछे ऐसी उदासीनता दिखाई देती?" जो बात राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु के मरने के बाद लिखी थी, उसे निराला ने अपने जीवन में अनुभव किया था। यदि किसी और देश में जन्म हुआ होता, यदि मैं बंगला और अंग्रेजी का लेखक होता···! हिन्दी प्रदेश का शासक वर्ग, यहाँ का व्यापारी और धनी वर्ग हिन्दी के प्रति अब भी उदासीन है। यह उदासीनता केवल वोट लेने के समय दूर होती है, हिन्दी पुस्तक बेचकर मुनाफा कमाने के समय दूर होती है।

भारतेन्दु के संग्रह में दुर्लभ ऐतिहासिक सामग्री थी। रामदीनसिंह ने एक लम्बी सूची वह सामग्री मँगाने के लिए राधाकृष्णदास के पास भेजी—विश्वनाथजी के मन्दिर के समीप औरंगज़ेब की मसजिद का लेख, बादशाही ज़माने के कागज़, जिनमें एक पत्र अकबर ने शाहज़ादे को लिखा था, बड़े-बड़े गवर्नर-जनरलों के अनेक पत्र, नवाबों ने छोटी-छोटी बेगमों और शाहज़ादों को जो पत्र लिखे हैं वे सब, सिख गुरुओं की कई चिट्ठियाँ···।

शुक्लजी ने लिखा है कि ये सब चीज़ें भेजी गयी, भारतेन्दु के अनेक पत्र और उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का विवरण भी राधाकृष्णदास ने उन्हें भेजा

—"इन सब सामग्रियों का खड्गविलास प्रेस द्वारा क्या उपयोग हुआ यह हिन्दी-प्रेमियों से छिपा नहीं है।···पुस्तकों का मूल्य देखकर भी ग्राहकों को एक बार जरूर चौंकना पड़ता है···न जाने कितनी पुस्तकें उनके नाम से निकाली गयी जिनका कर्तृत्व स्वीकार करने में अविख्यात उपन्यासों के अनुवादक भी एक बार हिचकेंगे।" राधाकृष्णदास के अनुसार 'पूर्ण प्रकाश वा कुलीन कन्या' पुस्तक मल्लिका की लिखी हुई थी, 'माधुरी' राजा भरतपुर की रचना थी। ये हरिश्चन्द्र की कृतियाँ मानकर छापी गयीं। "जीवन-सम्बन्धिनी जितनी सामग्रियाँ भेजी गयी उनमें से कुछ ही मनुष्य जाति के काम में आयीं।" हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बन्धित कोई अच्छा संग्रहालय विशाल हिन्दीभाषी प्रदेश में अभी तक न बन पाया हो तो आश्चर्य ही क्या! ऐतिहासिक सामग्री लूट का माल है; उससे पैसा कमाया जा सके तो कमाओ, नहीं तो कूड़े के ढेर पर फेंक दो! बहुत दिनों से यही परम्परा है।

शुक्लजी ने जिस तरह व्यवसायी वर्ग के हिन्दी प्रेम का खोखलापन देखा था, उसी तरह धर्म के नाम पर अनेक संस्थाओं की दुरंगी नीति को पहचाना था। काशी की ऐसी ही एक संस्था के बारे में उन्होंने लिखा है, "इन बातों को पढ़ते समय पाठकों को ध्यान रखना चाहिए कि उस समय तक 'भारत धर्म्म महामण्डल' का आडम्बर नहीं खड़ा हुआ था।" शायद आजकल कोई भी राजनीतिज्ञ धर्म का साइनबोर्ड लगानेवाली किसी भी संस्था के बारे में 'आडम्बर' शब्द का प्रयोग न करेगा। धार्मिक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का विरोध करने के बदले उनकी प्रशंसा करके वोट बटोरना व्यापारी वर्ग के लिए अधिक लाभदायक है।

एक दिलचस्प घटना गदाधरसिंह की सम्पत्ति से सम्बन्धित है। इन्होंने अपने वसीयतनामे में लिखा था कि निधन के बाद उनकी सारी सम्पत्ति नागरी प्रचारिणी सभा को दे दी जाय। उसके ट्रस्टी बनाये गये थे राधाकृष्णदास। किन्तु मुसम्मात परतापी और विन्धेसरी ने उज्र किया कि गदाधरसिंह सारी जायदाद उनके नाम लिख गये थे। इन्हें ६०० रुपये देकर इकरारनामा लिखाया गया कि जायदाद पर इनका हक नहीं है। तब जीतनसिंह और पुन्नू महाराज ने सूचित किया, "आप कितना ही रुपया फूँकिए लेकिन मकान में नहीं घुस सकते। घुसते ही पचासों क्या हजारों आदमी टूट पड़ेंगे और खून की नदी बह निकलेगी।"

इस बनारस में भारतेन्दु को यदि 'नालायक' की उपाधि मिली हो तो आश्चर्य न होना चाहिए। पुरानी समाज व्यवस्था की आधार शिला है—व्यक्तिगत संपत्ति। हिन्दी-प्रेम, देशभक्ति, साहित्य-सेवा—सबकुछ इस आधारशिला के नीचे है। जाली वसीयतनामा बनाने के अपराध से राधाकृष्णदास किसी तरह बच निकले। ट्रस्टी-शिप से इस्तीफा दे दिया "किन्तु इस्तीफा देने पर भी इनका पिण्ड नहीं छूटा। बरसों तक काशी के धूर्त बदमाश मुसम्मात परतापी को उभाड़कर इनसे रुपया ऐंठने का एक-न-एक ढर्रा निकालते रहे।" रात को घर लौट रहे थे; भीतर जाने लगे कि "डेवढ़ी पर मुसम्मात परतापी ने इनका दुपट्टा पकड़ लिया और कहने लगी कि

हमारा रुपया दिये जाओ।" गदाधरसिंह ने स्वप्न में भी न सोचा था कि हिन्दी की सेवा के लिए उन्होंने जो सम्पत्ति-दान किया था, उसके कारण उनके बनाये हुए ट्रस्टी की यह दशा होगी।

काशी हिन्दी का महान् केन्द्र है। वह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद और रामचन्द्र शुक्ल का कार्यक्षेत्र रही है। किन्तु 'मैली गली भरी कतवारन' —उसमें गन्दगी भी कम नहीं है। भारतेन्दु की 'मनो नरक चौरासी' वाली बात सही है। और जितनी गन्दगी गलियों में थी, उससे ज्यादा लोगों के मन में थी। इस काशी के पूर्ण ज्ञान से ही विदित होगा कि भारतेन्दु और उनके परवर्ती साहित्यकारों ने साहित्य साधना का मार्ग अपनाकर कितनी बडी वीरता का परिचय दिया था, हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए उनकी सेवाएँ कितनी महत्त्वपूर्ण हैं।

रामचन्द्र शुक्ल लिखित राधाकृष्णदास की जीवनी से स्वयं शुक्लजी के साहित्यिक विकास की मंज़िलों का ज्ञान होता है, साथ ही भारतेन्दु-युग के अन्तर्विरोधों का पता चलता है जिनका सामना करते हुए हिन्दी भाषा और साहित्य की धारा आगे बढ़ी थी। शुक्लजी को जीवनी लिखने में बहुत रस न आता था। सामग्री एकत्र करने में जो मेहनत पड़ती है, उससे वह कतराते थे। फिर भी श्यामसुन्दरदास के कहने से उन्होंने जीवनी पूरी कर ही डाली—इसके लिए उनके धैर्य की प्रशंसा करनी चाहिए। इस लेखन-क्रम में उन्होंने हिन्दी साहित्य के बारे में बहुत-सी जानकारी प्राप्त की जो बाद को हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय उनके काम आयी।

× × ×

आलोचक रूप में शुक्लजी के विकास को समझने में उनकी कविताओं से भी सहायता मिलती है। अनेक कवियों ने आलोचनाएँ भी लिखी हैं; शुक्लजी इनमें नहीं हैं। वे उन आलोचकों में हैं जिन्होंने कविताएँ भी लिखी हैं। इनका महत्त्व यही है कि वे आलोचक रामचन्द्र शुक्ल के विकास को समझने में सहायक हैं। यह प्रयत्न किया जा सकता है कि शुक्लजी ने काव्यालोचन के जो सिद्धान्त स्थिर किये थे, उन्हीं के अनुसार इन कविताओं की समीक्षा की जाय अथवा शुक्लजी के काव्य-सिद्धान्तों की छाया रेखाएँ इन कविताओं में प्रतिबिम्बित देखी जायें। ऐसा प्रयत्न अनावश्यक है। आलोचना के सिद्धान्त शुक्लजी के गद्य में बड़े साफ-सुथरे ढंग से विवेचित हैं; उन्हें फिर से निश्चित करने के लिए कविताओं को मथना ज़रूरी नहीं है। शुक्लजी के आलोचना-साहित्य से उनका जो विकास प्रकट नहीं होता, उसी की जानकारी के लिए कविताओं का अध्ययन आवश्यक है।

नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ने 'मधु स्रोत' नाम से उनकी कविताओं का संग्रह छापा है। इसमें १९०१ से लेकर १९२९ तक की रचनाएँ संकलित हैं। लगभग ३० वर्षों में लिखी हुई ये कविताएँ सौ पृष्ठों से भी कम—कुल ९८ पृष्ठों—मे छप गयी हैं। शुक्लजी कविताएँ जब-तब ही लिखते थे; जमकर कविताएँ रचने और कवि बनने का प्रयास उन्होंने नहीं किया—सम्भवतः आलस्यवश। कभी गाँवों

की सैर को गये, तब जो कुछ देखा-सुना, उसे डायरीनुमा कविताओं में लिख डाला, या छायावादियों के उत्पात से उत्तेजित हुए तो दो-चार खरी-खोटी सुना दीं। सन् '२९-'३० तक छायावादी कवि लोग हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठित हो गये थे और सम्भव है, शुक्लजी ने देखा हो कि इन्हें अब निकाल भगाना असम्भव है, इसलिए कविता लिखना बन्द कर दिया हो। जिस भावबोध और काव्य-शिल्प के वह प्रतिनिधि हैं, वह मुख्यतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग का है। छायावादियों ने इसी भावबोध और काव्य-शिल्प की जड़ें उखाड़ फेंकी थी। किन्तु क्या शुक्लजी छायावादी भावबोध से एकदम अछूते रह गये थे?

प्रथम महायुद्ध से पहले की अधिकांश रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। इस समय अभी बहुत-से ऐसे लोग थे जो यह तय न कर पाये थे कि कविता की भाषा खड़ी बोली हो या ब्रज। प्रथम महायुद्ध के बाद प्रकाशित होनेवाले उनके 'बुद्ध-चरित' की भाषा भी ब्रज है। महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविताओं से शुक्लजी की कविताओं की तुलना की जाय तो एक बात अवश्य स्पष्ट हो जायगी कि द्विवेदीजी के मन में काव्यभाषा को लेकर कोई दुविधा न थी। उन्होंने अधिक दृढ़ता से खड़ी बोली का पक्ष समर्थन किया था; समकालीन कवियो पर उनका प्रभाव स्वभावतः शुक्लजी से अधिक था। छन्दों में कहीं संस्कृत के गणात्मक वृत्तों, कही ब्रजभाषा के सुपरिचित कवित्त-सवैया का प्रयोग शुक्लजी ने किया है। किन्तु उन्होंने बरवै, रोला आदि छन्दों का प्रयोग भी किया है जिनसे अधिकांश परम्परावादी कवि बचते थे। हरिगीतिका छन्द की धूम के बाद वाले दौर में जिस तरह के मात्रिक छन्दों का चलन हुआ, उनका उपयोग भी शुक्लजी ने किया है। एक अनिश्चय की-सी दशा जैसे भाषा के प्रयोग में है, वैसे ही छन्दों के प्रयोग में है।

प्रथम महायुद्ध से पहले की रचनाओं मे शुक्लजी की राजनीतिक चेतना भारतेन्दु-कालीन नर्म उदारपन्थी लेखकों की है। वह बालकृष्ण भट्ट-जैसे उग्र देशभक्तों से ही पीछे नही है, प्रतापनारायण मिश्र की कविताओं में जो तड़प है उसका भी यहाँ अभाव है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अंग्रेजों के न्याय की प्रशंसा करते थे, उन्हें कसकर गालियाँ भी सुनाते थे। शुक्लजी प्रशंसा करते हैं, गालियाँ नही सुनाते। पराधीनता की घुटन भारत दुर्दशा पर आँसू बहानेवाली काव्यधारा के अनुरूप ही प्रकट होती है।

ब्रिटिश जाति के न्याय नीति की मची धूम जब भारी।
सुख के स्वप्न दिखाई देने लगे हमें दुख हारी।
उठे चौंक कर बन्धु कई जो थे सचेत औ ज्ञानी।
मिलकर यही बिचारा रोवैं अपनी राम कहानी।
ब्रिटिश न्याय की अनल शिखा को अपनी ओर घुमावें।
जिसमे पड़ कर सभी हमारे दुख दरिद्र जल जावें।
फिर से उस भूतल के ऊपर हम भी मनुज कहावें।
परम प्रबल अँगरेज जाति का प्रलय तलक यश गावें।

ये पंक्तियाँ 'फूट' कविता में हैं जो 'आनन्द कादम्बिनी' (पूस-माघ, सं० १९६४) मे प्रकाशित हुई थी। सूरत-कांग्रेस में जब नर्म-गर्म दलवालों मे युद्ध हुआ, तब उससे व्यथित होकर शुक्लजी ने यह कविता लिखी थी। उनके लिए आदर्श एकता वह थी जिसमे सभी देशभक्त एक ही मंच पर खड़े होकर ब्रिटिश जाति की न्यायप्रियता के गीत गाते थे और समवेत स्वरों में अपनी रामकहानी रोकर ब्रिटिश न्याय की अनल-शिखा को अपनी ओर घुमाने का प्रयास करते थे। इससे अधिक कुछ हो सकता है या अन्य देशों में हुआ है, इसकी जानकारी मानो शुक्लजी को नही है। कविता मे दादाभाई, सुरेन्द्रनाथ आदि अनेक नेताओं के नाम है, तिलक का नाम नहीं है। शायद फूट डालनेवालो का नाम लेना उन्होंने उचित नहीं समझा।

पर एक बात साबित हुई कि शुक्लजी राजनीतिक गतिविधि के प्रति उदासीन रहनेवाले कवि नहीं थे। भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र की तरह आर्य गौरव का स्वप्न उन्हें भी पुलकित करता है। किन्तु नयी बात यह है कि १९०५ की लड़ाई में जब एशिया के एक देश जापान ने यूरुप के एक देश रूस को हरा दिया, तब शुक्लजी को लगा—जापानी भी आगे बढ़ रहे है, यूरुप वालों के छक्के छुड़ा रहे हैं : हमारे देश को क्या हो गया है ?

'भारत दुर्दशा' के अन्दाज मे एक प्राचीन राजभवन के खण्डहरों के आगे "भारत निश्चेष्ट पड़ा है।" झूमते हुए वसन्त का आना उसे पसन्द नही है। भारत महमूद गज़नवी की लूटपाट की बातें याद करके दुखी हो रहा है, तब वसंत उसे यह खबर सुनाता है :

प्रवीर जापान प्रचण्ड रूस हीं।
परास्त कीनो तुमने सुन्यो नही।
भारत—अरे ! अरे !! का कहिगे विचार लो।
वसन्त—कही हमारी सब सत्य धार लो।

जापान द्वारा रूस की पराजय ऐसी घटना है जिस पर भारत को अचानक विश्वास नही होता। जब विश्वास होता है तब 'लम्बी साँस लेकर' यही कहता है :

कोउ नृप होइ हमैं का हानी
चेरि छोड़ि नहिं होउब रानी।

इसके बाद भारत-महिषी का प्रवेश होता है। उनके प्रवचन के बाद नेपथ्य में यह शब्द सुनायी देता है :

सहि चुके जननी ! बहु यातना
बचन ना कबहूँ अब टारिहैं।
प्रण करै 'पर आस किये बिना
अवसि आपुहि आप उबारिहैं'।

ये शब्द अवश्य ही भारतवासियों के होगे। पर आस किये बिना का अर्थ क्या है ? पहले किसकी आशा करते थे जो अब न करेंगे ? एक ही उत्तर हो सकता है—ब्रिटिश जाति से न्याय की आशा थी, वह आशा अब न करेंगे। नेपथ्य में सुने जाने

वाले शब्दों के बाद कवि की ओर से यह रंगमंचीय निर्देश है : " 'वन्देमातरम्' की भीषण ध्वनि"। यह नये युग की आवाज है। 'भारत दुर्दशा' में वन्देमातरम् की 'भीषण ध्वनि' नहीं सुनी जाती। शुक्लजी को विश्वास हो गया है, पर-आस किये बिना भारत अपना खोया हुआ स्वत्व प्राप्त कर सकता है, नये जन-आन्दोलन की स्वीकृति की यह अग्रसूचना है।

'भारत और वसन्त' नाम की इस कविता के साथ उसकी रचना अथवा प्रकाशन का समय नहीं दिया गया। १९०७ की 'फूट' कविता से वह पहले लिखी गयी हो चाहे बाद को, इसकी राजनीतिक चेतना उस उदारपन्थी स्तर से भिन्न है जो 'फूट' में ब्रिटिश न्याय के प्रति आस्था में प्रकट हुआ है। शुक्लजी का यह विकास उनकी आलोचना में नहीं है; उनकी कविता से ही समझा जा सकता है।

भारत के अतीत गौरव के प्रति गहरी आस्था और युरुप की भौतिकवादी सभ्यता के प्रति उपेक्षा का भाव इस नयी देशभक्ति की विशेषताएँ हैं। छायावाद और रहस्यवाद जैसी चीजें भारत में नहीं थीं, और थी तो अपने विशुद्ध रूप में थीं। इनसे भौतिकवादी यूरुप को बहकाया जा सकता है, भारत को नहीं। क्या भारत अध्यात्मवादी है? अजी नहीं, भारत को अध्यात्मवादी कहकर यूरुप वाले यहाँ अपना उल्लू सीधा करते हैं। भारत प्रकृति का उपासक है, वाल्मीकि भारत के महान कवि हैं क्योंकि प्रकृति-प्रेमी हैं; भारत की विशेषता है, नर में नारायण को देखना। तुलसीदास भारत के श्रेष्ठ कवि हैं क्योंकि उन्होंने नारायण को नर रूप में अवतरित करके सभी को उनकी बाँकी झाँकी दिखा दी है।

भौतिक उन्माद ग्रस्त योरप पड़ा है जहाँ
वहाँ तेरे चोंचले ये मन बहलावेंगे।
आज अति श्रम से शिथिल जो विराम हेतु
आकुल है उसको ये टोटके सुलावेंगे।
हम अब उठना हैं चाहते जगत् - बीच,
भारत की भारती की शक्ति को जगावेंगे।
दंडक ये दंड के प्रहार से लगेंगे तुझे
भाग भाग भंडता! न तुझको टिकावेंगे।

छायावादी भी कहते थे, यूरुप भौतिक उन्माद से ग्रस्त है, शुक्लजी भी वही कहते हैं। दोनों के कहने मे अन्तर यह है कि छायावादी कवियों के लिए मर्ज़ कीदवा है रहस्यवाद, शुक्लजी के लिए ये सब मूर्खों के बहलाने के टोटके हैं।

दो बातें यहाँ मान लेनी चाहिए। शुक्लजी ने छायावाद का विरोध बदनीयती से नहीं किया। यह विरोध उनकी देशभक्ति से प्रेरित था। वह सच्चे मन से विश्वास करते थे कि भारत को अध्यात्मवाद की घूँटी उसे गुलाम बनाये रखने के लिए पिलायी जाती है। दूसरी बात यह कि भारत के अनेक अध्यात्मवादी कवि जनता को राजनीतिक संघर्ष से तटस्थ रहने का पाठ पढ़ाते थे। भारत का अतीत गौरव संघर्ष की प्रेरणा देने के बदले उसे और कमज़ोर करता था। इस हद तक

शुक्लजी का विरोध वाजिब था।

मज़े की बात है कि पिछले पच्चीस वर्षों में नयी कविता के दर्जनों समर्थक शुक्लजी का हवाला देते हुए कह चुके हैं—उन्होंने छायावाद का विरोध किया पर छायावाद विजयी हुआ; वैसे ही नयी कविता का विरोध हो रहा है, पर नयी कविता विजयी होगी (या हो गयी है)। इससे शायद आप समझें कि ये सब लोग छायावाद के समर्थक होंगे, उसकी विजय—और शुक्लजी की पराजय—से उन्हें इसीलिए प्रसन्नता होती है। पर ऐसी कोई बात नहीं है। छायावाद उन्हें फूटी आँखों नहीं सुहाता। किसी कवि को 'रोमाण्टिक' कहना उसे गाली देना है। नयी कविता ने एक मुक्ति-अभियान चलाया है और छायावादी प्रतिमानों से युवा कवि-मानस को मुक्त किया है।

तब शायद वे शुक्लजी से प्रसन्न हों कि उन्होंने छायावादी प्रपंच का विरोध अकेले दम इतने दिनों तक किया। पर यह बात भी नहीं है। शुक्लजी उन्हें ब्राह्मणवाद, थोथी नैतिकता, गलत किस्म की सामाजिकता से ग्रस्त दिखायी देते हैं। फिर भी ये मित्र नतीजा यह निकालते हैं कि जैसे शुक्लजी का छायावाद-विरोध निरर्थक साबित हुआ, वैसे ही नयी कविता का विरोध निरर्थक साबित होगा।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब शुक्लजी और छायावाद दोनों निकम्मे हैं, तब जैसे नागनाथ, वैसे साँपनाथ; कोई जीते कोई हारे, आपसे मतलब ?

सो नहीं; इन्हें मतलब है। अनेक प्रगतिशील तत्त्व शुक्लजी की आलोचना में थे, छायावादी कविता में भी थे। इनसे नयी कविता वालों को सख्त नफरत है। मार्क्सवाद के नाम से उनके चेहरे तमतमा उठते हैं। काव्य के सामाजिक पक्ष का उल्लेख करते ही उन्हें संकीर्ण प्रगतिवाद और कुत्सित समाजशास्त्र की गन्ध आने लगती है। नयी कविता के समर्थकों में कुछ हिन्दू पुनरुत्थानवादी भी हैं। इन पुनरुत्थानवादियों में किसी को ब्राह्मणवाद की गन्ध नहीं आती। छायावाद के प्रगतिशील तत्त्वों की जानकारी नये लेखकों को न हो, निराला को केवल मृत्यु और विघटित व्यक्तित्व का कवि बना दिया जाय, आक्रोश-प्रदर्शन को क्रान्तिकारी साहित्य का पर्याय मान लिया जाय—इस प्रयत्न में भारत की सोशल डिमौक्रैसी (मार्क्सवाद-विरोधी लोकतान्त्रिक समाजवाद), हिन्दू पुनरुत्थानवाद, नर्म और गर्म कई तरह के वामपन्थी रुझान एक विराट संयुक्त मोर्चा बनाये हुए हैं। यह मोर्चा जितना मार्क्सवाद के विरुद्ध है, उतना ही शुक्लजी और छायावाद के (और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा प्रेमचन्द के) विरुद्ध है। ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि भारत में मार्क्सवादी साहित्य भारतेन्दु-शुक्ल-प्रेमचन्द-निराला की प्रगतिशील परम्परा का अगला विकास ही हो सकता है, उसका आमूल विरोधी नहीं।

नयी कविता के समर्थक—अस्तित्ववादी समाज-निरपेक्ष व्यक्तिवाद तथा अराजकतावादी मूल्यहीनता के समर्थक—मार्क्सवादियों पर अति सरलीकरण और सतही समाधान ढूँढ़ने का दोष लगाते हैं। ध्वनि यह कि तुम सतह पर उतराते हो,

हम गहरे पैठकर मोती निकालते हैं। मुट्ठी में चाहे बालू ही निकले, सतही समाधान का आरोप ही सुननेवालों के मन को आतंकित कर देता है कि कहनेवाला कोई बहुत गम्भीर तत्त्व प्रस्तुत करने जा रहा है। उलझे हुए वाक्यों और अपच तत्सम शब्दावली को ज़रा झकझोर दीजिए, पता चलेगा—पतझर के मौसम में इतने सूखे पत्ते इकट्ठे हो गये हैं कि उनके नीचे सतह भी दिखायी नहीं देती !

ऐसा न होता तो छायावाद और शुक्लजी के चिन्तन की सामान्य भूमि अस्तित्वादियों के सामने स्पष्ट हो जाती। प्रसाद के 'रहस्यवाद' नामक निबन्ध और 'कामायनी' में संसार और लोक-मंगल से सम्बन्धित अनेक स्थापनाएँ शुक्लजी के आलोचना-साहित्य और उनकी कविताओं में मिल जायेंगी। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थापना वह है जो परलोकवाद, अध्यात्मवाद, परोक्षवाद की विरोधी है। 'रूपमय हृदय' कविता में शुक्लजी इहलौकिकता का प्रतिपादन करते हैं, कहते हैं कि भौतिक रूपों से ही मन के अनेक भाव खुलते हैं :

विविध रूप-संगीत-नीत स्वर
भीतर हृदय हमारे होकर
भावसूत्र शुभ खोल बाँटते हैं हमको दहने औ बायें।

इसलिए रूपों से परे हमारा हृदय न कभी गया है, न जा सकता है।

शुक्लजी और छायावाद का परस्पर विरोध सतह पर ज़्यादा है, गहराई में कम। दोनों को मिलानेवाली कड़ी है इहलौकिकता की। और शुक्लजी और छायावाद का विरोध ही नहीं, शुक्लजी और यूरुप के भौतिकवाद का विरोध भी सतह पर ज़्यादा है, गहराई में कम। शुक्लजी ने परम भौतिकवादी हेकल की पुस्तक का अनुवाद किया था, अपनी लम्बी भूमिका में उसकी अनेक मान्यताओं का समर्थन किया था। उन्होंने अंग्रेज लेखक ऐडीसन के कल्पना सम्बन्धी लेखों का अनुवाद किया था। ऐडीसन ब्रिटेन के भौतिकवादी विचारक जॉन लॉक के सिद्धान्त ही साहित्यालोचन में आज़मा रहे थे। इन सिद्धान्तों का गहरा असर शुक्लजी के गद्य पर है, जहाँ-तहाँ पद्य पर भी है। उनका प्रकृतिवाद वर्ड्स्वर्थ की याद दिलाता है और वर्ड्स्वर्थ अपने श्रेष्ठ रचनाकाल में लॉक के दर्शन से प्रभावित था। इस दर्शन का सारतत्त्व यह है कि मनुष्य के विचार उसके भौतिक अनुभव से उत्पन्न होते हैं; यह अनुभव पवित्र होगा, तो विचार भी पवित्र होंगे।

'मधुस्रोत' में जो कविता 'हृदय का मधुर भार' नाम से छपी है, उसके दूसरे अंश में शुक्लजी नये आर्थिक सम्बन्धों के प्रसार से गाँवों को बचाना चाहते हैं। जैसे वर्ड्स्वर्थ को सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि छोटी जोत के स्वाधीन किसान उद्योगीकरण से मिटे जा रहे हैं, वैसे ही शुक्लजी को साम्राज्यवाद के अन्तर्गत पूंजीवादी सम्बन्धों के प्रसार से यह भय होता है कि गाँवों में सनातनकाल से चले आते भाईचारे के सम्बन्ध नष्ट हो जायेंगे। यह दृष्टिकोण तोलस्तोय के कथा-साहित्य में है, प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' में है। वर्ड्स्वर्थ और शुक्लजी के लिए जो पवित्र मानव-सम्बन्ध हैं, वे पूंजीवाद से पहले के हैं। पूंजीवाद का प्रतीक है नगर, इसलिए अप-

वित्रता का केन्द्र है नगर। कहा जा सकता है कि शुक्लजी का यह दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी है किन्तु इस 'प्रतिक्रियावाद' के ही कारण वह किसानों की वह व्यथा देख सकते हैं जो नये अर्थतन्त्र के प्रसार से उत्पन्न हुई है। फिर यह भी याद रखना चाहिए कि किसानों की बर्बादी का कारण देशी पूँजीवाद द्वारा की हुई कोई सामंत विरोधी क्रान्ति नहीं है, वरन् देशी पूँजीवाद, विदेशी साम्राज्यवाद और उसके आश्रित सामन्तवाद के दोहरे-तेहरे शोषण से उत्पन्न हुई परिस्थिति है। उल्लेखनीय यह है कि शुक्लजी केवल पश्चिमी विचारधारा की आलोचना नहीं करते वरन् उस आर्थिक व्यवस्था की आलोचना भी करते है जिसका सर्वाधिक विकास पश्चिम में हुआ था।

चढ़ी चली आती देख पच्छिमी सनक सब
हृदय हमारे आज और भी हैं हारते।
जीवन विधायिनी विभूति जीती जागती जो
भूमि के दुलारे निज श्रम से पसारते।
उमे धातु - निगड़ से जकड़ बना के जड़,
पालन - प्रसार की समस्त गति मारते।
सोखते हैं रक्त भरपेट कुछ लोग बैठ
उनका जो तन के पसीने नित्य गारते।

शुक्लजी को विशुद्ध ब्रह्मवादी आलोचक बना देने में कितना सुख है! उनकी साहित्य-सेवा—उसमें भी कविता—का सम्बन्ध वर्ग-शोषण से हो ही क्या सकता है? वर्ग-संघर्ष और वर्ग-शोषण की बातें तो कम्युनिस्ट करते हैं; शुक्लजी का उनमे क्या नाता? किन्तु शुक्लजी कहते हैं कि भूमि के दुलारे अपने परिश्रम से जिस जीवनदायिनी विभूति को सँवारते हैं, उसे पच्छिम से चली आती हुई 'सनक' अपने फौलादी शिकंजे में जकड़ रही है। परिणाम यह होता है कि जो लोग नित्य अपने तन का पसीना गारते हैं, उनका रक्त कुछ लोग बैठे-बैठे—परिश्रमहीन जीवन व्यतीत करते हुए— सोखते हैं। शुक्लजी के लिए गाँव का बढ़ता हुआ वर्ग-शोषण पश्चिम—अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्यवाद—की देन है। यह बात इस दृष्टि से सही है कि पुराने सामन्ती उत्पीडन की तुलना में यह साम्राज्यवादी शोषण कहीं अधिक भयानक और तीव्र था।

आगे कहते हैं :

ऐसे क्रूर कठिन विधान में कहाँ से यह
मगल की आभा की झलक रह पावेगी?
नगरों के धातु खंड-राशि जिस घड़ी सब
ग्रामगत भूमि झनकार से जुतावेगी।
खाके पति पानी, हार अपनी स्वतंत्रता को
जनता वहाँ की मज़दूर बन जावेगी।

लुच्चे औ' लफंगे नई काट के मिलेंगे, फिर
वहाँ भी पुनीतता न मुँह दिखलावेगी।

पूंजीवाद का विधान क्रूर और कठिन है। साहित्य में लोकमंगल की साधना इसके अन्तर्गत कैसे होगी? मंगल की आभा की झलक भी न रह जाएगी। नये ढंग की खेती का चलन होने से किसान ज़मीन के मालिक न रह पाएँगे; वे भी पूंजीपतियों के गुलाम—अपनी श्रमशक्ति बेचनेवाले मज़दूर—बन जाएँगे। पूंजीवादी सभ्यता का अर्थ है—नई काट के लुच्चों और लफंगों की बढ़ती। फिर ग्रामजीवन की पवित्रता अपना मुँह भी न दिखा पायेगी।

वर्ड्स्वर्थ, तोल्स्तोय और शुक्लजी मज़दूरों में समाज को बदलने की क्षमता नहीं देखते। बहुत कम लोगों ने उस समय भारत के मज़दूरों में यह क्षमता देखी थी। वह क्षमता १९२७ से १९७३ तक सामाजिक जीवन में कितना चरितार्थ हुई है? भारत की नरम-गरम कम्युनिस्ट पार्टियों के कितने नेता मज़दूर हैं? किसान के मज़दूर बन जाने का यह अर्थ नहीं होता कि वह अनिवार्य रूप से क्रान्तिकारी भी बन गया। मज़दूर बनने की प्रक्रिया का यही अर्थ होता है कि उसके क्रान्तिकारी बनने की वस्तुगत परिस्थिति तैयार है। शुक्लजी और 'गोदान' के लेखक प्रेमचन्द के सामने जो प्रक्रिया सम्पन्न हो रही थी, वह यह थी कि छोटी सम्पत्ति वाले किसान तबाह होकर बेज़मीन, बेसहारा मुफलिसों की तरह मर रहे थे। भूख और अकाल से ब्रिटिश भारत में जो करोड़ों आदमी मरे, उनमें सबसे ज़्यादा संख्या इन बेज़मीन मुफलिसों की ही थी।

पूंजीवादी अर्थतन्त्र की आलोचना करते हुए शुक्लजी आगे कहते हैं :

जीने हेतु हाथ-पाँव मारना ही जीवन का
एक मात्र रूप हम चारों ओर पावेंगे।
अवसर आयु में से क्रीड़ा के कटेंगे सब;
बालक भी खेलते न देखने में आवेंगे।
सारी वृत्ति अर्थ से बंधेगी इस भाँति, लोग
कहीं आँख-कान तक व्यर्थ न लगावेंगे।
ऐसे इस अर्थ के अनर्थ से विभीत होके
मन के पुनीत भाव सारे भाग जावेंगे।

मनुष्य की सारी शक्ति जीविका के साधन जुटाने में खर्च होगी; साहित्य और कला की साधना के लिए समय किसके पास बचेगा? मनुष्य की सारी वृत्तियाँ—उसका सारा व्यवहार अर्थ की डोर से बँध जायेगा; सुन्दर शब्द सुनना, सुन्दर दृश्य देखना व्यर्थ क्रियाएँ हैं क्योंकि उनसे अर्थ प्राप्ति होने की नहीं। पूंजीवाद के समर्थक समाजवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि मनुष्य का जीवन रोटी तक सीमित नहीं है, आर्थिक आवश्यकताओं से परे उसे अपनी कलात्मक तृषा शान्त करने का अवसर मिलना चाहिए। किन्तु मनुष्य को अर्थोपार्जन की मशीन कौन बनाता है? मशीन न बनने पर उसे कौन चूर-चूर करके एक तरफ फेंक देता है? कला और

साहित्य को व्यापार की वस्तु कौन बनाता है? स्वयं कलाकार को खरीदने और उसे अपना प्रचारक बनाने का काम कौन करता है? ये सारे काम पूंजीवाद के हैं। जो समाजवाद रोटी तक सीमित हो, समझना चाहिए, उस पर अभी पूंजीवादी व्यवस्था का असर बना हुआ है। पर ऐसा समाजवाद कहीं है नहीं; उसका अस्तित्व केवल पूंजीवादी प्रचारकों की पोथियों में है। शुक्लजी का यह सोचना स्वाभाविक है कि अर्थ के अनर्थ से डरकर मन के सारे पुनीत भाव नष्ट हो जायेंगे।

पूंजीवाद की विशेष सांस्कृतिक देन है व्यक्तिवाद। उसके अभ्युदयकाल में इस व्यक्तिवाद का भी सीमित महत्त्व था। उसके ह्रासकाल में यह व्यक्तिवाद अनेक विकृतियों को जन्म देता है। मूल्यहीनता, सामाजिक जीवन की उपेक्षा, साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य का ह्रास, अनुभूति के नाम पर तरह-तरह की अराजकता, बचकाना विद्रोह, यौन विकृतियाँ—'आधुनिकता-बोध' से जुड़ी हुई ये सब विशेषताएँ व्यक्तिवाद के ही विभिन्न रूप हैं। शुक्लजी इस व्यक्तिवाद का विरोध अपने लोकमंगल के सिद्धान्त से करते हैं।

वीणापाणी वाणी लोकमानस विहारिणी है,
लुकी-छिपी किसी-किसी कोने में न रहती।
परख पुरानी यह भारत की भास रही
काल बल खाती काव्यधारा बीच बहती।
पहुँचा उन्माद की दशा को जहाँ व्यक्तिवाद
कविता वहाँ की रूपहानि घोर सहती।
नाचती नटी सी निरी दंभ की सताई हुई
सच्चे भोले भाव कभी भूल के न कहती।

शुक्लजी ने ये बातें छायावाद के सन्दर्भ में कही थी। उस सन्दर्भ मे वे आंशिक रूप से सत्य हैं किन्तु आज की कविता देखते हुए लगता है, व्यक्तिवाद उन्माद की दशा तक अब पहुँचा है, उस उन्माद की दशा से कविता की रूपहानि कितना ज्यादा हुई है, यह अब स्पष्ट हुआ है। भारत की काव्य-परम्परा इस व्यक्तिवाद की विरोधी रही है, यह बात भी सही है।

शुक्लजी अपनी अनेक कविताओं में 'भोले भाव' प्रकट करके सन्तुष्ट हो जाते हैं। भावबोध की जटिलता से वह दूर हैं। भावों की गहराई की जगह भावुकता के दर्शन होते हैं। वस्तुवर्णन के साथ वह अपना मत विशेष अथवा आलोचनात्मक टिप्पणियाँ सुनाते चलते हैं। अक्सर बहस करते हैं पर जहाँ व्यंग्य नहीं होता, वहाँ उनकी बहस फीकी लगती है। अन्योक्तियाँ उन्हें बहुत प्रिय हैं। छायावादियों की वस्तु-केन्द्रित कविता उन्हें न रुची हो तो आश्चर्य नहीं। जैसे राधाकृष्णदास की जीवनी में वह रीतिवादी कविताओं की प्रशंसा करते हैं, वैसे ही अपनी कविताओं में पुरानी परिपाटी के अनुसार बहुत जगह चमत्कार-प्रदर्शन करते हैं।

कभी न कपट कपाट को कठिन कण्ठ के खोलते—यह पुराना अनुप्रास-प्रेम है जो नाथूराम शर्मा शंकर और सनेही की खड़ी बोली में प्रकट हुआ था।

उजली कँकरीली तटी में धँसी
तनुधार लटी बल खाती जहाँ।

केशवदास के पंचवटी-वर्णनवाली सवैया की सानुप्रास पदावली—लटी, दुपटी, पंचवटी—से काफी मिलती-जुलती यह पंक्ति है।

घायल दुर्गावती का वर्णन करते हुए कहते हैं,

श्रवत रुधिर इमि लसत कनक से रुचिर गात पर।
छुटत अनल परवाह मनहुँ कोमल पराग पर।

कोमल पराग पर अनल प्रवाह की कल्पना से चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं।

शुक्लजी की कविताएँ पढ़ने का एक अकाव्यात्मक आनन्द यह है कि उनमें अनेक कवियों की प्रतिध्वनियाँ सुनने को मिलती हैं। कविताएँ क्या हैं, हिन्दी कविता के विकास का अप्रत्यक्ष इतिहास हैं। वे आलोचक रामचन्द्र शुक्ल के विकास का भी इतिहास हैं। रीतिवादी चमत्कार प्रेम के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। 'बाल-विनय' की भाषा और विचार भारतेन्दु के 'खलगनन सों सज्जन दुखी नहिं होंहि' आदि के साँचे में ढले हुए हैं :

विविध विद्या कला सीखैं त्यागि आलस घोर।
दूर दुख दारिद बहावें देश को इक ओर।

'शिशिर पथिक' के अन्त में—

आशा त्यागी बहु दिनन की नेकु ही में पुरावैं—पढ़कर मालूम होता है, युवा रामचन्द्र शुक्ल राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत से अनुवादित कविताओं के प्रेमी थे। पार्वतीय सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं :

तिन सब कर प्रतिबिम्ब भाँति जल माँहि लखाई।
देखन हित निज रूप प्रकृति दर्पन ढिग आई।

मालूम होता है, श्रीधर पाठक कश्मीर का सौन्दर्य वर्णन कर रहे हैं।

अटपट बानी ने जीवन की खटखट से खटकाया।
लोकधर्म के रुचिर रूप पर चटपट पट फैलाया।—

'गोस्वामीजी और हिन्दू जाति' में शंकर और बेताब के नगाड़े की आवाज सुनाई देती है। 'वसन्त पथिक' की भाषा और हरिगीतिका छन्द मैथिलीशरण गुप्त की टकसाल के हैं। अनेक कवित्त-सवैया सनेही-हितैषी परम्परा की याद दिलाते हैं। तब यह कैसे सम्भव है कि छायावादी भावबोध—और उससे सम्बद्ध शब्द-योजना—से रामचन्द्र शुक्ल का कविमानस अछूता रह गया हो ?

किस अतीत-पट से छन-छन कर
रूप अमित स्मृति-मधु बन-बन कर

× ×

किस अतीत के अंचल से ढल
संग राग के स्रोत अनर्गल।

अतीत के ध्यान में डूबे हुए यह प्रसाद, पंत या निराला नहीं हैं, छायावाद के परम

विरोधी आलोचक रामचन्द्र शुक्ल हैं। सारी कविता—'मधुस्रोत'—इसी स्तर पर नहीं लिखी गयी, प्रसाद शैली के साथ मैथिलीशरण स्टाइल घुलमिल गया है :

बालक घर से निकल रहे हैं,
अब भी उन पर उछल रहे हैं।

दो शैलियों के प्रयोग से उन्होंने कोई नाटकीय चमत्कार उत्पन्न नही किया; दो शैलियाँ उनके भावबोध की अनिश्चयात्मक स्थिति की ओर संकेत करती हैं। उठे तरल श्यामल बल गुंफित, अरुण दिगंचल से प्राची के—इस तरह की पदावली भी उसी कविता में है।

शुक्लजी ने गाँवों पर काफी लिखा है। इस लेखन में घटनाओं और वस्तुओं की गिनती ज़्यादा है, समर्थ मूर्तिविधान और भावगरिमा कम। जिस प्रकृति की वह प्रशंसा करते हैं, उसमें रूप-रस-गन्ध की सघनता का अभाव-सा है। किन्तु एक जगह पढ़ते-पढ़ते आदमी ठिठक जाता है :

लीन अभी श्यामता में पेड़ हो न पाए थे कि
जहाँ तहाँ गए स्वर्ण-आभा से झलक छोर,
टेढ़ी मेढ़ी धूम्र कृष्ण शैल शीर्ष रेखा पर
देख पड़ी झाँकती सी उठी चन्द्रबिम्ब कोर।

यहाँ शुक्लजी प्रकृति-सौन्दर्य पर विचार नहीं कर रहे, न एक खेत से दूसरे तक पहुँचने की डायरी लिख रहे है। साँझ हुई है; पेड़ अभी अँधेरे में डूबे नहीं हैं कि पहाड़ी पर चन्द्रमा निकल आया। अँधेरे में डूबते-से पेड़ अचानक नये सुनहले रंग में रँग गये। कुछ क्षणों तक ही दिखायी देनेवाला हल्के प्रकाश और गाढ़े अँधेरे के मिश्रण का यह दृश्य शुक्लजी के कविमन को छू गया और छन्द के पारम्परिक होते हुए भी उसे वे सफलतापूर्वक अंकित कर गये। यहाँ नये ढंग का लोकदर्शन है जो भक्त कवियों के पास नहीं था। पहले कालिदास-भवभूति के पास था, नये युग में रवीन्द्रनाथ और हिन्दी के छायावादी कवियों ने उसे पुनः प्राप्त किया।

एक जगह खेतों का वर्णन करते हुए कल्पना करते कि पर्वत की रहस्यमयी चोटियों के पास ही कही देवलोक होगा जहाँ अप्सराएँ नाच रही होंगी। शुक्लजी अपने बुद्धिवादी मन को ठोंक-पीटकर छायावादी कल्पना के सोपान पर चढ़ा रहे हैं। उनका मन अनदेखी अप्सराओं के सौन्दर्य पर रीझनेवाला मन नहीं है। किन्तु इससे पहले प्रत्यक्ष दृश्य का जैसा वर्णन उन्होने किया है, वैसा छायावादोत्तर काल की नयी यथार्थपरक रचनाओं में ही ज़्यादा देखने को मिलता है।

भूरी, हरी घास आसपास, फूली सरसों है,
पीली-पीली बिंदियों का चारों ओर है पसार।
कुछ दूर विरल, सघन फिर, और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत-पारावार।
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि-रेखा घनी
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेरघार।

जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमंडल से
धुंधली-सी नीली नगमाला उठी धुआँधार।

वर्णन की सरलता, फिर भी दृश्य की विपुलता और वर्णों की विविधता का आभास;—भावात्मक प्रतिक्रिया को बहुत स्पष्ट किये बिना भी शुक्लजी केवल दृश्य वस्तुओं के वर्णन को उदात्त स्तर के निकट तक उठा ले गये हैं। उनकी विचारधारा यदि प्रसाद के चिन्तन को स्पर्श करती है तो उनका भावबोध, कुछ क्षणों में, कभी-कभी निराला के कविमानस की झलक भी दिखा जाता है।

यदि इसी स्तर की अनेक कविताएँ शुक्लजी लिखते पर हिन्दी साहित्य का इतिहास न लिखते, विश्व-प्रपंच की भूमिका, अपने अनेक आलोचनात्मक निबन्ध न लिखते तो हिन्दी भाषा को वह जो कुछ सबसे अच्छा दे सकते थे, न दे पाते। मन का आलस त्यागकर, चित्तवृत्तियों को सँभालकर, अनेक कवियों के प्रभाव एक तरफ ठेलकर वह अपने कविरूप को सँवार और निखार सकते थे। किन्तु उनकी-सी कविता—उससे अच्छी कविता—लिखनेवाले अनेक कवि थे, आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने जो काम किया, उसे वही कर सकते थे। जो लोग चिन्तन और विश्लेषण का मूल्य नही समझते, वही कह सकते हैं कि शुक्लजी गद्य छोड़कर थोड़ा पद्य और लिखते तो ज्यादा अच्छा था।

यदि कोई कहे, जैसा गद्य वैसा पद्य; शुक्लजी को कविरूप में तो सफलता मिली ही नहीं, आलोचना मे भी सफलता मिली—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। ऐसी बातों पर भी आश्चर्य न होना चाहिए। शुक्लजी को असफल आलोचक सिद्ध करने का प्रयास बहुत दिनों से चल रहा है, किन्तु अभी तक तो उस प्रयास में सफलता मिली नहीं।

प्रथम महायुद्ध के बाद भारत मे देशभक्ति की प्रेरणा नये स्तरों पर विकसित हुई। साहित्य में वह अनेक रूपों में प्रतिफलित हुई। जहाँ आलोचना में वह सबसे अधिक प्रतिफलित हुई है, वह मुकाम रामचन्द्र शुक्ल का है। भारतेन्दु-युग के सीमान्त से आरम्भ करके छायावाद की परिसमाप्ति तक की अवधि में उनका कृतित्व फैला हुआ है। उनकी आलोचना का मुख्य अंश प्रथम महायुद्ध के बाद का है। आलोचक रामचन्द्र शुक्ल का विकास किन मंज़िलों को पार करते हुए हुआ, यह उनकी कविताओं और राधाकृष्णदास की जीवनी से समझ में आता है।

भारतेन्दु से लेकर निराला तक हिन्दी साहित्य परम्परा से रामचन्द्र शुक्ल बहुत मजबूती से जुड़े हुए है। यह परम्परा गतिरुद्ध साहित्यिक रूढ़ि नही है। वह निरन्तर विकासमान, रूढ़ियों की कड़ियाँ तोड़नेवाली, नये अनुभव सँजोनेवाली, अभिव्यंजना और विश्लेषण की नई राहें निकालनेवाली जीवन्त परम्परा है। इस परम्परा से शुक्लजी का सम्बन्ध समझना आवश्यक है। राधाकृष्णदास की जीवनी और शुक्लजी की कविताएँ इस कार्य को सम्पन्न करने में सहायक होती हैं।

०००

राजकमल से प्रकाशित

डॉ. रामविलास शर्मा की अन्य कृतियाँ

निराला की साहित्य साधना-1 (जीवन चरित)
निराला की साहित्य साधना-2 (कला तथा विचारधारा का विवेचन)
निराला की साहित्य साधना-3 (पत्र-संग्रह)
भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी-1 (आर्यभाषा केंद्र और हिंदी जनपद)
भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी-2 (इंडोयूरोपियन परिवार की भारतीय पृष्ठभूमि)
भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी-3 (नाग-द्रविड़-कोल और हिंदी प्रदेश)
महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण
आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना
भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ
भारतेंदु-युग और हिंदी भाषा की विकास-परंपरा
प्रेमचंद और उनका युग
नई कविता और अस्तित्ववाद
भाषा और समाज
भारत की भाषा समस्या
परंपरा का मूल्यांकन
भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद (दो खंड)
मार्क्स और पिछड़े हुए समाज
घर की बात

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना